भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

श्री ब्रजरत्नदास

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

तृतीय संस्करण : २१००, १९६२ ईसवी

मूल्य ७.०० रुपये

प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मुद्रक—यूनिवर्सल प्रेस, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्विवेदी युग के पूर्व के हिन्दी के सर्वप्रमुख और सर्वश्रेष्ठ निर्माता हैं। हिन्दी भाषा और काव्य दोनों पर समान रूप से अधिकार रखते हुए उन्होंने अपने समय में हिन्दी को नयी दिशा की ओर ले चलने का जैसा प्रयास किया, वैसा उनसे पूर्व या उनके काल में अन्य किसी से नहीं बन पड़ा। ग्रिअर्सन के शब्दों में "वर्तमान काल के भारतीय कवियों में यह सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। देशीय साहित्य के प्रचार में इन्होंने जो प्रयास किया है उससे बढ़कर किसी भी जीवित भारतीय ने नहीं किया है।" इस कारण आज हिन्दी सेवी उनके ऋणी हैं और भविष्य में भी रहेंगे। उन्होंने हिन्दी का जो स्वरूप निर्धारित किया वह आज भी मान्य है। हिन्दी को फारसी और अरबी के शब्दों से भरने की राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' की नीति का उन्होंने डटकर विरोध किया। राजा साहब को वह अपना गुरु मानते थे किन्तु हिन्दी के स्वरूप के विषय में वह अपने मत पर ही सदा दृढ बने रहे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मध्य और आधुनिक युगों के बीच की कड़ी बन गये हैं और उनका साहित्य एक साथ मध्ययुगीन और आधुनिक है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनके जीवन की इतिवृत्त का बाबू ब्रजरत्नदास ने बहुत ही श्रमपूर्वक अध्ययन प्रस्तुत किया है और उसको विस्तार से अङ्कित किया है। साथ-साथ उनके साहित्यिक कृतित्व का भी बड़ी योग्यता से विवेचन किया है। इन दोनों के वह अधिकारी हैं। सुयोग्य साहित्य सेवी होने के नाते तथा चरित् नायक के कुटुम्बी के निकटवर्ती होने के नाते उनकी कृतित्व की प्रामाणिकता निःसंदिग्ध है। स्वभावतः इस ग्रन्थ के तीसरे संस्करण को अपने पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें विशेष हर्ष और कृतार्थता का अनुभव हो रहा है। हमें विश्वास है कि पूर्व संस्करणों की अपेक्षा इसका आज अधिक स्वागत होगा क्योंकि हिन्दी का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि हिन्दी के मूल निर्माताओं की इच्छा, कामना और मार्ग-निर्देशन का हम आदर कर पाते हैं या नहीं।

अगस्त, १९६२
इलाहाबाद

विद्या भास्कर
मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष

तृतीय आवृत्ति के सम्बन्ध में दो शब्द

बड़े सौभाग्य का अवसर है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के जीवन-चरित्र की, जो आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता तथा वर्तमान युग के प्रवर्तक कहे जाते हैं, तीसरी आवृत्ति के प्रकाशित होने का सत्ताइस वर्ष के अनन्तर समय आ गया। वह भी ऐसी स्थिति में जब इसके पहले की लिखी हुई बा० राधाकृष्णदास तथा बा० शिवनन्दन सहाय कृत जीवनियाँ प्रायः बराबर अप्राप्त रहीं। हिन्दी की उच्च कक्षाओं में स्थान मिल जाने से भारतेन्दु जी तथा उनके साहित्य के अनुशीलन तथा अध्ययन का विशेष प्रचार भी इधर हो गया है। जो कुछ हो, यह हिन्दी भाषियों के हिन्दी के प्रति उत्कट प्रेम का नमूना अवश्य ही कहा जा सकता है। इस तृतीय आवृत्ति में परिवर्द्धन साधारण ही है पर संशोधन काफ़ी करना पड़ा है, क्योंकि इस लम्बे काल में इसमें उल्लिखित कितने सज्जन दिवंगत हो गये और उनके सम्बन्ध में संशोधन आवश्यक हो गया था। नहुष नाटक पहले अधूरा मिलता था पर इस बीच वह पूरा मिल गया था, प्रकाशित भी हो गया। कुछ आवश्यक पाद-टिप्पणियाँ भी इसमें दे दी गई हैं। प्रूफ आदि की भी बहुत-सी अशुद्धियाँ थीं। इस प्रकार इस आवृत्ति में यथाशक्ति पूरा संशोधन कर दिया गया है।

विनीत

सं० २०१६ ब्रजरत्नदास

विषय-सूची

प्रस्तावना

आचार्यवर दंडी ने बहुत ठीक कहा है कि—

> आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।
> तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ॥

वाणी रूपी दर्पण में पूर्वनरेशों के यश रूपी प्रतिबिंब के प्राप्त रहने पर उनके न रहने पर भी वे नष्ट नहीं होते । अर्थात् कवियों तथा लेखकों द्वारा निबद्ध पहले के महाराजाओं के कीर्ति स्वरूप जीवनचरित्रों के रहते हुए उन राजाओं के नष्ट हो जाने पर भी वे जीवित से बने रहते हैं । उनके विचार, उनकी कृतियाँ सदा बनी रहती हैं और वर्तमान तथा भविष्य के मनुष्यों के लिये आदर्श होती हैं । मनुष्य की कृतियों में, यदि देखा जाय, तो अमरत्व की मात्रा सबसे अधिक पुस्तकों ही को प्राप्त है । महाकवियों तथा सद्ग्रन्थकारों की रचनाएँ ही अमर पद को प्राप्त हो सकती हैं । विशाल स्मारक भवन, दृढ़तम मन्दिर, चित्र आदि सभी नष्ट हो जाते हैं पर ये अमर ग्रन्थ रह जाते हैं । आज से दो चार सहस्र वर्ष पहिले लोगों के क्या विचार थे, वे क्या सोचते-समझते थे, उन सब का पता इन ग्रन्थों से लग जाता है, पर उस समय की अन्य मानवी कृतियाँ कभी-कभी टूटी-फूटी अवस्था में अन्वेषकों द्वारा खोज निकाली जाती हैं । पुस्तकों में एक विशेषता यह भी है कि उनसे हम मनुष्य के वाह्य स्वरूप के साथ-साथ उनके हृदयस्थ भावों तथा विचारों को भी जान सकते हैं और उनके पठन से वे सजीव के समान कष्ट में सहानुभूति दिखलाते हुए तथा आनन्द में सहयोग देते हुए पाए जाते हैं । साथ ही ये ग्रंथ सब को समान रूप से प्राप्य हैं, और वे उनसे लाभ उठा सकते हैं । संसार मे वे ही अमर हैं जिन्होंने सत्काव्य रचे हैं या जिन लोगों ने सत्कवियों को आश्रय दिया है । इस समय जिन प्राचीन लोगों के नाम मनुष्य के जिह्वाग्र पर रहा करते हैं, उन दानवीरों, अवतारों, महात्माओं आदि का पता सद्ग्रंथों ही से हम लोगों को चल रहा है । किसी कवि ने ठीक कहा है कि—

> वल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजो,
> व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमांको नृपः ।
> भोजश्चित्तपविल्हणप्रभृतिभिः कर्णोऽपि विद्यापतेः,
> ख्यातिर्यान्ति नरेश्वराः कविवरैः स्फारैर्न भेरीरवैः ॥

मनुष्य स्वभावतः समाजप्रिय है और यही कारण है कि वह सर्वदा मनुष्य ही के विषय में विचार-रत रहता है। किसी भाषा के समग्र साहित्य को देखिए, सभी में मनुष्य तथा उसकी कृति और विचार भरे हैं। इसलिए सुलिखित जीवन-चरित्र के पढ़ने में, देखा जाता है कि मनुष्य को सबसे अधिक आनंद मिलता है। कहानियों तथा उपन्यासों में मनगढंत कल्पित चरित्र-चित्रण होने से उनसे अधिक मनोरंजन होता है, और नाटकों में भी इसी कारण अधिक तमाशाई इकट्ठे होते हैं। इतिहास भी सैकड़ों मनुष्यों की जीवनियों का संग्रह मात्र है। बड़े-बड़े सत्काव्य आदर्श नायकों के चरित्र ही चित्रित करते हैं, जिन्हें लोग बड़े प्रेम से सुनते हैं।

आदर्श वीरों, महात्माओं, महाकवियों आदि के सच्चे जीवन-चरित्र से जो अलभ्य लाभ हम उठा सकते हैं, वह अवास्तविक कल्पना-प्रसूत कथानकों से कभी नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि एक सत्य है और दूसरा असत्य। उन महान् पुरुषों के दुःख-सुख के अनुभवों को, कठिन समय के कार्यों को तथा विचारों को हम अपना आदर्श बना सकते हैं। जीवनचरित्र कभी पुराने नहीं हो सकते। सत्ययुग के श्री हरिश्चन्द्र और त्रेता के श्री रामचन्द्र के चरित्र आज तक सब के लिये अनुकरणीय हैं। जीवनचरित्र यह भी उपदेश देता है कि मनुष्य क्या हो सकता है और क्या कर सकता है। एक महान् व्यक्ति की जीवनी पाठकों के हृदय में उत्साह, आशा, शक्ति और साहस भर देती है और उन्हें उस आदर्श तक उठने को प्रोत्साहित करती है। इन कारणों से जीवनचरित्र साहित्य का एक विशिष्ट अंग है पर हिन्दी में ऐसे जीवन-चरित्रों की बहुत कमी है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वोत्तम नौ कवि चुने गए हैं, जिनमें आठ सरस्वती के वरपुत्र ब्राह्मण हैं और एक इन्हीं भारतेन्दु जी ने उस 'रिजर्वड् क्षेत्र' में जाकर 'मदाखलत बेजा' किया है। इन भारतेन्दु जी की सबसे पहली जीवनी उनके देहांत पर उनके परम मित्र पं० रामशंकर व्यास जी ने चंद्रास्त के नाम से प्रकाशित की थी। इन्होंने बड़ी जीवनी लिखने का भी विचार प्रकट किया था और सन् १८९४ ई० के पत्रों में सूचना निकाली भी थी कि जिनके पास भारतेन्दु जी की जीवनी के लिये उपयुक्त सामग्री हो वे उसे उनके पास भेजें या पत्रों में प्रकाशित कर दें, पर चन्द्रास्त के बाद वे कुछ न लिख सके। भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई स्व० बा० राधाकृष्णदास जी ने सं० १९०० में निकलनेवाली सरस्वती के प्रथम भाग में भारतेन्दु जी की एक संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित की थी, जिसे उन्होंने चार वर्ष बाद संशोधित और परिवर्द्धित करके पुस्तकाकार छपवाया था।

इस सौ पृष्ठ की पुस्तक ऐसे नररत्न की जीवनी कहलाने के लिए अपर्याप्त थी और इस पर भी पहले प्रवासी नामक पत्र में और फिर उसी की देखा-देखी समालोचक नामक पत्र में उसी समय कटाक्ष किया गया था कि सगे-सम्बन्धियों को अपने लोगों का जीवन-चरित्र लिखना न चाहिए। प्रवासी की आलोचना कुछ अधिक कठोर थी। भारतेन्दु जी की मृत्यु के बीस वर्ष बाद किसी अन्य को कलम न उठाते देख यदि बा० राधाकृष्णदास जी ने एक छोटी-सी जीवनी लिख डाली तो उस पर भी आक्षेप पुरस्कार में मिला। सत्य ही गैरों से कोई मतलब नहीं, अपने भी न लिखें, चलो बस छुट्टी हुई। किसी शायर ने ठीक कहा है—

तुम्हें गैरों से कब फ़ुरसत हम अपने गम से कब खाली।
चलो बस हो चुका मिलना न तुम खाली न मैं खाली॥

खड्गविलास प्रेस के स्वामी बा० रामदीन सिंह जी भी भारतेन्दुजी की वृहद् जीवनी पं० रामशंकर व्यास जी से लिखवाने के प्रयत्न में थे और उसके लिए साधन एकत्र करते रहते थे। इनके स्वर्गवास होने पर तथा व्यास जी के जीवनी लिखना अस्वीकार करने पर इनके पुत्र रामरणविजय सिंह के आग्रह से बा० शिवनन्दन सहाय जी ने इसे लिखना स्वीकार किया और यह पुस्तक पहली बार सन् १९०५ ई० में प्रकाशित हुई। इसके अनंतर भारतेन्दु जी की रचनाओं पर यद्यपि छोटे-छोटे लेख निकलते रहे पर पुनः किसी ने उनकी जीवनी लिखने का प्रयास नहीं किया। इनमें राय बहादुर बा० श्यामसुन्दरदास जी लिखित भारतेन्दु जी की जीवनी जो इनके द्वारा सम्पादित भारतेन्दु नाटकावली की भूमिका में दी गई है, अवश्य उल्लेखनीय है। दस-बारह वर्ष होते आए कि मैंने इन दोनों जीवनियों को पढ़ा था और उसी समय से एक जीवनी लिखने का मुझे भी उत्साह हुआ पर उन दोनों पुस्तकों के उपक्रमों के पढ़ने से उत्साह अवश्य मंद पड़ गया था। हाँ, सामग्री जो कुछ उपलब्ध हो जाती थी उसे एकत्र करता जाता था। सं० १९८३ वि० में जब मैंने बा० गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदासजी रचित जरासंध बध महाकाव्य का सम्पादन किया और उसकी भूमिका के लिए कवि-परिचय तैयार करने लगा तब 'विचार था कि इस ग्रंथ की भूमिका में बा० गोपालचन्द्र तथा उनके पूर्वजों की विस्तृत जीवनी दी जाय पर नई-नई बातों का पता लगते रहने और इस ग्रंथ की भूमिका के बढ़ जाने के डर से वैसा नहीं किया गया।' इस प्रकार साधन एकत्र होते रहने पर भारतेन्दु जी की जीवनी लिखने का विचार दृढ़ होता गया। साथ ही वह भाव कि अपने ही मातामह की जीवनी लिखने से मुझ पर,

स्यात् बा० राधाकृष्णदास जी से भी अधिक, आत्मश्लाघा का दोष लगाया जायगा, शिथिल होता गया और इस प्रकार यह जीवनी क्रमशः तैयार होने लगी। प्रायः तीन वर्ष से अधिक हुआ कि यू० पी० सरकार द्वारा संस्थापित 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' के मन्त्री महोदय का एक पत्र मिला कि मैं भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित्र लिखकर उस संस्था को प्रकाशित करने के लिए दूँ। इस पत्र के प्राप्त होने पर यह जीवनी कुछ शीघ्रता से लिखी जाने लगी, जो अब पूर्ण हो गई।

ऐसे जीवनचरित्रों की भूमिका में प्रायः लेखकगण दिखलाते हैं कि उन्होंने लेखनी उठाने के लिए अपने नायक को किन-किन कारणों से चुना है। इन कारणों को बतलाने में वे उन नायकों के औदार्य, शील, सौजन्य, वीरता, कर्म, कार्यशक्ति, कवित्व आदि की प्रशंसा कर दिखलाते हैं कि उनकी जीवनी से देश को बहुत कुछ लाभ पहुँच सकता है। मैं ऐसा करना उचित नहीं समझता और इसलिए इस विषय पर कुछ भी नहीं लिखता। भारतेन्दु जी का नाम ही यदि इसके लिये पर्याप्त न समझा जाय तो पृष्ठों गुण-वर्णन भी काफी नहीं हो सकता। यहाँ शृङ्गारसप्तशती के रचयिता पं० परमानन्द जी का केवल एक श्लोक उद्धृत कर देना पर्याप्त है।

हरिश्चन्द्रस्याऽभूद्बिबुधरघुनाथश्चिरसुहृद्,
हरिश्चन्द्रस्येव प्रकटित सुधः पूर्ति सुखकृत्।
महीयस्योन्मीलत्कुवलयकराकारविभया
महीयस्या जज्ञे शरदिवसुकीर्त्या शशिसखी॥

इस कार्य में मुझे बहुत सज्जनों से सहायता मिली है और उन लोगों का मैं हृदय से अनुगृहीत हूँ। बा० राधाकृष्णदास जी के पितृव्य बा० पुरुषोत्तमदास जी, रायकृष्णदास जी, बा० जयशंकर प्रसाद जी, बा० गोकुलदास जी जयपुरी, बा० जगन्नाथदास जी, बी० ए०,'रत्नाकर', पं० गणेशदत्त त्रिपाठी आदि सज्जनों ने भारतेन्दु जी के विषय में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें बतलाई हैं। भारतेन्दु जी का पुस्तकालय बिलकुल अस्त-व्यस्त था और वहाँ कुछ दिन बराबर जाकर उन सब को ठीक कर अपने लिए उपयोगी पुस्तकों का छाँटना तथा फिर उन्हें वहीं पढ़ कर अपने मतलब की बातों को नोट करना सम्भव नहीं था, इसलिए उनसे विशेष लाभ नहीं उठा सका। कवि-वचन-सुधा आदि की फाइलें भी कटी-फटी अपूर्ण हैं। पहले कभी-कभी एक या दो पुस्तकें छाँट कर घर ले आता था और उनसे

नोट लेकर पुनः लौटा देता था। एक बार रफ कागज पर लिखे गये बा० गोपालचन्द्र जी के साठ-पैंसठ पद मिले जिनकी मैंने एक नई कापी तैयार करा ली। इस कार्य में कुछ देर होने पर मेरे ममेरे भाइयों में से एक साहब ने उसके लिए तकाजा किया और स्पष्ट कह देने पर उन्हें कुछ ऐसा करना नागवार मालूम हुआ। सेवक कवि का पद्यमय मुद्राराक्षस उक्त पुस्तकालय में मिल चुका था और उसे भारतेन्दु जी के मुद्राराक्षस से मिलान करने के लिए मैंने मँगवाया। इस पर सूचना मिली कि हस्तलिखित प्रतियों के घर के बाहर जाने का नियम नहीं है इसलिये यहीं आकर देख सकते हैं। सत्य ही 'घर फूँकने वाले' के दौहित्र को इससे अधिक आशा रखनी ही नहीं चाहिए थी। हाँ, जो कुछ सहायता इसके पहले मिल चुकी थी, क्योंकि इसके बाद कभी मैंने एक चिट के लिए भी नहीं लिखा है, उसके लिए मैं उनकी सज्जनता का सर्वदा आभारी रहूँगा।

इसके अनंतर ईश्वर की कृपा से बहुत से कागजात, पत्र-पत्रिकाएँ आदि आप से आप मिलती गईं, जिनसे इस जीवनी के लिखने में बहुत सहायता मिली। कुछ कागजात की नकलें कचहरी से ली गईं। दैवात् किस प्रकार सहायता पहुँचती रहती है, उसका एक उदाहरण यह है कि एक बार एक ब्राह्मण देवता अपने मकान का कागज कुछ सम्मति लेने के लिए मेरे पास लाए, जिससे माधवी के विषय में बहुत कुछ ज्ञात हो गया और इसका उल्लेख पुस्तक में हो भी चुका है।

सबसे अधिक मैं इस कार्य में अपने मित्र पं० केदारनाथ पाठक का आभारी हूँ, जिन्होंने कई प्रकार से मेरी सहायता की है। बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएँ, जिनमें कुछ भी सामग्री मिल सकती थी, इन्होंने एकत्र की और किस पुस्तक में कौन उपयोगी अंश प्राप्त हो सकता है, उसकी सूचना बराबर देते रहे। कितनी पुस्तकें इधर-उधर से माँग लाए जिनसे कुछ भी नई बातों का पता लग सकता था। तात्पर्य यह कि इस ग्रन्थ के लिए सामग्री जुटाने में उन्होंने जो परिश्रम उठाया है, उसके लिए यह हमारे ही नहीं प्रत्युत् इसके प्रत्येक पाठक के धन्यवाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ में भारतेन्दु जी के कई चित्र दिए गए हैं। उनके लिए बा० राधाकृष्णदास जी, बी० ए० को धन्यवाद देना चाहिये, जिन्होंने अपने चित्र-संग्रह में से इनके फोटो लेने की आज्ञा सहर्ष दे दी थी।

सबके अन्त में प्रांतीय सरकार तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी को धन्यवाद देना उचित है जिनके कारण यह ग्रन्थ इतने मनोरंजक रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

दीपमालिका }
१९९१ }

—व्रजरत्नदास

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

१. पूर्वज-गण

हिन्दी के सुप्रसिद्ध महाकवि बा० गोपालचन्द्र उपनाम गिरधरदास के पुत्र, आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता, हिन्दी-प्रेमियों के प्रेमाराध्य तथा पं० प्रतापनारायण जी मिश्र के कथनानुसार 'प्रातः स्मरणीय' गोलोकवासी भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र जी ने निज उत्तरार्द्ध भक्तमाल में अपने वंश का परिचय निम्नलिखित दोहों में दिया है—

वैश्य—अग्र कुल में प्रकट, बालकृष्ण कुलपाल।
ता सुत गिरिधर-चरन-रत, वर गिरधारी लाल।।
अमींचन्द तिनके तनय, फतेचन्द ता नन्द।
हरषचंद जिनके भए, निज कुल-सागर-चन्द।।
श्री गिरधर गुरु सेइ के, घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब, हरि-पद भक्ति दृढ़ाइ।।
तिनके सुत गोपाल ससि, प्रगटित गिरिधर दास।
कठिन करमगति मेटि जिन, कीनी भक्ति प्रकास।।
मेटि देव देवी सकल, छोड़ि कठिन कुल रीति।
थाप्यो गृह में प्रेम जिन, प्रगटि कृष्ण-पद प्रीति।।
पारवती की कोख सों, तिनसों प्रगट अमंद।
गोकुलचंद्राग्रज भयो, भक्त-दास हरिचंद।।

पूर्वोक्त उद्धरण से यह ज्ञात हो जाता है कि इनके पूर्वजों में राय बालकृष्ण तक का ही ठीक-ठीक पता चलता है। सेठ बालकृष्ण के पूर्वजों का दिल्ली के मुग़ल सम्राट्-वंश से विशेष सम्बन्ध था, पर उस शाही घराने के इतिहासों में इस वंश का कोई उल्लेख मुझे अभी तक नहीं मिला है। जिस समय शाहजहाँ का द्वितीय पुत्र सुलतान शुजाअ बंगाल का सूबेदार नियुक्त होकर बंगाल प्रान्त की राजधानी राजमहल आया, उस समय इनका वंश भी उसी के साथ बंगाल चला आया। जब बंगाल के नवाबों की राजधानी राजमहल से उठकर मुर्शिदाबाद चली गई तब यह

वंश भी मुर्शिदाबाद में आ बसा। इन दोनों स्थानों में इनके पूर्वजों के विशाल महलों के खँडहर अब तक वर्तमान हैं।

मुर्शिदाबाद में इस वंश की कई पीढ़ियों ने बड़े सुख से दिन व्यतीत किए थे। सेठ बालकृष्ण के पौत्र तथा गिरधारी लाल के पुत्र सेठ अमीनचंद[1] के समय में बंगाल में अंग्रेजों का प्रभुत्व फैल चला था और इन्होंने इन नवागंतुक व्यापारियों की सहायता कर बंगाल की नवाबी को नष्ट करने में योग भी दिया था। उसी के फलस्वरूप इनकी वह दशा हुई थी जिसका वर्णन आगे किया जायगा। उस समय इनका मान भी विशेष था, जिससे इनके तीन पुत्रों को राजा और एक को रायबहादुर की पदवी प्राप्त हुई थी। सेठ अमीनचंद इतिहास-प्रसिद्ध पुरुष हो गए हैं पर इनके पिता तथा दादा का कुछ भी वृत्तान्त नहीं मिलता, इसलिए उन्हीं का परिचय पहले दिया जाता है।

मुगल-साम्राज्य का अवनति-काल औरंगजेब की मृत्यु से आरंभ होता है और इसी काल में इस जर्जरित साम्राज्य की सीमा पर के प्रान्तों के अध्यक्षगण धीरे-

---

[1]अंग्रेजी इतिहासों में ओमींचंद तथा हन्टर के इतिहास में उमाचरण नाम दिया गया है। फारसी के इतिहासों में अमीनचंद नाम पाया जाता है। कहीं-कहीं पुराने ग्रंथों में अमीरचंद नाम भी मिलता है। पर उस घराने के पुराने कागजात में अमीनचंद ही लिखा है। इनके पुत्र बाबू फतहचंद ने काशी आकर चौखंभे वाला मकान क्रय किया था, जिसके बैनामे में जो ३ शाबान १२०३ हि० (सन् १७८६ ई०) को लिखा गया था, फतहचंद वल्द अमीनचंद बिन गिरधारी लाल लिखा हुआ है। एक दूसरे कागज में फारसी अंश में अमीनचंद और उसी की हिन्दी प्रतिलिपि में, जो दोनों एक ही कागज पर हैं, अमींचंद लिखा है। अमीनचंद के दो पुत्रों का नाम फतेचंद और हुकुमचंद है, जिससे यह स्पष्ट है कि नाम में फारसी शब्दों का प्रयोग उस समय होने लगा था। ज्ञात होता है कि नवाब के दरबार से अधिक सम्बन्ध होने के कारण फारसी शब्द 'अमीन' जो सेठों के लिए बहुत उपयुक्त है, नाम में लाया गया है और उच्चारण अमीं सा करने तथा लिखते-लिखते चन्द्रबिंदु के लुप्त हो जाने से अमीचंद रह गया। फारसी में चन्द्रबिंदु के न होने से पूरे वर्ण 'नूँ' का प्रयोग होता है। निखिलनाथ राय की 'मुर्शिदाबाद काहिनी,' पुस्तक के ६७ पृ० पर भी अमीनचंद ही दिया है।

धीरे स्वतंत्र होने लगे थे । औरंगजेब के पौत्र अजीमुश्शान तथा प्रपौत्र फर्रुखसियर की सूबेदारी के समय मुर्शिद कुली खाँ बंगाल का दीवान था, जो फर्रुखसियर के सम्राट् होने पर बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा का सूबेदार नियुक्त किया गया था । इसकी मृत्यु पर इसका दामाद शुजाउल्मुल्क तथा उसके अनंतर उसका पुत्र सर्फराज खाँ क्रमशः प्रांताध्यक्ष (सूबेदार) नियत हुए । सन् १७४० ई० में अलीवर्दी खाँ ने सर्फराज खाँ को युद्ध में मार कर बंगाल पर अधिकार कर लिया । इस प्रकार देखा जाता है कि ये लोग नाम-मात्र को मुगल-सम्राट के अधीनस्थ कहलाते थे पर वास्तव में स्वतंत्र थे । अलीवर्दी खाँ के पुत्र न थे पर तीन कन्यायें थीं जो इसके बड़े भाई हाजी मुहम्मद के तीन पुत्रों को ब्याही थीं । इन सभी कन्यायों को संतानें थी पर इनमें सबसे छोटी पुत्री को जैनुलआबदीन से जो एक पुत्र था, उस पर अलीवर्दी खाँ की अत्यधिक ममता थी । सन् १७५६ ई० में यही बालक सिराजुद्दौलाकी पदवी से बंगाल का नवाब हुआ ।

सेठ अमीनचंद

सन् १६४४ ई० में मुगल सम्राट् शाहजहाँ की बड़ी पुत्री जहाँआरा बेगम के सुवासित वस्त्रों में किसी प्रकार आग लग गई और बुझाए जाने तक में वह अत्यंत जल गई । देशी हकीमों से विशेष लाभ न होने पर सूरत से गेब्रील बाउटन नामक एक डाक्टर बुलाया गया, जिसने शीघ्र ही उसे आरोग्य कर दिया । पुरस्कार पूछने पर उस निस्वार्थं देश-प्रेमी ने यही माँगा कि उसके देशवालों को बंगाल में बिना कर दिए व्यापार करने तथा कोठी बनाने की आज्ञा दी जाय । अपने इच्छानुकूल फर्मान लेकर वह राजमहल पहुँचा जहाँ बंगाल के प्रांताध्यक्ष और शाहजहाँ के द्वितीय पुत्र सुलतान शुजाअ का दरबार लगता था । यहाँ भी इसने शुजाअ के जनाना महल के एक असाध्य रोगी को अच्छा कर दिया, जिससे शाहजादा भी बहुत प्रसन्न हुआ और उसकी रक्षा में हुगली में कोठियाँ खुल गईं । इसकी शाखाएँ भी पटना, कासिमबाजार, ढाका और बालासोर में स्थापित हो गईं । सन् १६८६ ई० तक इन लोगों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ा पर उसी वर्ष बंगाल के नए प्रांताध्यक्ष नवाब शायस्ता खाँ के क्रोध में पड़ कर जॉब चार्नोक को अपने साथियों के साथ मंदराज चला जाना पड़ा । इसके दूसरे ही वर्ष अंग्रेज वणिक फिर बुलाए गए, जिन्होंने कलकत्ते के उत्तर सूतालूटी में कोठी स्थापित की। सन् १६६५ ई० में वर्धमान के एक जमींदार शोभासिंह के बलवा करने पर इनको अपनी रक्षा के लिए दीवाल बनाने की आज्ञा मिल गई । सोलह सहस्र रुपये भेंट देकर नए प्रांताध्यक्ष अजीमुश्शान से सूतालूटी, गोविंदपुर और कलकत्ता नामक

तीन ग्राम क्रय कर लिए गए और फोर्ट विलिअम के कलकत्ता ग्राम में पड़ने से उस कुल स्थान का नाम कलकत्ता पड़ गया। सन् १७१३ ई० में विलिअम हैमिल्टन नामक डाक्टर ने फर्रुखसियर के मृगी रोग को अच्छा कर दिया, जिस पर उसने प्रसन्न हो डाक्टर के माँगने पर कलकत्ते के पास के अड़तीस ग्राम अंग्रेजों को दे दिए और देश के भीतर व्यापार करने तथा टकसाल बनाने का भी अधिकार दे दिया।

इस प्रकार देखा जाता है कि कलकत्ता नगर की उन्नति का आरंभ अठारहवीं शताब्दि के साथ-साथ हुआ। सेठ अमीनचंद, जो अत्यंत व्यापार-कुशल थे, नए अंग्रेज-वणिकों के साथ व्यापार करने में अधिक लाभ की संभावना देखकर कलकत्ते आ बसे। इनके परिवार के और लोग राजमहल तथा मुर्शिदाबाद में रहते थे पर जब इन्हें यहाँ अधिक लाभ होने लगा तब इन्होंने यहीं अपने रहने को बड़े-बड़े महल और उद्यान आदि बनवाए। इनकी अनेक प्रकार से सुसज्जित विशाल राजपुरी, पुष्प-वृक्षादि से सुशोभित विख्यात उद्यान, मणि-माणिकादि से परिपूर्ण राजभांडार, सशस्त्र सैनिकों से भरा हुआ सिंहद्वार तथा अनेक विभाग के असंख्य सेवकों की भीड़ को देखकर लोग इन्हें केवल व्यापारी महाजन न समझ कर राजा मानने लगे।* नवाब के दरबार में जिस प्रकार सेठों में जगत सेठ की इज्जत थी, उसी प्रकार वणिकों में अमीनचंद की प्रतिष्ठा थी। इनका सम्मान इतना था कि इनके नौ पुत्रों में से तीन को राजा की और एक को रायबहादुर की पदवी मिली थी। अंग्रेजों ने अपरिचित देश में आंतरिक व्यापार बढ़ाने के लिये इन्हीं अमीनचंद पर विश्वास किया और इन्हीं के सहयोग से वे गांव-गाँव में दादनी (अगाऊ) बाँट कर कपास और कपड़े क्रय करते थे परन्तु ग्रामवासियों से परिचित हो जाने पर अंग्रेजों ने इनकी धीरे-धीरे उपेक्षा करनी आरम्भ की। नवाब के दरबार में भी इनका मान था और अंग्रेजों को इन्हीं के द्वारा नवाब से लिखापढ़ी करने में विशेष सुविधा होती थी। इसी प्रकार अंग्रेजों की समिति में भी इनकी प्रधानता होने से कुछ सज्जन इनसे द्वेष रखने लगे और इन सबने इन पर लालच के कारण चीजों का भाव बढ़ाने तथा माल को बिगाड़ने का दोष लगाया। कंपनी ने इन्हें ठीका देना छोड़ दिया पर ये अपने प्रभूत धन से स्वयं व्यापार करने लगे।

---

*लियौन्स रेंज में कोल्स तथा जॉन नौक्स के मकानों के पास यह था। इसके बगल से थिएटर स्ट्रीट जाती थी, जो नए तथा पुराने चीना बाजार के मोड़ पर है (कलकत्ता एकाले सेकाले)।

जिस समय सिराजुद्दौला बंगाल के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ उस समय अंग्रेजों और अमीनचंद के बीच विश्वास का अभाव ही नहीं वरन् मनोमालिन्य का भी सूत्रपात हो गया था, जो स्वार्थ के अनुसार बढ़ता-घटता रहा। अलीवर्दी खाँ की प्रथम पुत्री घसीटी बेगम का दीवान महाराज राजवल्लभ, सिराजुद्दौला को सिंहासन से उतार कर बेगम के नाम पर स्वयं बंगाल-बिहार-उड़ीसा की नवाबी करने का स्वप्न देख रहा था और इसे साधारणत: लोग संभव समझ रहे थे। यही कारण था कि जब इसका पुत्र कृष्णवल्लभ (कृष्णदास) भाग कर कलकत्ते आया और अमीनचंद की रक्षा में रहने लगा तब अंग्रेजों ने इसे शरण न देकर भी सिराजुद्दौला का पक्ष अवलंबन करने का साहस नहीं किया। सिराजुद्दौला को यह देखकर अत्यन्त क्षोभ हुआ और उसने यह वृत्तांत मृत्यून्मुख अलीवर्दी से कह सुनाया। अलीवर्दी की मृत्यु पर सिराजुद्दौला ने नवाब होते ही दो ही तीन दिनों के अनंतर एक पत्र इसी विषय पर कलकत्ते के गवर्नर को लिखा कि वे कृष्णदास को उनके धन आदि के साथ नवाब के पास भेज दें।

अंग्रेजों ने नवाब से सशंकित होकर कलकत्ते से नवाब के जासूसों को निकालने का तथा किसी को फिर से न आने देने का सतत प्रयत्न किया था, पर सिराजुद्दौला के चर-विभाग के प्रधान राजा रामरायसिंह* के भाई इस पत्र को लेकर व्यापारी के वेश में १४ अप्रैल को ही कलकत्ते पहुँच गए और अमीनचंद से मिलकर उन्हीं के साथ हॉलवेल से जाकर उन्होंने भेंट की। दूसरे दिन गवर्नर ड्रेक तथा काउंसिल ने यही निश्चय करना उचित समझा कि राजा रामरायसिंह का भाई छद्मवेश में आकर पहले अमीनचंद के मकान पर ठहरा था, जिससे कंपनी से इस समय मनोमालिन्य है और उसी ने कंपनी पर पुन: प्रभुत्व जमाने के लिये यह कुटिल कौशल रचा है। ऐसा निश्चय कर उस पत्र तथा पत्रवाहक दोनों ही को अंग्रेजों ने अपमानपूर्वक नगर के बाहर निकाल दिया। ऐसा करने का कारण ऊपर लिखा जा चुका है, परन्तु जब अंग्रेजों ने देखा कि सिराजुद्दौला गौरव के साथ सिंहासनारूढ़ हो गया तब उन्होंने डर कर कासिमबाजार के अपने एजेन्ट मिस्टर वॉटस् को लिख भेजा कि यदि नवाब के दरबार में इस तिरस्कार-पूर्ण व्यवहार की वजह से कोई बात उठे तो वह उसका अपने वकील द्वारा उन कारणों का वर्णन कर, जिसका उल्लेख किया जा चुका है, समाधान करा देंगे।

---

*मिदनापुर का राजा (ओर्म)।

इस कैफियत को सुनकर सिराजुद्दौला ने उसे अनसुनी कर दिया और उस विषय पर पुनः कुछ न लिखा।

इंगलैंड और फ्राँस के बीच समरानल प्रज्वलित होने की आशंका से फोर्ट विलिअम को दृढ़ करने के लिए अंग्रेजों ने नई दीवाल बनानी आरम्भ कर दी, जिसका पता जासूसों से पाकर सिराजुद्दौला ने, जो पूर्णियाँ की ओर शौकतजंग को दमन करने को ससैन्य अग्रसर हो रहा था—एक पत्र गवर्नर को लिखा, जिसमें उसने नई दीवाल बनाने की मनाही की थी। इसके उत्तर में ड्रेक ने जो कुछ लिखा उससे अधिक क्रुद्ध होकर सिराजुद्दौला पूर्णियाँ की चढ़ाई रोक कर उसी समय कलकत्ते की ओर सेना सहित वेग से बढ़ा। पहली जून को वह कासिम-बाजार पहुँचा और उसने उस पर अधिकार कर लिया। इसके अनंतर नवाब कलकत्ते की ओर बढ़े और १६ जून को वहां पहुँचे।

इसी बीच १३ जून को एक पत्र अंग्रेजों ने उस गुप्तचर से बलात् ले लिया, जिसे राजा रामरायसिंह ने गुप्त रूप से अमीनचंद के पास भेजा था। यह विचार कर कि उनके मित्र अमीनचंद का आक्रमण के समय कुछ अनिष्ट न हो, उन्होंने इस पत्र में केवल सम्मति दी थी कि वे वहाँ से हट कर किसी निरापद स्थान को चले जायँ। अंग्रेजों ने यह पत्र पाकर तत्काल ही अमीनचंद को पकड़ कर कारागार में बन्द कर दिया और उसी प्रकार कृष्णदास को भी बन्दी कर दिया। अमीनचंद के घर से वैभव, सामान आदि कहीं हटा न दिया जाय, इसलिए कुछ गोरे सैनिक उनकी देखभाल को उनके घर के चारों ओर नियुक्त किए गए। इनके एक सम्बन्धी हजारीमल्ल थे, जिनके हाथ में अमीनचंद का कुल कार्यभार रहता था। ओर्म आदि कृत अंग्रेजी इतिहासों में इनका सम्बन्ध जिस शब्द द्वारा प्रगट किया गया है, उससे अपने यहाँ के कई सम्बन्धों—साला, बहनोई, साढ़ू आदि का अर्थ निकल सकता है, पर संसार में देखा जाता है कि विशेष कर प्रथम सम्बन्धी ही इस प्रकार दूसरों के कार्य सँभालने में अधिक दक्ष होते हैं, इससे हजारीमल्ल जो अमीनचंद के साले ही जान पड़ते हैं। अस्तु, जब इनके नाम अंग्रेजों का वारंट आया, तो ये स्त्रियों की शरण में चले गए, पर जब गोरे अन्तःपुर में घुसने का प्रयत्न करने लगे तो अमीनचंद के सिपाही जो लगभग तीन सौ के थे, गोरों से भिड़ पड़े। बहुतेरों ने अग्नि-वर्षा से धराशायी होकर प्राण दिए, घायल हुए और यथाशक्ति प्रयत्न किये पर वे सफल न हो सके। जब उनके वृद्ध जमादार जगन्नाथसिंह या जगमन्तसिंह ने, जो

सद्वंशजात क्षत्रिय था, देखा कि अब ये फिरंगी शीघ्र ही अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ चाहते हैं तब उसका रक्त खौल उठा। उसके स्वामी के पवित्र कुल की कुलवधुओं पर परपुरुष की छाया पड़े और उनके निष्कलंक शरीर यवनों के स्पर्श से कलंकित हों, ऐसा विचार ही उस स्वामिभक्त क्षत्रिय वीर के लिए असह्य हो उठा। उसने यह झट निश्चय कर लिया कि वह उस अन्तःपुर तथा उन अन्तःपुरवासिनियों ही को न रहने देगा। उसने तुरन्त प्राचीन हिन्दू गौरव नीति के अनुसार एक बड़ी चिता जला दी और स्वामी के परिवार की तेरह कुलवधुओं के सिरों को धड़ से अलग कर चिता में डाल दिया। अनुकूल वायु पाकर चिता भभक उठी और सिंहद्वार तक का भवन अग्नि की लपट में भस्म हो गया। जगन्नाथ ने यद्यपि उसी सती-शोणित -सिक्त तलवार से आत्महत्या करनी चाही थी पर उसका अभी समय नहीं आया था।

नवाब सिराजुद्दौला ने इसी जगन्नाथ सिंह की सहायता से, जो अंग्रेजों से अपने स्वामी का बदला लेने के लिये नवाब के कैम्प में चला गया था, पूरब की ओर से जहाँ अंग्रेज सतर्क नहीं थे, कलकत्ता के उस अंश पर अधिकार कर लिया, जिसमें देशी व्यापारी अधिक थे। गवर्नर ड्रेक, जंगी कैप्टेन मिनचिन आदि बहुत से अंग्रेज फलता भाग गए और हॉलवेल की अध्यक्षता में बचे हुए यूरोपीअन फोर्ट विलिअम की रक्षा के प्रयत्न में लगे। हॉलवेल ने इस संकट के समय पर उन्हीं अमीनचंद की शरण ली, जिसके धन-जन का एक ही दो दिन पहले उन्हीं के भाइयों द्वारा नाश हुआ था। उनके गिड़गिड़ाने पर अमीनचंद ने हुगली के फौजदार राजा मानिकचंद के नाम एक सिफारशी चिट्ठी लिख दी, जो दीवाल पर से नीचे डाल दी गई। इसमें अनेक कातरोक्तियों के साथ नवाब की अनुग्रह-भिक्षा प्राप्त करने के लिये राजा मानिकचंद से प्रार्थना की गई थी। उसी आशय का दूसरा पत्र राय दुर्लभराम के नाम का भी गिरा दिया गया और संधि का झंडा भी खड़ा किया गया। इन पत्रों के फलस्वरूप नवाबी सेना की ओर से एक मनुष्य सुलह का झंडा लेकर आया। अभी बातचीत हो रही थी कि कुछ अंग्रेजों ने जो मदिरा पीकर उन्मत्त हो रहे थे, पूर्वी फाटक खोल दिया। इसमें से नवाबी सेना भीतर घुस आई और २१ जून को कलकत्ते पर अधिकार हो गया। अंग्रेज सब पकड़े गए। संध्या के समय पाँच बजे दरबार हुआ जिसमें अमीनचंद और कृष्णदास भी सामने लाये गए। नवाब ने क्रोध न प्रकाश कर इनसे आदरपूर्ण व्यवहार किया। इसके अनंतर वह घटना घटी, जो 'कालकोठरी की हत्या' के नाम से छोटे-मोटे इतिहासों में पाई जाती है। बा० अक्षयकुमार मित्र ने इसका

युक्तिपूर्ण खंडन किया है।[१] इस कहानी को पहले-पहल कहने वाले हॉलवेल ने अमीनचंद पर यह भी दोष लगाया था कि इन्हीं ने अंग्रेजों द्वारा अपने पर किये गए निर्दय व्यवहार का बदला लेने के लिए राजा मानिकचंद से कह कर अंग्रेजों की यह दुर्गति कराई थी। पर जिस प्रकार इनकी पहली उक्ति झूठी साबित हो चुकी है, उसी प्रकार इनकी यह दूसरी उक्ति भी ग्राह्य नहीं है।

कलकत्ते की लूट से जो कुछ प्राप्त हुआ था वह नवाब के आशानुरूप नहीं था। अन्य देशी महाजन अपने धन-सामान को हटा सके थे, पर अमीनचंद अंग्रेजों के कठोर व्यवहार से ऐसा नहीं कर सके, इससे उनके कोष से चार लाख रुपया, सिक्का, तथा बहुत-सा सामान प्राप्त हुआ था। कंपनी का बहुत-सा सामान हट-बढ़ गया था, जिससे केवल बीस लाख रुपये का माल कलकत्ते में बच गया था। इन सबका भी अधिकांश सैनिकों ने लूट लिया था, जिससे नवाब के कोष में बहुत ही कम लूट पहुँच सकी थी। इसके अनंतर ३००० सैनिकों के साथ राजा मानिकचंद को कलकत्ते में छोड़कर दूसरी जुलाई को नवाब लौट गए। कलकत्ते का नाम अलीनगर रखा गया। लौटने के दो-तीन दिन पहले नवाब ने अंग्रेजों को शहर में अपने-अपने घर जाने की आज्ञा दे दी, जहाँ अमीनचंद ने उनके खाने-पीने की सब व्यवस्था कर दी थी। स्यात् इन्हीं के अनुनय-विनय से अंग्रेजों को यह आज्ञा मिली थी परन्तु एक पियक्कड़ सारजेंट ने एक मुसलमान को मार डाला, जिस पर क्रुद्ध हो नवाब ने आज्ञा दी कि कोई भी यूरोपिअन उसके राज्य में न रहे। ऐसी आज्ञा होते ही सभी अंग्रेज, फ्रेंच तथा उच्च अधिकारी फैक्टरियों को भाग गए।

इस प्रकार कलकत्ते से निकाले जा पर अंग्रेजों ने फलता में डेरा डाला और वहीं से सहायता के लिए मंदराज और बंबई की कोठियों को लिखा। २२ अगस्त को रूहनिया स्कूनर नामक जहाज पर कौंसिल बैठी जिसमें खोजा पेट्रोस के द्वारा प्राप्त अमीनचंद का पत्र पढ़ा गया। इसमें इन्होंने अंग्रेजों की सहायता करने का वचन दिया था। अमीनचंद की सहायता से राजा मानिकचंद भी अंग्रेजों के पक्ष में हो गए और ५ वीं सितम्बर को उनका एक पत्र भी आया, जिसमें उन्होंने सहायता करने का वचन दिया था तथा बाजार खोलने की आज्ञा का 'दस्तखत' भी भेजा था। मंदराज से लार्ड क्लाइव के अधीन सहायता भी आ पहुँची। २७ दिसम्बर

[१] दो एक अंग्रेजी रिव्यूओं में इसके मंडन का इधर कुछ प्रयास होता हुआ दिखलाई दे रहा है।

को अंग्रेजी सेना फलता से चलकर बजबज के पास पहुँची। यहाँ से क्लाइव ने ५०० सैनिकों के साथ बजबज दुर्ग लेने को प्रस्थान किया, पर मानिकचंद के आजाने पर उसे लौट जाना पड़ा। ऐसा होने पर भी मानिकचंद बजबज छोड़कर लौट गए। इसके उपरान्त कलकत्ते पर भी दो घंटे की अग्निवर्षा होने के अनंतर अधिकार हो गया। हुगली नगर कलकत्ते से तेरह कोस उत्तर था। उस पर भी धावा कर अंग्रेजों ने उसे लूट लिया।

ठीक लूट के समय ही समाचार मिला कि इंगलैंड और फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ गया है। तब क्लाइव ने घबड़ा कर जगत सेठ को लिखा कि वे नवाब से प्रार्थना कर संधि करा दें। नवाब हुगली के लूटे जाने के कारण बहुत क्रुद्ध होकर ससैन्य कलकत्ते जाने की तैयारी कर रहा था, इससे संधि का अवसर न देख कर जगत सेठ ने अपने एक दक्ष कर्मचारी रंजीतराय को सेना के साथ कर दिया। अमीनचंद भी सेना के साथ गए। इस प्रकार नवाव की सेना में अंग्रेजों के दो हितैषी भी थे। नवाब ने कलकत्ते पहुँच कर अमीनचंद के बाग* में, जो मराठा डिच के भीतर कलकत्ते के उत्तर-पूर्व के भाग में था, दरबार किया। वहीं रंजीतराय वॉल्श और स्क्राफटन नाम के दो अंग्रेज प्रनिनिधियों को दीवान राय दुर्ल्लभ के सामने लाया। उसने जाँच कर तब दरबार में पेश किया। नवाब ने उनकी बातें सुन कर दीवान से सब बातों को निश्चित करने की आज्ञा दी और स्वयं दरबार से उठ गए। अमीनचंद ने गुप्त रूप से इन प्रतिनिधियों को सतर्क कर दिया कि वे अपनी रक्षा करें। वे यह सुन कर रातों रात अपने कैम्प को भाग गए। क्लाइव ने यह समाचार पाकर लड़ने की ठानी और रात्रि ही में सेना सहित अमीनचंद के बाग की ओर बढ़ा। कुछ युद्ध होने के अनंतर एक सौ से अधिक सैनिक खोकर क्लाइव को लौट जाना पड़ा। नवाब की आज्ञा से रंजीतराय ने क्लाइव को लिख कर इस मारकाट का कारण पूछा और वहाँ से तीन मील हटकर दूसरे स्थान पर पड़ाव डाला। अमीनचंद तथा रंजीतराय के प्रयत्न से ९ फरवरी को संधि हो गई, जो अलीनगर की संधि के नाम से विख्यात है।

इसके अनंतर क्लाइव ने १२ फरवरी को अमीनचंद को नवाब के पास स्वीकृत संधिपत्र के साथ भेजा और साथ ही यह भी कह दिया कि वह इस बात का पता लगावें कि नवाब चन्द्रनगर पर चढ़ाई करने की उसे आज्ञा देंगे या नहीं। सिराजुद्दौला इस विषय पर मौन रह गया और 'मौनं सम्मति लक्षणम्' के अनुसार

*यह हालसी बागान में था (कलकत्ता एकाले सेकाले)।

१८वीं को क्लाइव चंद्रनगर की ओर ससैन्य बढ़ा। फ्रेंच ने पता पाते ही कई पत्र नवाब को भेजे, जिस पर नवाब ने अग्रद्वीप से जहाँ तक वह पहुँच चुका था, अंग्रेजों को चंद्रनगर पर चढ़ाई न करने का कठोर आज्ञापत्र भेजा। इसी समय वॉट्स अमीनचंद के साथ मुर्शिदाबाद को रवाना हुआ और १८वीं ही को हुगली में अमीनचंद को पता चला कि फ्रेंच गवर्नर को नवाब ने एक लाख रुपये की सहायता दी है और हुगली के फौजदार नन्दकुमार को अंग्रेजों के चढ़ाई करने पर फ्रेंच की सहायता करने की आज्ञा भेजी है। अमीनचंद ने नन्दकुमार को समझा-बुझाकर अंग्रेजों के पक्ष में कर लिया, जिससे वह अपनी सेना सहित अंग्रेजी सेना के मार्ग से हट गया।[1] ३१वीं को वॉट्स और अमीनचंद अग्रद्वीप पहुँच गए। सिराजुद्दौला ने उसी समय अमीनचंद को बुलाकर क्रुद्ध स्वर में पूछा कि क्या अंग्रेज संधि की शर्तों को तोड़ना चाहते हैं। वॉट्स ने अमीनचंद से पहले ही बहुत अनुनय-विनय किया था कि वे फ्रेंच की चढ़ाई आदि को एक बार ही अस्वीकार कर लेंगे और इसी के अनुसार अमीनचंद ने नवाब के दरबार के एक ब्राह्मण का पद-स्पर्श करते हुए उत्तर दिया था कि अंग्रेज कभी संधि भंग न करेंगे। उनके ऐसी सत्य-प्रिय जाति पृथ्वी पर नहीं है। वे जो कहते हैं वैसा ही करते हैं।[2] इस धर्म-शपथ से सिराज शान्त हो गया और मीर जाफर के अधीन जो सेना फ्रेंच की सहायता को वह भेज रहा था उसे नहीं भेजा। क्लाइव द्वारा प्रेषित इसी आशय का एक पत्र मिलने पर नवाब निश्शंक हो कर मुर्शिदाबाद लौट गया।

वॉट्स और अमीनचंद चंद्रनगर पर चढ़ाई करने की आज्ञा लेने के लिए बराबर षड्यंत्र करते रहे। इसी समय पठानों का उपद्रव दिल्ली में बढ़ रहा था और उनके द्वारा बंगाल पर आक्रमण होने की आशंका हो रही थी। इस समय अंग्रेजों से सहायता लेने की इच्छा भी सिराज के हृदय में प्रबल हो रही थी। इस अनुकूल अवसर को क्लाइव ने जाने नहीं दिया और नवाब की सहायता के बहाने चंद्रनगर की ओर अग्रसर हुआ। सिराजुद्दौला की आज्ञा के अनुसार हुगली की सेना फ्रेंच के सहायतार्थ नन्दकुमार की अधीनता में चंद्रनगर पहुँच चुकी थी

[1] १० अप्रैल सन् १७५७ की सेलेक्ट कमेटी में अमीनचंद को इस कार्य के लिए विशेष धन्यवाद दिया गया था।

[2] २५-२-१७५७ की सेलेक्ट कमेटी की प्रोसीडिंग्ज़। (ओर्म की पुस्तक 'हिस्ट्री आव मिलिटरी ट्रांजैक्शन्स' भाग २, पृष्ठ १३७)।

और राजधानी से दूसरी सेना राय दुर्ल्लभ की अध्यक्षता में जा रही थी। अमीनचंद ही की मध्यस्थता से नन्दकुमार चंद्रनगर से ससैन्य हट गए और मार्ग ही में उन्होंने राय दुर्ल्लभ को भी रोक लिया। अंग्रेजों ने फ्रेंच को परास्त कर चंद्रनगर पर अधिकार कर लिया।[1] नवाब और अंग्रेजों के मध्य का यह विरोध अब बहुत बढ़ गया था और साथ ही क्लाइव भी युद्ध करने को अब तैयार था।

नवाब सिराजुद्दौला के दरबार में इसी समय एक षड्यन्त्र का आरम्भ हुआ। मानिकचंद, राय दुर्ल्लभ, जगत सेठ के पुत्र महताबराय तथा स्वरूपचंद, मीर जाफर आदि प्रधान सरदारगण सिराजुद्दौला से बिगड़ गए थे और उसे गद्दी से उतारना चाहते थे। २३ अप्रैल को यार लतीफ खाँ ने वॉट्स से एकांत में मिलने के लिए लिखा। यह दो हजारी मंसबदार था और सेठों से भी उनके रक्षार्थ वेतन पाता था। वॉट्स ने अमीनचंद को यार लतीफ खाँ से भेंट करने को भेजा। उसने कहा कि यदि अंग्रेज उसको नवाब बनाने में सहायता दें तो वह उनके इच्छानुकूल संधि कर लेगा और यह सूचना भी दी कि राय दुर्ल्लभ तथा सेठों ने उसका साथ देने का वचन दिया है। वॉट्स ने इस षड्यन्त्र को पसन्द कर क्लाइव को लिखा और वह भी इससे बहुत प्रसन्न हुआ। परन्तु इस बात-चीत के दूसरे ही दिन मीर जाफर ने भी यही प्रस्ताव किया। यार लतीफ से इसका प्रभुत्व अधिक था, इससे अंत में इसे ही नवाब बनाने का निश्चय हुआ।

क्लाइव यह समाचार पाकर बिना विलम्ब किए कलकत्ते लौट आया और पहली मई की कमेटी में मीर जाफर की सहायता कर उसे गद्दी पर बिठाने तथा सिराजुद्दौला को गद्दी से उतारने का निश्चय किया। संधिपत्र की जो पांडुलिपि तैयार हुई थी उसमें चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं शर्तों का सारांश इस प्रकार था कि कलकत्ते की लूट में जो हानि हुई थी उसकी पूर्ति के लिए कम्पनी को एक करोड़, अन्य अंग्रेजों को पचास लाख, हिन्दू-मुसलमान निवासियों को बीस लाख और आर्मीनियों को सात लाख मिलना निश्चित किया जाय। १४ मई को यह संधिपत्र मीर जाफर से स्वीकृत होकर लौट आया और साथ ही मीर जाफर ने लिख भेजा कि यह सब षड्यन्त्र अमीनचंद से छिपा रखा जाय। सेठों ने यह देख कर कि इस षड्यन्त्र में यदि अमीनचंद का हाथ अधिक रहेगा तो उसके सफल होने पर उसी की धाक अंग्रेजों में अधिक रहेगी और उनके स्वार्थ को धक्का लगेगा। सेठों के दलाल रंजीतराय पर भी नवाब

---

[1] २५-२-१७५७ की सेलेक्ट कमेटी की प्रोसीडिंग्ज।

की बड़ी कृपा थी, जिसे अमीनचंद ने उखाड़ दिया था। इससे भी वे बुरा मानते थे। इसीलिये उन्होंने मीर जाफ़र को वैसा सुझाया था। पर अमीनचंद उस षड्यन्त्र को आरम्भ से जानते थे, इससे उनसे छिपाना असम्भव था।

इस षड्यन्त्र के आरम्भ करने वाले तथा उसकी सफलता के लिये सतत प्रयत्न करने वाले अमीनचंद का भी प्राण सर्वदा शंका में रहता था और इसीलिए वे अपनी सेवाओं का पुरस्कार पाने की भी आशा लगाए थे। कलकत्ते में अंग्रेजों ही के कारण ये धन-जन की पूरी हानि उठा चुके थे, जिसकी भी पूर्ति करना आवश्यक था। कम्पनी द्वारा अकारण बड़े घर में बन्द होने के बाद भी अपनी इच्छा से यह मुर्शिदाबाद में रहते हुए कम्पनी की सब प्रकार से सहायता कर रहे थे। इन विचारों से षड्यन्त्र के सफल होने पर उसमें भाग माँगना उन्होंने उचित समझा। "किसी भी रूप में राजद्रोह दोष है और जिस राजद्रोह में अमीनचंद ने योग दिया था, उसमें धोखा और प्रतारणा की मात्रा भी अधिक थी। तब भी अमीनचंद अन्य षड्यन्त्रकारियों से किसी प्रकार बुरे नहीं थे। कलकत्ते के भागे हुए गवर्नर और गुप्त समिति के अन्य सदस्य जब लाखों रुपये 'मशीन चला देने के लिए' ले रहे थे तो इन्हीं की निज सेवाओं का मूल्य, जिसने मशीन को चलता रक्खा, अधिक माँगने का दोष क्यों लगाया जाय?"[१] अन्त में वॉट्स ने दुहराई हुई पाँडुलिपि को भेजते समय, जिसमें तीस लाख रुपया अमीनचंद को देना तै पाया था, लिखा था कि यदि अमीनचंद की इच्छा के विरुद्ध किया जायगा तो वह सब हाल नवाब से कह देगा। इस पर गुप्त समिति के सदस्यों ने यही निश्चय किया कि इस 'अर्थपिशाच' अमीनचंद को कुछ भी न दिया जाय। परन्तु उसे किस प्रकार धोखे में रखा जाय, यह निश्चय नहीं हो रहा था। प्रत्युत्पन्नमति क्लाइव ने मि० मैलेसन के शब्दों में 'लूट में एक साथी को भाग न देने का अप्रतिष्ठित एक उपाय' निकाल ही लिया। उपाय यही किया गया कि लाल रंग के एक कागज पर संधिपत्र लिखा गया, जिसमें अमीनचंद को भी भाग मिलने का उल्लेख था, पर श्वेत पत्र पर, जो असली संधिपत्र था, इसका कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया। बेड़ाध्यक्ष (ऐडमिरल) वॉटसन् के जाली संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने में इतस्ततः करने पर क्लाइव ने लूसिंगटन से उनका हस्ताक्षर बनवा दिया। अमीनचंद का अंग्रेज़ों की सत्यप्रियता पर इतना विश्वास था कि वे उनके लिए शपथ तक खा

---

[१] बेवरिज, हिस्ट्री ऑव् इंडिया, जि० १, पृ० ४८३

चुके थे, इससे उन्होंने इस संधिपत्र को देखकर कुछ भी संदेह नहीं किया। इन दो संधिपत्रों के सिवा एक और गुप्त संधिपत्र था, जिससे सेना के जल तथा स्थल विभागों को और कम्पनी के अन्य सज्जनों को भी धन मिलने वाला था। इस प्रकार तीन संधिपत्र लिखे गए थे। इन पर मीर जाफर का हस्ताक्षर कराने को वॉटस् स्वयं ५ जून को स्त्री-वेश में पालकी पर बैठ कर उसके घर गया और कुरान की शपथ खाकर तथा मीरन के मस्तक पर हाथ रखकर मीर-जाफर ने उन पर हस्ताक्षर कर दिया। 'सैरुलमुताखरीन' लिखता है कि 'दोनों महाजनान मज़कूर (कुछ लोग जगत सेठ और अमीनचंद मानते हैं) इसके जामिन हुए।" पर अमीनचंद नाम ठीक नहीं है क्योंकि वे ३० मई ही को मुर्शिदाबाद से चले गए थे। यहाँ जगत सेठ के दोनों पुत्रों महताबराय और स्वरूपचंद से तात्पर्य हो सकता है। ये संधिपत्र मीर जाफर के विश्वासी अनुचर अमीरबेग के हाथ १० जून को कलकत्ते पहुँच गए।

अमीनचंद को मुर्शिदाबाद से दूर कर कलकत्ते ले जाने का भार स्क्राफ्टन पर छोड़ा गया था। उसने इन्हें यह समझाया कि संधि तो हो गई है और दो तीन दिन में युद्ध छिड़ ही जायगा, इससे उस समय इस स्थूल देह के साथ घोड़े पर चढ़ कर भागना सम्भव न होगा, इस कारण पहले ही से भागने का प्रबन्ध करना चाहिए। अमीनचंद भी यह उचित समझकर कलकत्ते की ओर स्क्राफ्टन के साथ चल पड़े। इससे यह ज्ञात होता है कि अमीनचंद स्थूलकाय थे। ए० के० राय साहब ने अपने सेन्सस रिपोर्ट में कुछ प्रवाद वाक्य लिखे हैं, जिनसे इनकी लम्बी डाढ़ी का भी पता चलता है। प्रवाद वाक्य यों हैं— "गोविंदरामेर छाड़ी। बनमाली सरकारेर बाड़ी। ओमीचाँदेर दाड़ी।"[1] पलासी के मैदानों में राय दुर्लभ राय से इनसे भेंट हुई और इन पर जाल खुल गया, पर स्क्राफ्टन के इस कथन पर कि अन्त में निश्चित हुआ संधिपत्र अभी मीर जाफर तक को नहीं ज्ञात है, इन्हें कुछ शान्ति मिली। १८ जून को ये कलकत्ते पहुँचे, जहाँ इनका दिखौआ स्वागत किया गया।

जब १२ जून को वॉट्स भी मुर्शिदाबाद से भागे तब सिराजुद्दौला ने युद्ध ठान कर कलकत्ते की ओर चढ़ाई की और इधर क्लाइव भी तीन सहस्र सेना के साथ कटोया और अग्रद्वीप होते हुये पलासी के मैदान में पहुँचा। क्लाइव को आशा दिलाई गई थी कि युद्ध नाममात्र को ही होगा पर जब उसने नवाब की सेना की व्यूह-रचना और युद्ध देखा तब अमीनचंद को बुला कर उनकी भर्त्सना करने लगा कि पहले यही कहा गया था कि "केवल साधारण युद्ध होने पर ही काम निपट

जायगा और कुल सेना नवाब के विरुद्ध है पर यह सब उलटा ही हो रहा है।" अमीनचंद ने नम्रभाव से कहा कि मीरमदन और मोहनलाल ही युद्ध कर रहे हैं, वे ही स्वामिभक्त हैं, उनके पराजित होते ही फिर कोई अस्त्र न चलावेगा। फलत: क्लाइव ने पलासी युद्ध में विजय प्राप्त किया, सिराजुद्दौला पकड़ा जाकर मार डाला गया और मुर्शिदाबाद में राजकोष बाँटने को सेठों के गृह पर समिति बैठी। अमीनचंद बिना बुलाए साथ गए थे पर मंत्रणा में उन्हें योग नहीं देने दिया गया। कोष में केवल डेढ़ करोड़ रुपये थे और संधि के अनुसार दो करोड़ पिछत्तर लाख देना था। इसके सिवा १६ लाख क्लाइव को, ८ लाख वॉट्स को और १० लाख अन्य साहबों को भेंट करना था। अंत में यही निश्चय हुआ कि इस समय आधा-आधा दिया जाय और आधा तीन वर्ष में किस्त करके चुकाया जाय। इसके अनन्तर क्लाइव और स्क्राफ्टन दोनों ही अमीनचंद के पास गए और स्क्राफ्टन ने हिन्दुस्तानी भाषा में कहा कि "अमीनचंद लाल कागज का संधिपत्र जाली था, तुम्हें कुछ भी न मिलेगा।...यह सुनकर वे बेहोश हो गए और उनके नौकर पालकी पर लिटा उन्हें घर ले गए।...कुछ दिन के अन्तर वह क्लाइव के यहाँ गए जिसने उसे किसी तीर्थस्थान जाने की सम्मति दी।...मालदा के पास के सुप्रसिद्ध तीर्थ में गए और पागल हो कर लौटे।...इसी हालत में डेढ़ वर्ष रह कर मृत्यु हो गई। इसी के कारण सिराजुद्दौला ने अपने विश्वस्त कर्मचारियों की बात पर ध्यान नहीं दिया। यद्यपि इसने धमकी दी थी पर यह कभी कहता नहीं क्योंकि इसकी जायदाद कंपनी के हाथ में थी। इसलिए यह जो माँगता था वह इसे देना चाहिए था।"[1] बकलैंड कृत 'इंडियन बायोग्राफिकल डिक्शनरी' में इनकी मृत्यु का ५ दिसम्बर सन् १७५८ ई० को होना लिखा है।

अमीनचंद से जो कुछ व्यवहार किया गया था वह उनके योग्य ही था पर क्या इस कारण वैसा दुर्व्यवहार करनेवाले क्षम्य हैं? हाँ, कुछ इतिहास-लेखकों ने केवल क्षम्य ही नहीं माना है पर दुर्व्यवहार करने के लिए वाध्य होने के कारण क्लाइव को 'शहीद' तक माना है पर सत्यप्रिय लेखक यही कहते हैं कि यह सब जाल केवल रुपये ही के लिए किया गया था और सर्वथा निंद्य है। प्रत्येक पाठक पर ही कुल वृत्त पढ़ कर अपनी राय ठीक करना छोड़ देना उचित समझ कर इस विषय पर विशेष नहीं लिखा गया।

इतना लिखना अवश्य उपदेशमय ज्ञात होता है कि इन षड्यंत्रकारियों में

---

[1] ओर्म, मिलिटरी ट्रांजैक्शन्स, जि० २, पृ० १८२-३

मुख्य-मुख्य का कैसा अन्त हुआ। मीर जाफर कोढ़ी होकर मरा, सिराजुद्दौला को मारनेवाले मीरन पर वज्रपात हुआ, अमीनचंद पागल होकर मरे, जगत सेठ दोनों भाई मीर कासिम द्वारा मारे गए और क्लाइव ने आत्महत्या कर ली। राजा राजवल्लभ ऐसा दरिद्र होकर मरा कि उसकी विधवा पत्नी को कम्पनी से प्रार्थना कर पेट पालने के लिये पेंशन प्राप्त करनी पड़ी थी। मेन के 'हिन्दू लॉ ऍंड यूसेज' नामक पुस्तक के सप्तम संस्करण के पृ० ५३८ पर लिखा है कि "देशी लोगों का सबसे प्राचीन ज्ञात इच्छापत्र प्रसिद्ध अमीनचंद ही का है। यह सन् १७५८ ई० का लिखा है, जब अंग्रेजी न्यायालयों से अंग्रेजी अस्त्र-शस्त्र का प्रभुत्व बढ़ कर था।" यह विल अर्थात वसीयतनामा 'साहित्य संहिता' में जस्टिस शारदाचरण मित्र द्वारा प्रकाशित किया गया है, जिस लेख का प्रधान लक्ष्य यही सिद्ध करना था कि 'ओमीचाँद बांगाली नेई'।

लंदन में वर्णसंकर सन्तानों के पालन के लिये एक फाउंडलिंग अस्पताल बना है, जिसकी नींव सन् १७३६ ई० में कैप्टेन कोरम ने डाली थी। पार्लियामेंट ने भी कानून पास कर १०००० पाउंड सहायता दी। सन् १९०७ ई० की रिपोर्ट में इसके मददगारों अर्थात् चन्दा देनेवालों में एक दानी का नाम अंग्रेजी में यों लिखा है—"कलकत्ते के एक काले व्यापारी अमीचंद ने सन् १७६२ ई० में १८७५० रु० सहायता दी थी (सरस्वती भाग ९, सन् १९०८, पृष्ठ ५००-४)। पं० प्यारेलाल मिश्र, बार एट-लॉ, ने उक्त संस्था के मन्त्री से लिखा-पढ़ी की और अन्त में यह निश्चय हुआ कि आगे से रिपोर्टों में यह लिखा जाय कि कलकत्ते के एक भारतीय व्यापारी मिस्टर अमीचंद ने १८७५० रु० दान दिया था।"

बाबू फतेहचंद

सेठ अमीनचंद के पुत्र बा० फतेहचंद इस घटना से अत्यंत उदास हो गए और अपने पिता की मृत्यु हो जाने पर सन् १७५९ ई० में काशी चले आए। काशी के एक अत्यंत प्रसिद्ध नगर-सेठ गोकुलचंद की कन्या से इनका विवाह हुआ। सेठ गोकुलचंद के पूर्वज ने, स्यात् उनके पिता ही रहे हों, अन्य नगर-सेठों तथा सर्दारों का साथ देकर काशी के वर्तमान राजवंश को यह राज्य दिलाने में बहुत उद्योग किया था; जिस कारण वे उस राज्य के महाजन नियुक्त हुए थे और उन्होंने प्रतिष्ठापूर्ण नौ-पति की पदवी प्राप्त की थी। इस वंश में काशी के अग्रवालों की चौधराहट भी थी!

काशी के राजवंश के मूलपुरुष मनसाराम को सन् १७३८ ई० के लगभग काशी की जमींदारी तथा राजा की पदवो दिल्ली के सम्राट् मुहम्मदशाह से मिली

थी। इसके अनन्तर बुर्हानुलमुल्क नवाब सआदत खाँ के अवध में स्वतंत्र राज्य स्थापित करने पर बनारस भी उसी राज्य के अधीनस्थ हो गया। इसी समय जिन नौ महाजनों ने राजा मनसाराम की सब प्रकार से सहायता दी थी, उन्हीं को नौपति की पदवी मिली थी। यह पदवी अब तक प्रसिद्ध है पर उन नौ वंशों में अब एक वंश का भी पता नहीं है। विवाहादि शुभ कार्यों तथा शोक के अवसर पर पगड़ी बँधवाने के लिए स्वयं काशिराज इन वंशों में पधारते थे। यह मान अब तक उस कुल में विवाह करने के कारण बा० फतेहचंद के वंश को प्राप्त है। सेठ गोकुलचंद को अन्य कोई संतान नहीं थी इससे बाबू फतेहचंद ही उनके उत्तराधिकारी हुए।

बा० फतेहचंद हनुमान जी के परमभक्त थे और वे प्रति मंगलवार को हनुमान-घाट के बड़े हनुमान जी का दर्शन करने जाया करते थे। एक दिन प्रसादी माला पहिरे हुए वे घर चले आए और उतारते समय उसमें से एक वानराकृति हनूमान जी की स्वर्ण-प्रतिमा गिर पड़ी जो केवल अंगुष्ठ-प्रमाण थी। उसी समय से उस प्रतिमा की सेवा बड़ी भक्ति से होने लगी और अब तक ये महावीर जी उस वंश के कुलदेव माने जाते हैं।

ता० १८ सफर, सन् १२५४ हिजरी का लिखा हुआ फारसी का एक ग्रन्थ है, जिसमें गवर्नर-जेनरल की ओर से राजा महाराजाओं तथा रईसों को जिस प्रकार के कागज पर तथा जैसी प्रशस्तियों से पत्र लिखे जाते थे, उनका विवरण दिया है। उसमें इनकी प्रशस्ति यों लिखी है—बा० फतेहचंद साहू–बाबू साहेब मेह्रबान दोस्तान-सलामत—खात्मा— कागज अफशाँ—(चमकता हुआ) मुह्र खुर्द (मुहर छोटी)।

सन् १७४० ई० में मनसाराम की मृत्यु पर बलवन्तसिंह राजा हुए और सन् १७७० ई० में इनकी मृत्यु हो जाने पर नवाब वजीर शुजाउद्दौला यह राज्य हड़प जाने का विचार कर रहे थे पर अंग्रेजों के विरोध करने पर चेतसिंह राजा हुए। सन् १७७६ ई० में बनारस राज्य सरकारी साम्राज्य में मिला लिया गया। सन् १७८१ में राजा चेतसिंह के बलवा के शान्त हो जाने पर बनारस नगर अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। बाबू फतेहचंद ने अंग्रेज अफसरों की बहुत सहायता की। सन् १७८८ ई० में जोनाथन डंकन साहब काशी के रेजीडेंट तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट नियुक्त होकर आए और इन्होंने दवामी बन्दोबस्त करने तथा बच्चों के मार डालने की प्रथा उठाने में पूरा उद्योग किया और सफलता प्राप्त की। बाबू

फतेहचंद ने इनकी इन सत्कार्यों में बहुत सहायता की, जिसके लिये डंकन साहब ने इन्हें बहुत धन्यवाद दिया था।

बा० फतेहचंद के काशी में आकर बस जाने के कुछ समय के अनन्तर उनके बड़े भाई राय रत्नचन्द्र बहादुर भी मुर्शिदाबाद से यहीं चले आए और रामकटोरे वाले बाग में रहने लगे। उनके साथ राजसी ठाट के पूरे सामान थे। सन्तरी का बराबर पहरा रहता था। इनकी सवारी के साथ डंका, निशान, माही-मरातिब और नकीब भी चलते थे। बा० गोपालचन्द जी के समय तक नकीब की प्रथा थी। रामकटोरे वाला बाग काशी जी में इस वंश का पहला स्थान समझा जाता है और यहीं राय रत्नचन्द्र बहादुर ने अपने ठाकुर श्रीलाल जी को पधराया था, जो अब तक वर्तमान है। विवाह तथा पुत्रोत्सव के अनन्तर डीह-डिहवार (गृहदेवता) की पूजा अब तक यहीं होती है। ठाकुर जी की मूर्ति, गरुड़स्तम्भ तथा चक्रस्थापन को देख कर यह ज्ञात होता है कि वे उस समय तक श्री-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने अवस्था अधिक पाई थी। इनका लिखा हुआ एक वसीयतनामा सन् १८२० ई० का है, जिसमें इन्होंने अपने कुल ऐश्वर्य का उत्तराधिकारी बा० हर्षचंद तथा राय रामचन्द्र की स्त्री बीबी बदाम कुँअरि को माना है। राय रत्नचन्द्र बहादुर को केवल एक पुत्र रायचंद थे, जो यौवनकाल ही में सन् १८१५ ई० में परलोक सिधारे। उनका एक अल्पवयस्क लड़का गोपीचंद भी उनके कुछ दिन बाद अकाल काल-कवलित हो गया। इससे बाबू हर्षचंद ही अन्त में उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति के मालिक हुए। उस वसीयतनामे में लिखा है कि वे राजमहल तथा मुर्शिदाबाद से आए थे जहाँ उनके उद्यान और मकान आदि हैं। उसमें यह भी लिखा है कि वे जगत सेठ के यहाँ बहुत-सी चल सम्पत्ति भी छोड़ आए हैं, जिसके भी ये ही दोनों उत्तराधिकारी हैं। इस वसीयतनामा के लिखने के कुछ ही दिन बाद ये लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था में परम धाम को चले गए।

बाबू फतेहचंद जी जिस समय काशी आए थे, उस समय उनकी अवस्था दस बारह वर्ष के लगभग रही होगी, इससे उनका जन्मकाल सन् १७४७ ई० के आसपास होना चाहिए। हम लोगों की जाति में कुछ वर्षों पहिले बारह-तेरह वर्ष की अवस्था विवाह योग्य होने की अन्तिम सीमा मानी जाती थी। इसी से उनका जन्मकाल अनुमान किया गया है। काशी आने के प्रायः तीस वर्ष बाद, सन् १७८६ ई० में (शाबान १२०३ हिजरी) चौखम्भा वाला मकान सेठ गोकुल-

चंद के पुत्र गोविन्दचंद से क्रय किया गया था और बैनामे में क्रेता का नाम बाबू फतेहचंद बल्द अमीनचंद बिन गिरिधारीलाल दिया है। एक दूसरी जायदाद के खरीद का एक कागज सन् १८११ ई० का है, जो बाबू हर्षचंद के नाम से है, जिससे ज्ञात होता है कि बाबू फतेहचंद इसके पूर्व गत हो चुके थे। बा० हर्षचंद के बाल्यकाल ही में उनके पिता पंचत्व को प्राप्त हुए थे और उसके बाद रायचंद्र तथा उनके पुत्र की मृत्यु पर लोगों के उभाड़ने से वे अपने पितृव्य राय रत्नचंद्र बहादुर से लड़ पड़े थे। परन्तु स्वार्थी पुरुषों की धूर्तता को समझते ही वे अपने पूज्य पितृव्य के पैरों पर जा गिरे और अपना अपराध क्षमा करा कर पुन: उनके स्नेह के पात्र हुए। इसी मिलन के अनंतर ही वह वसीयतनामा लिखा गया होगा। इन तर्कों से ज्ञात होता है कि बा० फतेहचंद की मृत्यु सन् १८१० या उससे दो एक वर्ष पहले हुई होगी। वे काशी में लेन-देन का व्यवहार करते थे।

पूर्वोक्त बातों के समर्थन के लिये ही एक कागज का नीचे विवरण दिया जाता है जो सन् १८१८ ई० का एक फैसलनामा है। यह सदर अदालत दीवानी का फैसला है जहाँ मुंसिफ की डिगरी ,पर अपील की गई थी। राय रत्नचन्द्र के पुत्र रायचंद के बजड़े पर नियुक्त एक नौकर निहाल मल्लाह ने ४ नवंबर सन् १८१६ ई० को राय रत्नचन्द्र पर बाकी वेतन का दावा किया, जो सं० १८७२ के अगहन से सं० १८७३ के कार्तिक मास तक का बाकी था। ४ जुलाई सन् १८१७ ई० को डिगरी हुई और अपील का फैसला ७ जनवरी सन् १८१८ को दिया गया। दावा में दिखलाया गया है कि रायचंद की मृत्यु तक वेतन उन्हीं से बराबर मिलता रहा था और उनके मरने ही पर यह रुका भी था। इससे रायचंद की मृत्यु का सं० १८७२ के अगहन ही में होना निश्चित है। राय रत्नचन्द्र पुत्रशोक तथा भ्रातृ-पुत्र के झगड़े के कारण स्यात् वेतन आदि न दे सके होंगे। गवाहों ने यह भी दिखलाया है कि वेतन का देना कोठी बाबू फतेहचंद ही पर लाजिम है, इससे यही ध्वनि निकलती है कि झगड़े के अनन्तर बाबू हर्षचंद ने अपने पितृव्य से अपील की डिगरी तक क्षमा प्राप्त कर ली हो। इस फैसले में भी अर्थात् सन् १८१८ ई० में बाबू हर्षचंद का अल्पवयस्क होना लिखा गया है। इससे ज्ञात होता है कि इनके पिता इन्हें छोटा ही छोड़ कर मरे थे।

बाबू फतेहचंद के यह एकमात्र पुत्र थे। यद्यपि काशी में इनके पिता को आए लगभग पचास वर्ष हो गए थे पर अपने प्रशंसनीय गुणों से जनसाधारण में ये

इतने प्रसिद्ध हो गए कि इनकी कोठी का नाम अब तक काले हर्षचंद[1] ही के नाम से प्रसिद्ध है। तत्कालीन ग्राम्य-गीतों में लोग इनका गुणानुवाद किया करते थे। काशी में इनकी प्रतिष्ठा तथा सम्मान का यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है कि जब सन् १८४२ ई० में गवर्नमेन्ट ने आज्ञा दी कि प्राचीन तौल की पंसेरियाँ उठा कर अंग्रेजी पंसेरी जारी हो तब काशीवासी बिगड़ खड़े हुए और बाजार बंद कर दिया। तीन दिन तक हड़ताल रहा। उस समय काशी के कमिश्नर प्रसिद्ध मार्टिन रिचर्ड गबिन्स थे, जिनकी अवस्था उस समय पचीस वर्ष की थी। इन्होंने इस झगड़े को निपटाने लिए पंच मानना निश्चित किया और बा० हर्षचंद, बा० जानकीदास[2] और बा० हरीदास[3] साहू को पंच माना। काशीवासियों ने भी इन लोगों को पंच स्वीकार कर लिया। बाग सुन्दरदास में बहुत बड़ी पंचायत हुई और अंत में यह निश्चित हुआ कि पुरानी पंसेरियां ज्यों की त्यों जारी रहें। कमिश्नर साहब भी इस निश्चय से सहमत हो गए और नगर में बड़ी खुशी मनाई गई। इस निश्चय के अनुकूल आज्ञा लेकर जब ये तीनों सज्जन हाथी पर सवार होकर चले, तब बा० हर्षचंद जो सरपंच थे, मध्य में बैठे थे और उनके दोनों ओर दोनों पंच बैठे थे। मोरछल हो रहा था, बाजे बज रहे थे, सारे नगर की प्रजा साथ में खुशी मनाती हुई चल रही थी और स्त्रियां खिड़कियों से पुष्पवर्षा कर रहीं थीं। इसी धूम-धाम की तैयारी के साथ वह जलूस नगर भर में घुमाया गया था।[4]

बाबू हर्षचंद

---

[1]उस समय अग्रवाल साव घराने में भी एक हर्षचंद थे जो इनसे रंग में अधिक गोरे थे। इस कारण वे गोरे हर्षचंद और ये काले हर्षचंद के नाम से प्रसिद्ध हुए।

[2]यह साव घराने के एक धनाढ्य महाजन थे और काशीवासी इन्हें भी बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इन्हीं के सुपुत्र बा० महावीरप्रसाद जी से बा० गोपालचंद जी की पुत्री का विवाह हुआ था।

[3]यह गुजराती वैश्य महाजन थे, जिसके वंश में सराफ़ा की चौधराहट बहुत दिनों तक रही।

[4]मेरे यहाँ एक पुराना जमादार नौकर था, जिसका नाम जयगोविंद सिंह था। इसके पिता दुर्गासिंह प्रसिद्ध तलवरिया थे, जिन्होंने काशी में लड़ाई-भिड़ाई में अच्छा नाम प्राप्त किया था और ईश्वरगंगी मुहल्ले के (मनुष्यरूपी) एक बाघ कहलाते थे। इस वृद्ध नौकर की लगभग १५ वर्ष हुए मृत्यु हो गई।

काशी के दो मेले भारत-प्रसिद्ध हैं। पहला चौकाघाट का भरत-मिलाप है और दूसरा बुढ़वा मंगल। यहाँ चैत्र शुक्ल प्रथमा से नया वर्ष माना जाता है इसलिये चैत्र कृष्ण पक्ष का दूसरा मंगल वर्ष का अन्तिम मंगल होता है। यही मंगल वृद्ध या बुढ़वा मंगल कहा जाता है। मंगल का दिन ही विशेषतः दुर्गाजी के दर्शन के लिए मान्य है। उस दिन बहुत से नागरिक-गण नाव पर सवार होकर दुर्गाजी के दर्शन को जाया करते थे। धीरे-धीरे कुछ लोगों ने नावों पर नाच कराना भी आरंभ कर दिया और अन्त में काशिराज और बाबू हर्षचंद के परामर्शानुसार इस मेले को वर्तमान रूप दिया गया। तब से यह मेला चार दिन मंगल से शुक्रवार तक रहने लगा। बा० राधाकृष्णदास लिखते हैं कि उन्होंने कई बार महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह बहादुर को भारतेन्दु जी से यह कहते हुये सुना था कि "इस मेले का दूलह तो तुम्हारा ही वंश है।" बा० हर्षचंद का निज का कच्छा बड़ी तैयारी के साथ पटता था और उस पर लोगों के बैठाने का प्रबंध बड़ी मर्यादा के साथ किया जाता था। जाति भाइयों में नाई द्वारा निमंत्रण भी फेरा जाता था और सभी गुलाबी रंग की पगड़ी और दुपट्टा पहिर कर आते थे। जिनके

वह इस हड़ताल, बड़े बलवे तथा राममन्दिर के बलवे के बारे में छन्दों तथा अपनी भाषा में बहुत-सा हाल हम लोगों को लड़कपन में सुनाया करता था, पर उस समय उन बातों का कुछ महत्व नहीं जान पड़ता था। इस पंसेरी-विषयक कुछ अंश जो ध्यान में आता है, वह इस प्रकार है:—

देवीं सेन बंगले घबड़ाए। तोप तिलंगा माँगत भए॥
बड़ा साहब बहुत समझाया। गुस्सा हो बंगले पर आया॥
चढ़ा सिपाहीं लै पच्चास। धै बाँध के रक्खा पास॥
तीन कम्पनी एक कप्तान। चौक चाँदनी पहुंचे आन॥
कासी क लोगन जाफत किया। ईंटा जूता भड़ाभड़ दिया॥
घर घर पकड़ सो घर भई सोर। पूरब पश्चिम दूनो ओर॥
जुलहा छोड़लें ताना बाना। हमको है पंचायत जाना॥
सेख सैयद मुगल पठान। हारे जीते कसम कुरान॥
हिंजड़ चमक घर बैठे जाय। देखो मुआ वह साहब आय॥
चारो बरन छतीसो कोम। हलाखोर बस खोमो डोम॥
कैदीं छोड़ किया सब ठंढा। सौ के ऊपर ग्यारह गंडा॥

देवीं सेन से तात्पर्य मि० डेविसन से है।

पास ये वस्तु न होती थीं उन्हें इनके यहाँ से मिलती थीं। चारों दिन निमंत्रित सज्जनों के भोजन का भी प्रबन्ध रहा करता था। इस प्रथा को बा० गोपालचंद जी ने भी अपने समय तक निबाहा था। काशिराज इन्हें बहुत मानते थे, इससे मोरपंखी पर सवार होकर इनके कच्छे की शोभा देखने आते थे। यह काशीनरेश के महाजन थे तथा राज्य की अशर्फियाँ इनके यहां सुरक्षित रखने को रहती थीं, जिनके लिये इन्हें अगोरवाई मिलती थी। बा० फतेहचंद जी के श्वसुर-घराने की निस्संतान समाप्ति होने पर उस वंश की चौधराहट इन्हीं के वंश में चली आई थी, इसलिये बा० हर्षचंद बिरादरी वालों को बहुत मानते थे। बुढ़वा मंगल की भाँति होली के अवसर पर तथा अपने और बा० गोपालचंद के जन्म दिवसों पर बराबर बिरादरी की जेवनार तथा महफिल होती थी। पंचक्रोशी श्राद्धादि के बहाने भी वर्ष में बीसों बार बिरादरी तथा ब्राह्मणों का जेवनार करते थे। प्रायः नित्य ही दस-बीस जाति-भाई इनके साथ खान-पान में सम्मिलित होते थे। इन सब कारणों से बिरादरी में इनके वंश का बहुत मान था।

इस वंश में काशी की अग्रवाल जाति की चौधराहट चली आ रही है, इसलिये इस विषय में कुछ लिखना आवश्यक है। ऐसा ज्ञात हुआ है कि पछाही अग्रवाल जाति के पहले दो चौधरी होते थे। एक चौधराहट बा० हर्षचंद के ससुराल वाले वंश में थी, जिसके नष्ट होने पर उसके उत्तराधिकारी बा० हर्षचंद को वह रिक्थ क्रम में मिली थी। इन्होंने जाति-भाइयों का खूब आदर-सत्कार कर उन्हें अपने वश में रखा। प्रायः नित्य ही बीस-पचीस भाई इनके साथ ब्यालू में शरीक रहते थे। भारतेन्दु जी के समय में दूसरे चौधरी बा० शीतलप्रसाद जी और उनके भाई थे। इन लोगों के पिता बा० मोतीचंद तथा पितामह बा० खुशहालचंद तक चौधराहट होने का पता है। ये अन्तिम सभी लोग दीर्घ-जीवी थे और इनके पहले मछरहट्टा फाटक के किसी राजा जी के चौधरी होने का पता मिलता है। भारतेन्दु जी के वंश वाले अमीर थे और उनके प्रतिद्वन्द्वी चौधरी के यहाँ धनाभाव था, इससे पहले वंश की धाक जाति पर जम गई थी। भारतेन्दु जी को इस पर इतना गर्व था कि एक बार इन्होंने यहाँ तक कह डाला कि "हम पैर के अंगूठे से यदि किसी के माथे पर टीका काढ़ दें तो वह अग्रवाला हो जाय।" गर्वप्रहारी भगवान ने अपने भक्त की इस अहंता को मिटाने का अवसर ला दिया। दरभंगा वाले का प्रश्न छिड़ा जिसमें उसने बड़ा रुपया व्यय कर जाति में मिलने का प्रयास किया था। भारतेन्दु जी तथा बा० शीतलप्रसाद दोनों ही चौधरी जाति में मिलाने के पक्ष में हो गए पर जातिवालों ने

नहीं माना। यहाँ तक कि किसी बा० सुन्दरदास के यहाँ पंचायत बैठने लगी और जाति का एक चिट्ठा तैयार होने लगा। भारतेन्दु जी इतने पर भी अपनी बात पर डटे रहे, पर जब बा० बुलाकीदास जी ने उस चिट्ठे पर हस्ताक्षर कर दिया तब वे अपनी एकमात्र कन्या को न छोड़ सके और पाँच रुपये अपने ही ठाकुर जी को भेंट कर इन्होंने प्रायश्चित्त किया। बा० शीतलप्रसाद अपनी बात पर अड़े रहे, इसलिए वे जाति के बाहर रह गए। बा० शीतलप्रसाद तथा उनके भाई निस्संतान भी थे, इसलिये पछाही अग्रवालों की पूरी चौधराहट इसी वंश में रह गई।

बा० हर्षचंद की सवारी बड़े धूम-धाम से निकलती थी। पचास-साठ सिपाही, आसा, बल्लम, तलवार, बंदूक लिये साथ रहते थे। यह जामा-पगड़ी आदि पहिर कर तामजाम पर सवार होकर निकलते थे और आगे-आगे नकीब बोलता चलता था। इन्होंने बड़े दीवानखाने की एक मंजिल कुछ विवाद हो जाने के कारण एक ही रात्रि में उठवाई थी। कहा जाता है कि इसके ऊपर ठाकुर जी का स्वर्ण-कलश सुशोभित एक मन्दिर है जो नव कोटि नारायण नाम से प्रसिद्ध है। इनके समय में श्रीगोपाल मन्दिर के गोस्वामी गिरिधर लाल जी विद्वत्ता व चमत्कार-शक्ति के लिए प्रसिद्ध हो रहे थे, इसलिये ये भी उनके शिष्य हुए। वे महाराज इन पर बहुत स्नेह रखते थे तथा उनकी पुत्री श्री श्यामा बेटी जी भी इन्हें भाई के समान मानतीं और भ्रातृ-द्वितीया पर टीका काढ़ती थीं। बा० हर्षचंद वैसे ही गुरुभक्त शिष्य थे। इन्हीं गुरु जी की आज्ञा से वल्लभ-कुल के प्रथानुसार इन्होंने अपने यहाँ ठाकुर जी की सेवा (पधराई, श्री मदनमोहन जी की धातु-विग्रह युगल-मूर्त्ति की सेवा) की। इनके यहाँ सेवा होते सौ वर्ष से अधिक हो गए। जिस समय श्री गिरधर जी महाराज श्रीजी द्वार से श्री मुकुंदराय जी को काशी पधरा लाए थे, उस समय बारात आदि की तैयारी का कुल भार इन्हीं पर था, जिसे बड़े समारोह के साथ इन्होंने पूरा किया था। श्री मुकुंदराय जी की वार्ता में इसका पूरा वर्णन दिया है।

श्री गिरधर जी महाराज ने कार्तिक सुदी २, सं० १८९५ को बा० हर्षचंद के नाम एक मुख्तारनामा लिख दिया था। इससे जब वे काशी के बाहर पधारते थे तब मन्दिर का सारा कार्य इन्हीं के हाथ में रहता था। श्री श्यामा बेटी जी ने बा० गोपालचंद के नाम इसी प्रकार का एक मुख्तारनामा १४ मार्च, सन् १८५२ ई० को लिखा था। श्री गिरधर जी महाराज जब कभी बाहर पधारते थे तब इन्हें बराबर पत्र लिखते थे। आवश्यकता पड़ने पर इन पर वहाँ

से हुंडियाँ भी लिखते थे जिन्हें यह बराबर सकारते थे। एक बार श्री गिरिधर जी महाराज को चालीस सहस्र रुपये की आवश्यकता पड़ गई, तब उन्होंने बा० हर्षचंद से इसका प्रबन्ध कर देने को कहा। इन्होंने कोल्हुआ तथा नाटी इमली वाले दोनों बाग महाराज को तत्काल भेंट कर दिए कि इन्हें बेंच कर वह काम चला लें। उसमें से केवल कोल्हुआ का बाग ही चालीस सहस्र में बिक गया और नाटी इमली का बाग अब तक मन्दिर के पास 'मुकुंद विलास' के नाम से वर्तमान है।

मुकुंदराय जी के काशी पधारने पर मन्दिर का व्यय चलाने के लिये यहाँ के महाजनों ने बा० हर्षचंद को मुखिया बनाकर एक चिट्ठा खड़ा किया, जिससे काशी के सभी व्यापारी सवा पाँच आने सैंकड़े काट कर मन्दिर को देने लगे। मन्दिर का यह पैसा तो अब तक कटता है पर कोई मन्दिर को देते हैं तथा कोई अन्य धर्म-कार्य में लगा देते हैं। श्री गिरिधर जी महाराज ही ऐसे चरित्रवान् तथा चमत्कारशक्ति-पूर्ण थे कि उन्होंने इस विश्वनाथ पुरी में वैष्णवता की जड़ जमा दी। यह ऐसे सरल प्रकृति के थे कि गोस्वामी कुल की प्रथानुसार अपना जन्मोत्सव आदि तक न मनाते थे। बा० हर्षचंद ने बहुत आग्रह कर इसे आरम्भ किया, पर सब व्यय इन्हीं को उठाना पड़ता था, क्योंकि महाराज मन्दिर का एक पैसा भी अपने इस उत्सव के लिये नहीं लेना चाहते थे। अब यह उत्सव श्री मुकुंदराय जी के घर के सभी सेवक मनाते हैं।

गोपालमन्दिर के दोनों नक्कारखाने इन्हीं के यहाँ से बने हैं। इनमें एक तो बा० गोपालचंद जी के जन्म पर और दूसरा भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र जी के जन्म पर बनवाया गया था।

बा० हर्षचंद जी का बा० जानकीदास तथा जौनपुर के राजा शिवलाल दूबे से बहुत स्नेह था। इनका स्वभाव अत्यंत नाजुक तथा अमीरी था। घर में बाहर-भीतर फुहारे बने हुए थे, जिससे ग्रीष्म ऋतु में ये जहाँ बैठते थे, वहीं फुहारे छूटने लगते थे। एक बार बा० जानकीदास जी ने इन्हें बीमे का कार्य करने की सम्मति दी पर इन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि "अपनी जान को बखेड़े में कौन फँसावे और नावों की चिंता मे सब आनन्द कौन मिट्टी में मिलावे।" काशी में भारत सरकार ने इनकम टैक्स के सवा लाख रुपए वसूल करने की जो समिति बनाई थी, उसका प्रबंध इन्हीं के हाथ में था।

सन् १८३४ ई० में कम्पनी की ओर से काशी के महाजनों से व्यापार की व्यवस्था तथा सोना-चाँदी की खपत की कमी के कारण पूछे गए थे, जिसका उत्तर

इन्होंने दिया था। बा० राधाकृष्णदास ने प्रश्न तथा उत्तर स्वलिखित भारतेन्दु की जीवनी में प्रकाशित कियो है, जिसको तत्कालीन देश-दशा का कुछ चित्रण समझ, यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत किया जाता है :—

१ प्रश्न—१८१६ ई० से चाँदी और सोना की खरीद कम हुई है या अधिक और इसका कारण क्या है?

उत्तर—१८१६ ई० से चाँदी और सोने की खरीद बहुत कम हो गई है। चाँदी की खरीद में कमी का कारण यह है कि जब बनारस में टकसाल जारी थी, चाँदी का लेन-देन जारी था तो इससे भाव भी उसका मँहगा था और जब से टकसाल बन्द हुई तब से इसकी बिक्री कम हो गई, इससे भाव भी गिर गया।

सोने की खरीद कम होने का कारण यह है कि उस समय इस प्रान्त के लोग सुखी थे और देहाती लोग भी बड़ा लाभ उठाते थे, इसलिये सोने की बाहरी खरीदारी अधिक होती थी और भाव भी मँहगा था और अब चारों ओर दरिद्रता फैल गई है, तो सोने की खरीद कहाँ से हो।

२ प्रश्न—क्या कोई ऐसा दस्तूर नियत हुआ है जिससे चाँदी-सोना का लेन-देन कम होकर हुंडी और किसी दूसरे प्रकार का एवज-मुवावजः जारी हुआ है?

उत्तर—सोने-चाँदी के बदले में कोई दस्तूर हुंडी का जारी नहीं हुआ है, व्यापार की कमी, जिसका कारण चौथे प्रश्न के उत्तर में लिखा जायगा और भाव के गिरने से यह कमी हुई है।

३ प्रश्न—टकसाल बन्द होने से बाहरी सोना-चाँदी की आमदनी कम हो गई है या नहीं?

उत्तर—टकसाल बन्द हो जाने से एकबारगी बाहरी आमदनी सोने-चाँदी की कमी हो गई है।

४ प्रश्न—इस बात पर विचार करके लिखिए कि सन् १८१३ व १८१४ से अब तक का हुंडियावन का बड़े-बड़े हिसाबों में पर्ता फैलने के कमी के कारण व्यापार में अन्तर पड़ा है, या सन् १८१८ वा १८१६ में सोने-चाँदी की आमदनी की कमी से?

उत्तर—सन् १८१३ से १८२० वा १८२२ तक इस प्रांत के लोग बड़ा लाभ उठाते थे और हर तरह का रोजगार जारी था। और भाव हुंडियावन उस सन् से अब कम नहीं है; वरन् अधिक है, यद्यपि उन सनों में बनारस के पुराने सिक्के की चलन थी जिसकी चाँदी में बट्टा नहीं था। जब से फर्रुखाबादी सिक्का चला उसके बट्टा के कारण हुंडियावन का भाव हर देसावर में बढ़ गया। हाँ, इन दिनों

अवश्य फर्रुखाबादी सिक्का जारी रहने पर भी भाव हुंडियावन गिर गया है, रोजगार की कमी के कारण पर नीचे निवेदन करता हूँ:—

१—परम उपकारी कम्पनी बहादुर की सरकार से कि जो उपकार का भंडार और प्रजापोषण की खानि है सूद की कमी हो गई कि सन् १८१० तक सब लोग सरकार में रुपया जमा करके ६ रुपया सैकड़ा वार्षिक सूद लेते थे और पाँच रुपये से होते-होते चार रुपये तक नौबत पहुँच गई। प्रजा का काम कैसे चले?

२—अंग्रेज साहबों के कारबार बिगड़ जाने से, कि जिनकी ओर से हर जिलों में नील की बड़ी खेती होती थी और उससे जमींदारों को बड़ा लाभ होता था, जमीदारों को कष्ट है और खेती पड़ी रह गई।

३ अदालत के अप्रबन्ध और रुपया के वसूल होने में अदालत के डर के कारण कारबार देन-लेन महाजनी कि जिससे सूद का अच्छा लाभ था, एकदम बंद हो गया।

४—साहब लोगों के बहुत से हाउस बिगड़ जाने से बहुतेरे हिन्दुस्तानियों के काम, लाखों रुपया मारे जाने के कारण बन्द हो जाने से दूसरा काम भी नहीं कर सकते।

५—विलायत से असबाब आने और सस्ता बिकने के कारण यहाँ के कारीगरों का सब काम बन्द और तबाह हो गया।

६—सरकार की ओर से इस कारण से कि विलायत में रुई पैदा न हुई, यहाँ से रुई की खरीद हुई इससे भी कुछ लाभ था पर वह भी बन्द हो गई। इन्हीं कारणों से रोजगार में कमी हो गई है।

५ प्रश्न—चलन के रुपया की रोजगार के काम में आमदनी कलकत्ता से होती है या नहीं, यदि होती है तो उसका खर्च अनुकूल और प्रतिकूल समय में क्या पड़ता है?

उत्तर—कलकत्ता से बहुत रुपया चालान नहीं आता और यदि कुछ रुपया आता है तो लाभ नहीं होता वरञ्च बीमा और सूद की हानि के कारण घाटा पड़ता है। इसी से रुपया के बदले में हुंडी का आना-जाना जारी है।

द० बा० हर्षचंद

ता० २९ जुलाई, सन् १८३४ ई०

बा० हर्षचंद जी ने श्री जगन्नाथ जी का दर्शन करने को पुरी की यात्रा की थी और कलकत्ते में एक दिन प्रसिद्ध लाला बाबू के यहाँ मेहमान भी रहे थे। उनके 'श्रीकृष्ण चन्द्रमा जी' के मंदिर में प्रभूत ऐश्वर्य था। इनकी उपस्थिति

में ही बालभोग का प्रसाद सौ ब्राह्मण एक ही प्रकार का उपरना पहिरे हुए चाँदी ही के थालों में लाए थे जो सब फलाहारी था।

बा० हर्षचंद के दो विवाह हुए थे। पहला विवाह चंपतराय अमीन की पुत्री से हुआ था, जिनका उस समय ऐसा ऐश्वर्य था कि सोने के बर्तन बरते जाते थे। अब चंपतराय अमीन के बाग के सिवा इनका कोई चिह्न नहीं रह गया। इस विवाह से इन्हें कोई संतान नहीं हुई। इनका दूसरा विवाह बा० वृन्दावनदास की लड़की श्यामा बीबी से हुआ, जिनसे इन्हें पाँच संताने हुईं। दो कन्याएँ बचपन ही में जाती रहीं, शेष तीन का वंश चला। इन्हीं वृन्दावनदास से कोल्हुआ और नाटी इमली वाले दोनों बाग मिले थे, जिन्हें इन्होंने श्री गिरिधर जी महाराज को भेंट में दे दिए।

दूसरे विवाह से भी दो कन्याएँ ही होने पर तथा अवस्था अधिक हो जाने से यह पुत्र के लिए कुछ दुःखित रहते थे। एक दिन श्री गिरिधर जी महाराज ने इन्हें इस प्रकार उदास मुख देख कर प्रश्न किया और कारण जानने पर कहा कि तुम जी छोटा न करो, इसी वर्ष पुत्र होगा। उसी वर्ष मिती पौष कृष्ण १५, सं० १८९० को कवि बा० गोपालचन्द्र का जन्म हुआ। इस कारण तथा गुरु में अटल भक्ति रखने ही से इन्होंने कविता में अपना उपनाम गिरिधरदास रक्खा था। इसके अनन्तर इन्हें दो कन्याएँ हुईं।

बा० हर्षचंद की प्रथम पुत्री यमुना बीबी का जन्म भाद्रपद कृष्ण ८, सं० १८९२ को और छोटी पुत्री गंगा बीबी का जन्म भाद्रपद कृष्ण ४, सं० १८९४ वि० को हुआ था। पुत्र तथा पहली पुत्री का तो इन्होंने स्वयं विवाह किया था और गंगा बीबी का उनके बाद बा० गोपालचन्द्र ने किया था। यमुना बीबी का विवाह राजा पट्टनीमल बहादुर के पौत्र राय नृसिंहदास से हुआ था, जिनके एक-मात्र पुत्र राय प्रह्लाददास हुए। इनकी एक कन्या सुभद्रा बीबी थीं, जिनका विवाह साव घराने के एक रईस बा० बैद्यनाथ प्रसाद से हुआ था। इनके पुत्र यदुनाथ प्रसाद उर्फ भैया जी थे, जिनके दो पुत्र अद्वैत प्रसाद और जगन्नाथ प्रसाद वर्तमान हैं। राय प्रह्लाददास के पुत्र राय कृष्णदास जी खड़ी बोली के सुकवि तथा चित्रकला के अच्छे ज्ञाता हैं। दूसरी कन्या गंगा बीबी का विवाह बा० गोपालचन्द्र जी के समय मिर्जापुर के एक रईस बा० कल्याणदास से हुआ। इन्हें दो पुत्र और एक कन्या हुई जिनका नाम बा० जीवनदास, बा० राधाकृष्णदास और लक्ष्मी देवी था। प्रथम बचपन ही में जाते रहे, द्वितीय हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक और कवि हुए, जिनकी जीवनी काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

की गई है। इनके एक मात्र पुत्र बा० बालकृष्णदास की सन् १९४९ ई० में मृत्यु हो गई।

बा० गोपालचंद्र का विवाह दीवान राय खिरोधरलाल की कन्या पार्वतीदेवी से सं० १९०० में बड़े समारोह के साथ हुआ। बारात इतनी लम्बी निकली थी कि वर घर ही पर था कि बारात का निशान समधी साहब के शिवाला वाले घर तक जा पहुँचा था, जो इनके गृह से दो मील दूर था। राय साहब ने भी आदर-सत्कार में खूब उदारता दिखाई थी, यहाँ तक कि कुँओं में चीनी के बोरे छुड़वा दिए थे।

बा० हर्षचंद को भी हिन्दी से बड़ा प्रेम था और 'गिरिधरचरितामृत' के प्रणेता बा० हरिकृष्णदास टकसाली ने लिखा है कि ये कविता भी करते थे, पर अब तक इनकी कविता का अंशमात्र भी देखने में नहीं आया।

बा० हर्षचंद जी का स्वर्गवास ४२ वर्ष की अवस्था में सं० १९०१ वि० के वैशाख कृष्ण १३ को हुआ। उस समय इनके पुत्र बा० गोपालचंद जी की अवस्था ग्यारह वर्ष की थी, इसलिए अपनी मृत्यु के दस दिन पहले इन्होंने वैशाख बदी ३, सं० १९०१ को एक वसीयतनामा लिखा, जिसकी नक़ल नीचे दी जाती है। इसके अनुसार इनके मित्र बिज्जीलाल कोठी के प्रबंधकर्ता नियत हुए, परन्तु प्रबंध संतोषदायक न होने से बहुत कुछ हानि हुई। बा० गोपालचंद के नाना बा० वृन्दावनदास तथा श्वशुर राय खिरोधरलाल ने बिज्जीलाल के विरुद्ध अदालती कारवाई की पर वसीयतनामे के कारण वे कुछ न कर सके। बा० गोपालचंद दो वर्ष बाद स्वयं ही सब कार्य देखने लगे, जिससे फिर कोई कुछ गड़बड़ न कर सका। ८७ वर्ष पहले की अदालती हिन्दी का नमूना होने से यहाँ इस वसीयतनामे की प्रतिलिपि दे दी जाती है :—

श्री गिरिधर लाल जी सहाय

श्री ठाकुर जी

नायब मुहाफ़िज़ दफ्तर
मुक़ाबला: मुहम्मद अली
नक़ल मुताबिक़ असल
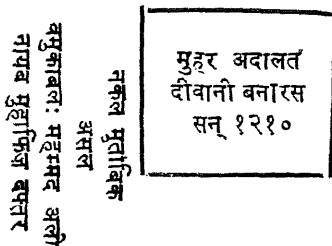
मुहर अदालत दीवानी बनारस सन् १२१०

स्टाम्प आठ आना

नकल रामचन्द्र

लि० हरखचंद बेटा बाबू फतेहचंद साह के पोता अमीचंद साह के अगरवाले आगे हमने अपने होस-हवास सों शरीर अनित जान कर अपना वसीयतनामा इस भाँति किया कि जहाँ ताई श्री जी हमको अच्छा रखें तहाँ ताईं हम मालिक हैं बाद हमारे बेटा हमारा चि० गोपालचंद मालिक देना लहना जायदाद हियाँ व दिसावर की माल असबाब मनकूला गैर मनकूला थावर जंगम सबका मालिक हमरा बेटा है बेटे की उमर छोटी समझ के मोहतमीम काम को वास्ते हिफाजत माल असबाब वगैर: व हवेली लहना देना मामिला अदालत की वा सब तरह सो हिफाजत लड़के मजकूर की बिजीलाल दोस्त हमारा जो है सो करै बसलाह समधी राय खिरोधरलाल के व हमारे हियाँ के गुमास्ते वा अमले वगैरे जो कोई बिजीलाल के कहे मूजिब न चलें उसको न रखें वा इस मुताबिक लीखने के अमल में लावें जव बेटा हमारे वरस एकइस का सब तरह सों होसियार होय तब उसको समझाय दें वा छोटी वेटी हमारी गंगो का बेयाह जिस मूजिब जमुना का भया है उस मूजिब कर दें गहना, कपड़ा-बासन वगैरे घर में तयार है जो कुछ नगदी लगै सो लगाय दें मिती बैशाख वदी ३ सं० १९०१ ।

लिखा दमोदरदास नकलनवीस ने हिंदी हर्फ में

द० खास
मुकाविला किया जगन्नाथप्रसाद खजांची

साखी हरकिसुनदास अगरवाला

कबूलियत बा० हरखचंद जी की साखी छेदीलाल अगरवाला

साखी बेनीराम नागर कबूलियत बा० हरखचंद जी

कबूलियत हरखचंद जी की साखी पुनवासी खानसामा

साखी ईश्वर सेंव नागर कबूलियत बाबू हरखचंद जी

कबूलियत बाबू हरखचंद जी बाकलम बेनीराम

महाकवि बा० गोपालचन्द्र उपनाम 'गिरिधरदास'

जिस प्रकार इन महाकवि का जन्म श्री गिरिधर जी महाराज की कृपा से हुआ था उसी प्रकार उनके शुभाशीर्वाद ही के फलानुरूप इनकी प्रतिभा तथा ज्ञान का प्रस्फुटन हुआ था। बाल्यकाल में ये बड़े ही चंचल स्वभाव के थे। एक बार इन्होंने राय रत्नचन्द्र बहादुर के पालतू कबूतरों का दर्बा, जो विशेषत: इन्हीं के कारण बहुत सुरक्षित रखा जाता था, छत तथा मुँड़ेरा डाँक कर खोल दिया और सब कबूतरों को, जो संख्या में कई सौ थे तथा बहुमूल्य थे, उड़ा दिया। रायसाहब के सोना गुलाम ने, जो इन्हीं कबूतरों पर नौकर था, बड़ा क्रोध किया

और इन्हें मारने के लिए दौड़ा। यह भागकर हाँफते हुए अपने पिता बा० हर्षचंद के पास पहुँचे, जिन्होंने इनकी रक्षा की और इन्हें धमकाया भी। इनकी इस चपलता से उदास चित्त होकर यह इन्हें साथ लेकर गोस्वामी गिरिधर लाल जी महाराज के पास गए और यह वृत्तान्त उन्हें सुनाया। महाराज ने कुछ मुस्करा कर कहा कि इसके औद्धत्य से तुम दुखी मत हो, शिक्षा के लिए भी अधिक क्लेश मत उठाओ, यह आपही अच्छा विद्वान् और कवि होगा तथा तुम्हारे वंश का नाम बढ़ावेगा।

वास्तव से किसी धनाढ्य पुरुष के एकमात्र पुत्र का लालन-पालन कितने लाड़-चाव से होता है यह सभी जानते हैं। उस पर यह ग्यारह वर्ष ही की अवस्था में पितृ-स्नेह से वंचित हो गए। दो वर्ष बाद ही यह अपने प्रभूत ऐश्वर्य की देख-रेख तथा प्रबन्ध करने में लग गए। इस प्रकार इनकी शिक्षा का कुछ भी प्रबन्ध न हो सका; पर अपने गुरुवर के आशीर्वाद तथा सहवास से इनकी प्रतिभा ऐसी विकसित हुई कि नियमपूर्वक शिक्षा न प्राप्त करने पर भी यह संस्कृत तथा भाषा के अनुपम विद्वान हुए तथा दोनों ही के सुकवि हुए। "यौवनं धन संपत्तिः प्रभुत्वम्" रहते भी अविवेकता का लेश भी नहीं था और यह ऐसे सच्चरित्र थे कि लोग इन पर भक्ति रखते थे। काशी के कमिश्नर मि० गबिन्स ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि बा० गोपालचन्द्र "परकटा फरिश्तः है।" यह बड़े ही सरल स्वभाव के थे और इन्हें क्रोध कभी नहीं आता था। यह गवर्नमेंट के विश्वासपात्र थे इसी से बड़े बलवे के समय बनारस रेजीडन्सी का कीमती सामान इन्हीं के यहाँ रखा गया था। आर्म्स ऐक्ट पास होने पर इन्हें तलवार बन्दूक मिला कर ४८ शस्त्र रखने की आज्ञा मिली थी।

विद्या की इनकी अभिरुचि ऐसी थी कि प्रचुर धन व्यय करके इन्होंने अपने घर सरस्वती-भवन स्थापित किया जिसमें बहुत-सी अलभ्य तथा अमूल्य पुस्तकों का संग्रह है। इन ग्रन्थों का पहाड़ बना कर तथा उस पर सरस्वती जी की मूर्ति स्थापित कर आश्विन सप्तमी से नवमी तक उत्सव मनाया जाता था। इस पुस्तकालय का मूल्य भारतेन्दु जी को डा० राजेन्द्रलाल मित्र एक लाख रुपये दिलवाते थे, पर उन्होंने नहीं दिया। इनकी कवित्व शक्ति जन्मसिद्ध थी और प्रतिभा ईश्वरप्रदत्त थी। यही कारण था कि शिक्षा, मनन तथा अभ्यास की कमी होते भी तेरह वर्ष की अवस्था ही में इन्होंने वाल्मीकीय रामायण ऐसे बड़े ग्रन्थ का छन्दोबद्ध भाषानुवाद सं० १९०३ वि० में समाप्त कर दिया था। संस्कृत में

कई स्तोत्र आदि लिखे हैं, जो प्रसिद्ध हैं। ये उर्दू की भी कविता करते थे, पर बहुत कम। उर्दू की इनकी केवल दो ग़ज़लें मिली हैं। एक शेर में यह कहते हैं:—

दास गिरधर तुम फ़कत हिन्दी पढ़े थे खूब सीं।
किस लिए उर्दू के शायर भी गिने जाने लगे।।

इनकी कृतियों की विवेचना आगे की जायगी।

इनमें धार्मिक तथा सामाजिक विचार कैसे थे, इस पर भारतेन्दु जी ने स्वयं अपने 'नाटक' नामक ग्रंथ में लिखा है, जिसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

"उनके सब विचार परिष्कृत थे कि वैष्णव व्रत पूर्ण के हेतु अन्य देवता मात्र की पूजा और व्रत घर से उन्होंने उठा दिया था। लेफ्टिनेन्ट गवर्नर टौमसन साहब के समय काशी में लड़कियों का जब पहला स्कूल हुआ तो हमारी बड़ी बहिन को इन्होंने उस स्कूल में प्रकाश्य रीति से पढ़ने बिठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत कठिन था, क्योंकि इसमें बड़ी ही लोक-निन्दा थी। हम लोगों को अंग्रेजी शिक्षा दी। सिद्धान्त यह कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको स्पष्ट बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है।"

कविता तथा भगवत्सेवा का इन्हें व्यसन-सा था। यह बहुत सबेरे उठते तथा नित्य-कृत्य से निवृत्त होकर कुछ कविता लिखते थे। यदि बीच ही में कुछ ध्यान आ गया तो उसे लिखकर तब दूसरा कार्य करते। कम से कम पाँच भजन बनाए बिना भोजन नहीं करते थे। कविता से निपट कर श्री ठाकुर जी की सेवा में स्नान करते तथा पूजन करते। इसके अनन्तर श्री मुकुन्दराय जी का दर्शन करने जाते और लौट कर कविता लिखते। दस-ग्यारह बजे भोजन करने के बाद दरबार लगता और घर का काम-काज देखा जाता था। दोपहर को कुछ देर सोते और उसके उपरांत तीसरे पहर के दरबार में कवि-कोविदों का आदर-सत्कार तथा काव्य-चर्चा होती थी। इस प्रकार इनका प्रायः समग्र दिन सेवा-पूजा तथा कविता-लेखन में बीतता था।

इन्हें पुष्पों का बड़ा शौक था। संध्या तथा रात्रि में भी जहाँ क़लम कागज़ रक्खा रहता वहाँ गुच्छे गजरे भी रक्खे रहते थे। पानदान, इत्रदान, के पास सुगंधित शमःदान भी रहता था। रात्रि में भी कुछ कविता करते थे। चौखंभा वाले अपने मकान में श्री ठाकुर जी के मंदिर के पीछे उन्हीं के निमित्त एक पाईं बाग बनवाया था और बीच-बीच में छोटी-छोटी नालियाँ बना कर उसमें फुहारे लगवाए थे। बाग का भी इन्हें शौक था और

इसी से रामकटोरा वाले बाग के सामने के तालाब का इन्होंने जीर्णोद्धार कराया था। यह तालाब चारों ओर से पक्का है और पहले इसमें जल भी भरा रहता था। पर नल ऊँची हो जाने से अब पानी कम रहता है। इसी तालाब पर एक मंदिर बनवा कर देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित करने का इनका विचार था, पर वह पूर्ण न हो सका। मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर बनी थीं। सन् १८६४ ई० की कृषि-प्रदर्शनी में इनके बाग के फूलों पर पुरस्कार तथा सनद भी मिली थी।

गंभीरता के साथ-साथ स्वभाव विनोदप्रिय भी था। अपनी एक चिड़चिड़ही मौसी पर निम्नलिखित कविता बनाई थी :—

> घड़ी चार एक रात रहें से उठीं घड़ी चार एक गंग नहाइत है।
> घड़ी चार एक पूजा पाठ करी घड़ी चार एक मन्दिर जाइत हैं॥
> घड़ी चार एक बैठ बिताइत है घड़ी चार एक कलह मचाइत है।
> बलि जाइत है ओहि साइत की फिर आइत हैं फिर आइत है॥

अपने घर के श्री ठाकुर जी की सेवा और दर्शन का इन्हें ऐसा अनुराग था कि इन्होंने कभी यात्रा का विचार ही नहीं किया। चरणाद्रि में श्री महाप्रभु जी के दर्शन को कभी जाते तो दूसरे ही दिन लौट आते थे। यहाँ तक कि मृत्यु के समय जब इन्होंने अन्य सभी मोह-विकार को तृणवत् त्याग दिया था तब भी ठाकुर जी के सामने यही कहा था कि "दादा तुम्हें बड़ा कष्ट होगा।" पाँच वर्ष की अवस्था थी तब मुंडन के लिए मथुरा तथा बैजनाथ जी गए थे। भारतेन्दु जी के जन्म के अनन्तर सं० १९०७ वि० में पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिये यह एक वार गया गए थे। पन्द्रह दिन का गया का विचार करके यह गए पर श्री ठाकुर जी के दर्शन-अर्चन न मिलने से यह ऐसे विकल हुए कि तीन ही दिन वहां ठहर कर लौट आए। वैष्णवधर्म पर ऐसा विश्वास था कि इन्होंने—

> मेटि देव देवी सकल, छाँड़ि सकल कुल रीति।
> थाप्यो गृह में प्रेम जिन, प्रकट कृष्ण पद प्रीति॥

इनके सरल स्वभाव तथा श्री ठाकुर जी में अनुराग ही के कारण तत्कालीन साधु, महात्माओं की भी इन पर कृपा रहती थी और यह भी उनकी सेवा-शुश्रूषा कर उन्हें प्रसन्न रखते थे। राधिकादास जी, रामकिंकर जी, तुलसीराम जी, भगवतदास जी आदि उस समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। यह लोग रामानुजी संप्रदाय के संत थे और इनसे बहुत स्नेह रखते थे। एक दिन बा० गोपालचन्द्र जी ने विनोद में किसी महात्मा से कहा कि भगवान श्री कृष्णचन्द्र में भगवान

श्री रामचन्द्र जी से दो कलाएँ अधिक थीं अर्थात् इनमें सोलहों कलाएँ थीं। उक्त महानुभाव ने उत्तर दिया, "जी हां, चोरी और जारी।" कभी-कभी इन महात्माओं की कथा भी बड़े समारोह के साथ इनके यहाँ होती थी।

बुढ़वा मंगल का मेला यह भी अपने पिता के समान ही बड़े समारोह से मनाते थे। जाति-भाइयों को निमंत्रित करते और उन लोगों में गुलाबी रंग के पगड़ी-दुपट्टे वितरित करते थे। एक वर्ष की घटना है कि यह कच्छे के साथ के बजड़े में सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे और छत पर लोग बैठे हुये थे। सन्ध्या से निवृत्त होकर वह ज्यों ही ऊपर आए कि सभी लोग प्रतिष्ठा के लिए खड़े होकर एक ओर हो गए। इस कारण नाव एकाएक एक ओर कुल बोझ आ जाने से उलट गई और सभी लोग जलमग्न हो गए। यह घटना चौसट्ठी घाट पर हुई थी जहाँ जल बहुत गहरा है। बा० गोपालचन्द्र की बड़ी पुत्री भी उसी नाव पर थी। यह स्वयं तैरना भी नहीं जानते थे पर उस अशरण-शरण की कृपा ने सभी को बचा लिया। यहां तक कि सब डूबी हुई वस्तुएँ, घड़ी, यंत्र आदि भी मिल गईं। कवित्व-शक्ति इस अवगाहन से चैतन्य हो उठी और उन्होंने तुरन्त एक पद बनाया जिसकी अंतिम पंक्ति यों है:—

"गिरिधरदास उबारि दिखायो भवसागर को नमूना।"

इस मेले के सिवा अन्य त्योहारों तथा अपने और पुत्रों के वर्ष-गाँठों पर भी ये जलसे कर जाति-भाइयों का सत्कार किया करते थे। इसी प्रकार सुकवियों, लेखकों तथा विद्वानों का भी खूब आदर-सत्कार करते थे। इनकी सभा सरदार कवि, बाबा दीनदयाल गिरि, पं० ईश्वरदत्त जी 'ईश्वर', पं० लक्ष्मीशंकर व्यास, कन्हैयालाल लेखक, माधोराम जी गौड़, गुलाबराय नागर तथा बा० बालकृष्ण दास टकसाली आदि से सुशोभित रहती थी। एक बार ठाकुर कवि के शिष्य विश्वेश्वर शर्म्मा मिश्र 'ईश्वर' जी कवि को एक चश्मे की आवश्यकता हुई तो आप एक कवित्त बना लाए जिसका अन्तिम चरण यों है—

खसमा मुखीं के मुख भसमा लगाइबे को,
एहो धनाधीस हमें चाहत एक चसमा।

इन्हीं 'ईश्वर' कवि ने भारतेन्दु जी के जन्म पर श्रीमद्भागवत की पुस्तक के लिए प्रार्थनापत्र संस्कृत-हिन्दी दोनों भाषा की कविता में लिख कर दिया था और बा० गोपालचन्द्र जी ने बड़े आदर तथा श्रद्धा से उक्त पुराण उन्हें दिया था। उक्त पत्र कविवचनसुधा के जि० २, नं० २१ में प्रकाशित किया गया था।

'शंभु' उपनाम के एक कवि ने एक अलंकार-ग्रंथ ही स्यात् इनके लिये बनवाया था, जिसके कुछ पद प्राप्त हैं। एक छंद की अन्तिम पंक्ति इस प्रकार है—
"कहै 'संभु' महाराज गोपालचन्द जू धरमराज की सभा ते सभा रावरी सरस है।"

बा० गोपालचन्द्र जी ने स्वरचित बलराम कथामृत के आरम्भ में देवताओं द्वारा विष्णु भगवान को चौरान्नबे बरवै छंदों में 'स्तुति आभूषण' भेंट कराया है—

इमि अस्तुति—आभूषण रचि सुर वृन्द।
दियो कियो तेहि धारन हरि सानंद॥

इसी स्तुति आभूषण की स्तुति-प्रकाशिका नाम से सरदार कवि ने विस्तृत व्याख्या की है। इसकी हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल सं० १९१५ है। इस टीका के रचनाकाल का दोहा यों है—

लोक विभू ग्रह संभु सुत, रद सुचि भादो मास।
कृष्ण जन्मतिथि दिन कियो, पूरन तिलक विलास॥

बा० गोपालचन्द्र को भाँग पीने का कठिन व्यसन लग गया था और वह इतनी अधिक भाँग पीने लगे थे कि अंत में इसी ने इनका प्राण हरण कर लिया। इसी व्यसन के कारण जलोदर रोग से यह ग्रस्त हो गए और गंगा सप्तमी को वैशाख सुदी ७, सं० १९१७ वि० को इनकी मृत्यु हो गई।

कविवर बा० गोपालचन्द्र कविता में गिरिधर दास, गिरिधारन, गिरिधर उपनाम रखते थे। इनमें एक विशेषता थी कि यह इच्छानुसार सरल तथा क्लिष्ट दोनों ढंग की कविता करने में सिद्धहस्त थे। गर्गसंहिता आदि ग्रंथों में यह सरल शैली पर कथा कहते चले गए हैं पर जब जरासंध-वध महाकाव्य, भारती भूषण आदि ग्रंथों में अपना काव्य-कौशल दिखलाया है तो यमक, अनुप्रास, श्लेषादि अलंकारों से पद्यों को इतना चमत्कृत किया है कि उन्हें किसी-किसी स्थल पर समझना कठिन हो जाता है। इन्हीं अलंकारों के कारण कहीं-कहीं ऐसे असाधारण शब्दों का प्रयोग किया है कि साधारण हिन्दी कोषों में उनका अर्थ भी नहीं मिलता। यमक और अनुप्रास की छटा इनकी कविता में जैसी आई है वैसी अन्यत्र नहीं मिलती। यह विद्वान् थे और इनकी प्रतिभा भी अलौकिक थी। इन्होंने अलंकार, रस आदि पर रीति-ग्रंथ भी लिखे हैं। कविता करने का इनका अभ्यास इतना बढ़ा-चढ़ा था कि सत्ताइस वर्ष की छोटी अवस्था ही में मृत्यु हो जाने पर भी इसी बीच इन्होंने बीस सहस्र से अधिक पद बना डाले।

यह सहृदय भी थे पर इनकी कविता में विद्वत्ता तथा काव्यकला का जितना परिचय मिलता है उतना इनकी सहृदयता का नहीं मिलता। संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० शिवनाथ जी मनीषानंद ने स्व० बाबू कृष्णचन्द्र जी से इनकी भी कुछ कविता सुनकर कहा था कि यह हिन्दी में नैषध की कोटि की कविता करते थे। अस्तु, अब इनकी कविता के विषय में विशेष न लिखकर इनकी रचनाओं का विवरण देते हुए उनमें से प्रधान पर कुछ विवेचना लिखी जायगी।

बा० गोपालचन्द्र को प्रथम पत्नी पार्वती देवी से चार सन्तानें हुई थीं, जिनके नाम अवस्थानुसार मुकुन्दी बीबी, बा० हरिश्चन्द्र, बा० गोकुलचन्द्र तथा गोविन्दी बीबी था। प्रथम कन्या का विवाह इन्होंने स्वयं साहू घराने के प्रसिद्ध धनाढ्य तथा संभ्रांत रईस बा० जानकीदास के द्वितीय पुत्र बा० महावीर प्रसाद से किया था। इन्हीं महावीर प्रसाद के बड़े भाई राजा जी थे, जिनके यहाँ गिन्नियाँ सुखलाई जाती थीं, गलाए हुए बहते सोने में कागज की नाव चलाई जाती थी, इत्यादि। इस प्रकार की अनेक कथाएँ इनके विषय में सुनी जाती हैं। ये दोनों भाई निस्संतान मर गए और इनका वंश समाप्त हो गया, जिससे अतुल धन की स्वामिनी होते हुए भी मुकुन्दी बीबी अपने पिता के घर पर आकर रहने लगीं। अन्य तीनों संतानों का विवाह पीछे से हुआ था, जिसके प्रबन्धक इन लोगों के फूफा राय नृसिंह दास थे। भारतेन्दु जी का विवाह शिवाले के रईस बा० गुलाबराय की कन्या श्रीमती मन्नो देवी से, बा० गोकुलचन्द्र का बा० हनुमानदास की कन्या श्रीमती मुकुन्दी देवी से तथा गोविन्दी बीबी का पटना के रईस राधाकृष्णदास रायबहादुर से हुआ था। केवल बीच को छोड़कर अन्य दोनों विवाह बड़े धूमधाम से हुए थे। गोविन्दी बीबी के एकमात्र पुत्र राय गोपीकृष्ण, बी० ए० पचीस वर्ष ही की अवस्था मे काल-कवलित हो गए।

प्रथम स्त्री पार्वती देवी की मृत्यु पर उसी वर्ष सं० १९१४ के फाल्गुन में बा० गोपालचन्द्र ने बा० रामनारायण की कन्या श्रीमती मोहन बीबी से दूसरा विवाह किया, जिससे इन्हें दो संतानें हुईं पर कुछ ही दिनों की होकर जाती रहीं। मोहन बीबी की मृत्यु माघ कृ० १०, सं० १९३८ को हुई थी।*

रचनाएँ

पूज्यपाद भारतेंदु जी का एक दोहा इस प्रकार है—

जिन श्री गिरिधरदास कवि, रच्यो ग्रंथ चालीस।
ता सुत श्री हरिचंद को, को न नवावै सीस॥

*यह तिथि 'विद्यार्थी' तथा 'चन्द्रिका' पत्रिकाओं (सं० १९३८) में दी हुई है।

इससे इतना पता लगता है कि बा० गोपालचन्द्र जी ने चालीस ग्रंथ लिखे थे, जिनमें कुछ का अस्तित्व है, कुछ का नाम ज्ञात है और बाकी का कुछ भी पता नहीं है। जिनका अस्तित्व है, उनका परिचय पहले दिया जाता है।

१—जरासंध-वध महाकाव्य—यह वीररसपूर्ण महाकाव्य है, जिसके केवल साढ़े दस सर्ग प्राप्त हैं। इस अपूर्ण ग्रन्थ को भारतेन्दु जी ने सं० १६३१ तथा ३२ में सन् १८७५ की हरिश्चन्द्र चंद्रिका खण्ड दो में बनारस लाइट यंत्रालय में लीथो में छापकर प्रकाशित किया था। इसके अनंतर पूरे पचास वर्ष बाद इसका दूसरा संस्करण श्री कमलमणि ग्रंथमाला कार्यालय, काशी द्वारा प्रकाशित किया गया है, जो अब प्राप्त है। पुराने संस्करण की केवल कुछ सुरक्षित प्रतियाँ कभी दिखला जाती हैं। इस काव्य की कथा में कंस-वध पर क्रुद्ध होकर जरासंध का मथुरा पर चढ़ाई करना, दोनों पक्ष की सेनाओं के वीरों का वर्णन, मथुरा का घेरा, युद्धारंभ और पश्चिम तथा उत्तर के द्वारों पर की लड़ाई का वर्णन आया है। अंतिम एकादश सर्ग अपूर्ण था, जिसे इस ग्रंथ के लेखक ने पूरा किया है। संस्कृत के सर्ग-बंध महाकाव्य के रूप में ही इसकी रचना हुई है। यह वर्णनात्मक काव्य है, इससे कथा भाग इसमें कम है। सैन्य-संचालन, वीरों की दर्पोक्तियाँ, सैन्य-चतुरंग के वर्णन आदि से काव्य भरा है। यमक आदि से ग्रंथ परिप्लुत है। गजबंध, अश्वबंध आदि चित्र-काव्य भी हैं। वीर-रसपूर्ण होते हुए भी इसमें शब्दों के तोड़ने-मरोड़ने, पिच्ची करने का प्रयास नहीं है, तिस पर भी ओज में कमी नहीं आने पाई है। इन ग्यारह सर्गों में ७०० के लगभग पद हैं। चतुरंग पंचक नाम से अश्व, हाथी, रथ, पदाति के पाँच-पाँच कवित्त अलग पुस्तकाकार सन् १८६६ ई० में भारतेन्दु जी की आज्ञा से गोपीनाथ पाठक ने बनारस लाइट छापाखाना में छापा था। उदाहरण—

[निर्मात्रिक चित्र, छप्पय]

फरफर फरकत अधर चपल हय चरन चपल सम।
नयन दहन बतरनव समद तन लखत अपर जम॥
परम धरमधर धरम करम कर सरस गरम रन।
धरत कनकमय बरन परम बल नदत सजल घन॥
गरधर हरसम जस जग फबत नवत सकल तर बर जबर।
पर धरत अचल हलचल करत टरत सभय बनकर बबर॥

[कवित्त]

सोर तमचोर को अथोर फैलो चारों ओर,
दुरी तम सैन ज्यों कुमति बुध दंडिता।
कंज कैदखाने सों निकलि चले अलि वृन्द,
पति दोसा दोस सों सरोस भई खंडिता॥
'गिरिधर दास' कहै सकुची कुमोदिनी यों,
देखि पर पुरुष लजात जैसे पंडिता।
बरुन अरुनताई छाई छिति छोरन लौं,
बिंबलौं तरनि बिंब प्राची करी मण्डिता॥

[छप्पय]

सूर-सुवन-सुत सूर-सूर दुति चल्यो सूर बर।
कुंडल मीन अकार कमठ सम धरे चरन कर॥
सित बराह तिय ख्यात सुजस जरसिंह कोपधर।
सँग भट बावन सहस सबै भृगुपति सम धनुधर॥
अभिराम बीर बलराम को बीर धीर बुध-मुकुट-मनि।
पर कों न मिलत कलकी घड़ी संगर जाके संग ठनि॥

[कवित्त]

कज्जल सो रँग मोहैं सज्जल जलद जोहि,
उज्जल बरन बर रदन सोहावते।
झूल मखतूल की कुसुंभन सों बोरी मनो,
कुंभन सों धुव धाम कुंभन गिरावते॥
जंभ अरि-बाहन अचंभ भरे जोहि जिन्हैं,
दंभ भरे रंभ खंभ चीरि महि नावते।
अकरि अकरि करि डकरि डकरि बर,
पकरि पकरि कर सिक्कर फिरावते॥

२—भारती भूषण—यह अलंकार का एक अत्युत्तम ग्रंथ हैं। इसमें एक-एक दोहे में लक्षण तथा एक-एक में उदाहरण दिया गया है। इससे लक्षणों का अच्छो प्रकार से स्पष्टीकरण हो गया है। इसमें ३७८ दोहे हैं। जो हस्तलिखित प्रति मेरे सामने है, वह सं० १९१० की लिखी हुई है। यह कवि के समय की लिखो हुई है, इससे यह ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का रचनाकाल भी वही है। इसकी

एक छपी प्रति भी है जो अस्सी-नब्बे वर्ष पुरानी है। उदाहरण के लिये दो दोहे उद्धृत किए जाते हैं। असंगति अलंकार का लक्षण और उदाहरण—

काज हेतु इन दुहुँन की असंभाव्यता यत्र।
अति विरुद्ध जानी परै प्रथम असंगति तत्र॥
सिंधु जनित गर हर पियो मरे असुर समुदाय।
नैन बान नैनन लग्यो भयो करेजे घाय॥

३—भाषा व्याकरण—भाषा के पद्य विषयक कुछ नियमों का विचार इस पद्य में किया गया है। यह पुस्तक खड्ग विलास प्रेस में सन् १८८२ ई० में छपी थी। इसमें १२५ पद हैं। उदाहरण—

बहुधा कवि की रीति हलंतहि उकारान्त करि।
बरनहिं पै नहिं अपर अर्थ जहँ होइ तहाँ परि॥
रामहि जैसे रामु होइ धन धनु नहिं होई।
राम रामु दोउ शुद्ध अशुद्ध सुधनु है सोई॥
यह ह्रस्व उकारांतहि लखौ सब विभक्ति में सुबुध जन।
सोउ एक बचन में होत है तहँ न होत जहँ बहुबचन॥

४—रस रत्नाकर—इसमें हाव-भावादि वर्णन है। यह अपूर्ण था और भारतेन्दु जी ने इसे पूर्ण करने के विचार से 'हरिश्चन्द्र' मेगजीन में निकालना आरम्भ किया। इसका साथ-साथ संपादन करते हुए नायिकाभेद, जो नहीं लिखा गया था, भी देते जाते थे और उदाहरण में अपनी तथा अपने पिता की रचनाओं को देते थे। यह अपूर्ण ही रह गया। 'हरिश्चन्द्र' मेगजीन नं० ६ से एक उदाहरण उद्धृत किया जाता है।

जाहि विवाह दियो पितु मातु दै पावक साखि सबै जग जानी।
साहब सो 'गिरिधारनजू' भगवान समान कहैं मुनि ज्ञानी॥
तू जो कहै वह दच्छिन हैं तो हमै कहा बाम है बाम अयानी।
भागन सों पति ऐसो मिलै सबहीन को दच्छिन जो सुखदानी॥

५—ग्रीष्म वर्णन—इसका विषय इसके नाम से ही ज्ञात होता है। भारतेन्दु जी ने इसे स्वरचित भूमिका सहित 'हरिश्चन्द्र' मेगजीन के भाग १ संख्या ८ में प्रकाशित किया है। उदाहरण—

जगह जराऊ जामें जड़े हैं जवाहिरात,
जगमग जोति जाकी जग लौं जमति है।
जामें जदुजानि जान प्यारी जातरूप ऐसी,
जगमुख ज्वाल ऐसी जोन्ह सी जगति है।
'गिरधरदास' जोर जबर जवानी को है,
जोहि जोहि जलजहू जीव में जकति है।
जगत के जीवन के जियसों चुराय जाय,
जोए जोषिता कों जेठ जरनि जरति है॥

६—मत्स्य कथामृत—इसम मत्स्यावतार की कथा संक्षेप में कही गई है। इसमें १५४ पद हैं और पाँच प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है। यह सं० १९०६ के भाद्रपद में समाप्त हुआ था।

७—कच्छप कथामृत—इसमें कच्छप देव की कथा विस्तार-पूर्वक कही गई है। चौदह प्रकार के छंदों के ४२५ पदों में यह ग्रंथ सं० १९०८ की कार्तिक वदी ८ को समाप्त हुआ था।

करन चहत जस चारु कछु कछुवा भगवान को।
करि हैं नंदकुमार अपने चरित महान को॥

८—वाराह कथामृत—इसमें १०१ छंदों में वाराह अवतार की कथा कही गई है, उदाहरण—

विरंचिशंभुसेवितं श्रियार्चितश्रियान्वितं।
मुकुन्दमब्जलोचनं अघौघवृन्दमोचनं॥

९—नृसिह कथामृत—१०५ पदों में नृसिह कथा का वर्णन है। यह वैशाख सु० १४ को समाप्त हुआ था, संवत् नहीं दिया हुआ है। उदाहरण—

भयो भयंकर शब्द महान गगड़ गड़ गड़ड़ड़।
फट्यौ खंभ द्वै खंड कराल ककड़ कड़ कड़ड़ड़॥
बढ़्यो कोटि रवि तेज झमक्कि झझड़ झड़ झड़ड़ड़।
भगे दनुज गन देखि सरूप ससड़ सड़ सड़ड़ड़॥
झड़ झड़ड़ झड़ड़ परवत गिरहिं हड़ड़ हड़ड़ हाली धरनि।
अहि कमठ कोल करि थर थरे भए तेजतें हत तरनि॥

१०—वामन कथामृत—वामनावतार की कथा विस्तार से ८०१ पदों में कही गई है। यह ग्रंथ सं० १९०६ के कार्तिक शुक्ल १२ को समाप्त हुआ था। इसमें लगभग चालीस प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। उदाहरण—

मख महि चलि आवैं, तेज आकाश छावैं।
लखि सुर सुख पावैं, मोद भारी बढ़ावैं॥
हरि बटु गुन गावैं, फूल माला चढ़ावैं।
बलि रिपु बलि जावैं, जै मनावैं सुहावैं॥

११—परशुराम कथामृत—इसमें संक्षेपतः १०१ पदों में परशुराम जी की कथा वर्णित है। यह सं० १९०६ के अगहन कृष्ण प्रतिपदा को पूर्ण हुआ था।

१२—राम कथामृत—यह एक विशद ग्रन्थ १००१ पदों का है। इस ग्रन्थ में राम-जन्म से अश्वमेध यज्ञ तक की कथा का वर्णन किया गया है। इसकी रचना का समय नहीं दिया हुआ है। यह केशवदास की रामचन्द्रिका की रीति पर अनेक छंदों में प्रणीत है। ये सातों कथामृत 'अवतार कथामृत' के नाम से नवलकिशोर प्रेस से छपे थे। दूसरे खंड में अन्य तीनों कथामृत छपने को थे। उदाहरण—

हाथी घोरा बैठे जोधा नाना बानै त्यागे हैं।
ते लौ औ लौ के भाई के देहैं जाके लागे हैं॥
राजा की सो सेना भारी चारो आसा सों धाई।
राका राजैं लोपै कों ज्यों मेघों की औली आई॥

१३—बलराम कथामृत—यद्यपि इसके नाम से बलराम जी की कथा का वर्णित होना ज्ञात होता है पर वास्तव में कृष्ण-चरित्र ही प्रधान है और उसके साथ-साथ उनके बड़े भाई का चरित्र-वर्णन अवश्यंभावी है। बलराम जी दशावतार में परिगणित नहीं हो सकते और सब कथामृत एकत्र दशावतार कथामृत के नाम से प्रसिद्ध हैं। कवि ने श्री कृष्ण जी के लिए बलबंधु शब्द बहुत प्रयोग किया है तथा वे बड़े भाई थे स्यात् इसलिए उन्हीं के नाम की प्रधानता दिखलाने को ग्रंथ का नाम यह रखा है। इस ग्रंथ में ४७०१ पद हैं। ब्रजलीला, प्रवास लीला तथा द्वारिका जी की लीला सभी क्रम से वर्णित हैं। ब्रजलीला के अंतर्गत १३२ छंदों में नख-शिख का वर्णन करते हुए अंग-प्रत्यंग के साथ-साथ आभूषणादि शृङ्गार, हावभाव, सुकुमारता आदि विषय भी अत्यंत सुचारु रूप से कहा गया है। आठ पटरानियों के विवाह आदि का भी वर्णन अच्छी प्रकार किया गया है। महाभारत की कथा भी संक्षेप में आ गई है। १२० पदों में बलराम जी की यात्रा, इल्वल-वध आदि वर्णित

है। २७० दोहों तथा ८ कवित्तों में विदुर जी द्वारा नीति कहलाई गई है। ब्राह्मणों द्वारा २०० पदों में वेद, पुराण, दर्शन, स्मृति, आयुर्वेद आदि का सार दिया गया है। ७५० पदों में श्रीकृष्ण जी से ज्ञान तथा भक्ति पर उद्धव को उपदेश दिलाया गया है। इस ग्रंथ में रचनाकाल नहीं दिया गया है पर बा० राधाकृष्णदास ने लिखा है कि यह ग्रन्थ १९०६ से १९०८ के बीच में लिखा गया है। पर यह ठीक नहीं है क्योंकि भारतेन्दु जी की 'लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए' इत्यादि दोहों की रचना उनके कम से कम पांच वर्ष से अधिक अवस्था होने पर ही हुई होगी। भारतेन्दु जी का जन्म सं० १९०७ वि० में हुआ था, इससे इस ग्रन्थ की रचना सं० १९१२, १३ तक या बाद तक अवश्य होती रही होगी। इसकी हस्तलिखित प्रति सं० १९२७ की लिखी है। उदाहरण—

किधौं अनुराग राजधानी सरसानी चारु,
लताधौं प्रवाल की रसाल दरसात है।
कुम्कुम सिंधु किधौं रुद्र रस कोस वर,
किधौं इन्द्रगोपिका समूह सरसात है॥
'गिरिधरदास' किधौं उजराज पाको चारु,
मंगल की सेज रूप मंगल विभात है।
किधौं कामिनी के कंट मानिक जटितहार,
बानिक परम परमानिक लखात है।

जमकी अनुजा दनुजारि-प्रिया जग जाके जपें सो लखे जम ना।
पटरानी अहै 'गिरिधारन' की लखि धारन पाय सकै जम ना॥
श्रुति गावत है महिमा महिजा सम दान नया व्रज संजम ना।
अति स्याम सरूप सो संजमनी संजमनी-समनी जमना॥

१४—बुद्ध कथामृत—यह २५ पदों की एक छोटी-सी पुस्तिका है। यह कार्तिक सुदी १३ की रचना है। संवत् नहीं दिया हुआ है पर १९०६ की रचना है।

१५—कल्कि कथामृत—यह भी २५ पदों की छोटी पुस्तिका है। यह कार्तिक सुदी १४ को रची गई है। इसमें भी संवत् नहीं दिया है पर १९०६ ही की यह रचना है।

१६—नहुष नाटक—भारतेन्दु जी ने लिखा है कि यह हिन्दी का पहला नाटक है और यह भी स्वनिर्मित नाटक निबन्ध में लिखा है—आज पचीस वर्ष

हुए होंगे, जब मैं सात बरस का था, नहुष नाटक बनता था। इस से इस नाटक का रचना-काल सं० १९१४ आता है। इस नाटक की भूमिका चैत्र शुक्ल १५ सं० १९४० है, जिसमें से पच्चीस घटाने पर सं० १९१५ आता है, अतः इस नहुष नाटक का रचना काल सं० १९१४-१५ निश्चित है। बा०राधाकृष्णदास जी ने भ्रम से सं०१९१६ लिखा दिया है। इन्होंने यह भी लिखा है कि 'इस नाटक की पूरी प्रति का पता नहीं लगता है।' कविवचन सुधा के प्रथम वर्ष में इस नाटक का जितना अंश अर्थात् प्रस्तावना तथा प्रथम अंक छपा था, उसे ही इन्होंने प्रकाशित कर दिया था। ठाकुर गदाधरसिंह कहते थे कि उन्होंने नाटक की पूरी प्रति कन्हैयालाल लेखक के पास देखी थी, जो नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, जाकर गुम हो गई। यह प्रति किस प्रकार घूमती-फिरती काँकरौली पहुँच गई और वहाँ के विद्या-विभाग के सरस्वती-भंडार में सुरक्षित होकर छिपी पड़ी रह गई, यह नहीं कहा जा सकता। इधर ही इसका पता चला और मैंने इसे संपादित कर सं० २०११ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित करा दिया है। पूरी एक शताब्दि के बाद यह पूरा नाटक प्रकाश में आया है।

नहुष नाटक में प्रस्तावना तथा छः अंक हैं। समग्र नाटक पद्यमय है। कहीं-कहीं एकाध पंक्ति गद्य में है। कुल नाटक ब्रजभाषा में है। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है कि वृत्रासुर को मारने से ब्रह्महत्या लगने के कारण इंद्र भागते हैं और स्वर्ग के रिक्त सिंहासन पर राजा नहुष बुलाकर बैठाए जाते हैं। शची पर मुग्ध होने से उसके कथानानुसार यह सप्तर्षि को रथ में जोतकर उसके पास जाता है पर मार्ग में शीघ्रता करने के कारण अगस्त्य ऋषि क्रुद्ध हो इसे शाप देते हैं कि तू सर्प हो जा। राजा नहुष सर्प होकर मर्त्यभूमि पर गिरते हैं और इन्द्र यज्ञ करके शुद्ध हो स्वर्ग पहुँच जाते हैं। नहुष की भी मुक्ति होकर गोलोक जाने का दृश्य दिखलाकर नाटक सुखांत ही रखा गया है। उदाहरण--

कार्तिकेय—यह सुनि प्रनाम करि सब देवता दधीच पै जाय हाथ जोरि कहन लागे।

जय मुनि मंडल धरम धर पर उपकारक आर्ज।
दीनबन्धु करुणासदन साधहु सुर को कार्ज॥

१७—गर्ग संहिता—संस्कृत गर्गसंहिता तथा अन्य ग्रन्थों की कथाओं का सार लेकर इसकी रचना की गई है। यह गोलोक, वृन्दावन, गिरिवर, माधुरी, मथुरा, द्वारावती, विश्वजित, हलधर और विज्ञान नामक नौ खंडों में विभक्त है।

यह रामायण की चाल पर दोहों और चौपाइयों ही में लिखा गया है। कहीं-कहीं अन्य छंद भी मिलते हैं। यह ग्रन्थ सं० १९१४ के भाद्रपद कृष्ण १३, बुधवार को समाप्त हुआ था। इस ग्रन्थ की, बड़े आकार में लीथो में छपी हुई दूसरे तथा तीसरे खंडों की एक प्रति भी देखने में आई, जो सं० १९०५ की छपी थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ सं० १९०५ में ही आरम्भ हो गया था। नवलकिशोर प्रेस द्वारा यह सम्पूर्ण ग्रंथ सन् १८९८ ई० में प्रकाशित किया गया था, जिसमें ४७८ पृष्ठ हैं और प्रति पृष्ठ २४ पंक्तियाँ हैं। उदाहरण—

गज सम बुन्द लगे बरसावन। गरजि गरजि घन घोर मचावन॥
धार सकल सहतीर समाना। बात उड़ावत बिटप मकाना॥
तड़ तड़ तड़ित टूटि महि परई। अंबर महँ कठोर कड़कड़ई॥
भयो भयंकर शब्द दिसन में। सूझि न बूझि परै सो छन में॥
आरत ह्वै सिगरे ब्रजबासी। बंदे कृष्ण-चरन सुखरासी॥

तुम्हरे भाषे हम गिरिहिं, पूज्यो क्रतु कहँ त्यागि।
रच्छहु अब इहि कोप तें, जाहिं कहाँ सब भागि॥

१८—एकादशी माहात्म्य—आरम्भ मे एकादशी व्रत किस प्रकार किया जाना चाहिए, यह बतलाकर चौबीसों एकादशी बारह महीनों की तथा दोनों पुरुषोत्तम मास की एकादशियों की महिमा बतलाई गई है। यह कुल ग्रन्थ रागों में है। यह ग्रन्थ भारतेन्दु जी की आज्ञा से उनके मित्र कुंअर जाहरसिंह ने सं० १९२५ में आगरे में छपवाया था। यह कथा के पत्रों के आकार में ४६ पृष्ठों में है और प्रत्येक पृष्ठ में १० पंक्तियाँ हैं। रचना-काल नहीं दिया गया हैं। उदाहरण —

बोले धरम सुनो यह बानी।
आसिन प्रथम एकादशि कहिगै 'गिरिधर लाल' जगत मुददानी॥
कहत स्याम है नाम इन्दिरा पितरन सरग देव सुखखानी।
बाजपेय फल मिलत सुनन सों सो हम बरनत तुमहिं कहानी॥

१९—प्रेम तरंग—यह पुस्तक मल्लिकचंद्र और कम्पनी तथा ए० के० ब्रदर्स द्वारा प्रकाशित हुई थी। ग्रन्थकर्ताओं में स्वर्गीय श्री० बाबू गोपालचन्द्र उपनाम 'गिरधरदास' जी तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम दिया है। इसमें ६४ पृष्ठ और ३६१ पद हैं, जिसमें बाबू गिरधर दास के २३, बाबू हरिश्चन्द्र के

२०४ और ४४ 'चन्द्रिका' उपनाम के हैं। अंतिम ३४ बंगला के हैं। इसकी एक और प्राचीनतर प्रति मिली है, जिसमें केवल १८० पद हैं। इसमें बंगला पद बिल्कुल नहीं हैं। उदाहरण—

> तुम बिनु पतित पावन कौन ?
> तनक हीं सब दोष मेटौ सुनो राधा-रौन ॥
> और सुर की करै पूजा तुमहिं तजिकै जौन ।
> 'दास गिरिधर' कूप खोदत गंग तट पर तौन ॥

२०—ककारादि सहस्रनाम—संस्कृत भाषा में कृष्ण भगवान के एक सहस्र नामों को श्लोकबद्ध किया है, जिसमें प्रत्येक नाम 'क' से आरम्भ होता है। दो सौ दस श्लोक हैं। अंतिम दो श्लोकों में रचना का समय आदि यों दिया है—

> 'गिरिधरदास' नाम्नि विरचितं कृष्णनामवरमणिभिः खचितम् ।
> हारमिदं बहते यः कंठे तस्य रतिःस्यात् कौस्तुभकंठे ॥

> ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे चतुर्दश्याम् रवौ दिने ।
> सम्पूर्णं भगवन्नाम सहस्रं केशवस्य तु ॥

इसमें संवत् नहीं दिया है पर जो छपी प्रति मेरे सामने है, वह 'संवत् १९०७ श्रावण कृष्ण पंचम्यां चन्द्रवासरे' को सुधाकर यंत्रालय से प्रकाशित हुई थी।

२१—कीर्तन के पद—इसकी केवल एक हस्तलिखित 'रफ' प्रति मिली है, जिसमें ६२ पद हैं। इनमें परज, विहाग, भैरवी आदि अनेक राग-रागिनी हैं। व्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों ही में पद रचे गए हैं। उदाहरण—

> चोरी दही मही की करना, घर घर घूमना, हो लाल ।
> पर नारिन सों नेह लगाना, सुन्दर गीत मनोहर गाना ॥
> यमुना तट ग्वालन को लेके घूमना, हो लाल ।
> मटुकी के कर टूक पटकना, अँचरा गहि गहि हाथ झटकना ।
> उझकि उझकि उर लाय मुख चूमना, हो लाल ।
> 'गिरिधरदास' कहै हम जाना, तुमने सुख इस ही में माना ।
> निडर होय गोकुल में झुकि झुकि झूमना, हो लाल ॥

२२—मलार के पद—सं० १९१३ वि० की लिखी एक हस्तलिखित प्रति में मलारों के दो छोटे-छोटे संग्रह हैं। एक में २८ और दूसरे में २४ पृष्ठ हैं। मल्लार राग ही के कीर्तन के पद इसमें विशेषतः संगृहीत हैं। उदाहरण—

देखो सखि पावस भूपति आयो ।
कारे कारे घन हाथी दल लीने डंका गरजि बजायो ॥
मोतीमाल धरे बकमाला घनगन जल बरसायो ।
इन्द्रधनुष कर धनुष विराजत बिजुरी अधिक सुहायो ॥
दादुर मागधसूत पुकारत मोरन नाच नचायो ।
हरी करी सगरी धरनी कहँ जीवन बास बसायो ॥
नए नए पत्र तरुन कों दीने रजगन धोय बहायो ।
सूर तेज को लोपन कीनी ग्रीसम ताप नसायो ॥
सीतल सखा समीर सुगंधित वृज जन पास पठायो ।
'गिरधरदास' पास प्रभु क्रीड़न कारन आयो सब मन भायो ॥

२३— बसंत के कीर्तन—२३ पृष्ठों का छोटा-सा संग्रह है, जिसमें बसंत ही के पद है । उदाहरण—

आनंदय विशदानंदकंद । बनिता वृन्दश्रीनंदनंद ।
कोमल विशाल यमुना तटेषु । हे वंशीधर वंशी वटेषु ॥
कुसुमाकर वर कुसुमाकरेषु । सौरभ संपन्न मनोहरेषु ।
'गिरिधरन दास' हृदये सदैव । कुरु सदन मंगल कृन्मुदैव ॥

२४—बहार—बहार शब्द फारसी है, जिसका अर्थ बसंत है । यह प्राय: पचास पृष्ठों के छोटे आकार का ग्रन्थ है, जिसमें बसंत, काफी, भैरवी कई राग के पद हैं । उदाहरण—

नवल लाल सों नवल राधिका नव बसन्त ब्रज खेलैं हो ।
जमुना नवल नवल बृन्दाबन नव अबीर रँग रेलैं हो ॥
नवल निकुंज नवल द्रुम डारैं नव किंसुक अनुकूलैं हो ।
नवल सखी अरु नवल सखा सब नवल सुनावत गारी हो ।
'गिरिधरदास' नवल जोरी पर तन मन धन बलिहारी हो ॥

भारतेन्दु जी की याददाश्त के आधार पर बा० राधाकृष्णदास ने जो सूची दी है, उनमें से वाल्मीकि रामायण, एकादशी की कथा, छन्दार्णव, नीति, अद्भुत रामायण, लक्ष्मी नखशिख, वार्ता संस्कृत, गयायात्रा; गयाष्टक और द्वादश दल-कमल का मुझे कुछ भी पता नहीं मिला । इनमें से प्रथम ग्रन्थ, कहा जाता है

कि, इन्होंने तेरह वर्ष की ही अवस्था में बनाया था, जिसका कुछ अंश 'बालबोधिनी' में छपा था। इसका एक दोहा यों है—

पति देवता कहि नारि कहँ और आसरे नाहिं।
सर्ग सिढ़ी जानहु यही बेद पुरान कहाहिं॥

दूसरी पुस्तक का नाम स्यात् भ्रमवश दोबारा लिख गया है। चौथी पुस्तक 'नीति' का बा० राधाकृष्ण जी ने जो उदाहरण दिया है, वह बलराम कथामृत में विदुर-द्वारा कथित नीति से लिया गया है पर भारतेन्दु जी का उससे तात्पर्य नहीं है। यह बालबोधिनी में प्रकाशित हुई थी, जिसका शीर्षक 'नीति विषयक इतिहास' रखा गया है। यह हितोपदेश का अनुवाद है। इसकी भाषा बड़ी ही सरल, प्रौढ़ तथा विषय के अनकूल ही है।

इमि वक कीनी दुष्टता वृथा कलह अज्ञान।
गयो हंस को राज सब पर पच्छी सनमान॥
जो पर पच्छी पुरुष को मनुज करत बिस्वास।
सो पावत द्रुत नास है जानहु गिरिधर दास॥

पूर्वोक्त रचनओं के सिवा संकर्षणाष्टक, रामाष्टक, कालियकालाष्टक, दनुजारिस्तोत्र, रामस्तोत्र, शिवस्तोत्र, गोपालस्तोत्र, राधास्तोत्र, भगवतस्तोत्र और वाराहस्तोत्र—दस स्तुतियों का संग्रह कवि लक्ष्मीरामकृत संस्कृत टीका सहित बा० राधाकृष्णदास जी को मिला था, पर उन्होंने उनमें से किसी का एक भी उदाहरण नहीं दिया है। इस प्रकार यद्यपि अब प्राय: इनकी सभी रचनाओं के नाम मिल गए हैं, पर केवल आधे के लगभग ग्रन्थों का विवरण स्वयं देख कर दिया जा सका है।

हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (सन् १९७८ दिसम्बर की संख्या) में चालीस पद का एक संग्रह, जिनमें सवैया, कवित्त, छप्पय तथा कुंडलियाँ ही हैं, प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार देखा जाता है, इनकी कविताएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हुई हैं और इनके धनाढ्य उत्तराधिकारियों में से आज तक किसी ने भी उनका उद्धार करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझा, केवल 'अपव्ययी' भारतेन्दु जी ही जो कुछ कर सके थे, वही अब तक हुआ है।

---

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म

पुण्यतोया जाह्नवी के तट पर स्थित पवित्र विश्वनाथपुरी काशी में भाद्रपद शुक्ल ५ (ऋषि पंचमी), सं० १६०७ वि०, ६ सितम्बर सन् १८५० ई०, को सोमवार की रात्रि में चार बज के बत्तीस मिनट तेरह सेकंड पर भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र ने अवतीर्ण होकर हिन्दी-साहित्य के गगनांगण को द्वितीया के चंद्र के समान शोभायमान किया था। इनके जन्म-दिवस के संबंध में कुछ मतभेद चल रहा था पर इसके मूल कारण भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई स्व० राधाकृष्णदासजी ही हुए थे, जिन्होंने स्वलिखित भारतेन्दु जी की जीवनी[1] में इनका जन्म-दिवस भाद्रपद शुक्ल ७ (ऋषि सप्तमी), सं० १६०७, ६ दिसंबर सन् १८५० ई० लिख दिया है। इसमें किस प्रकार दो-दो अशुद्धियाँ आ गईं, यह नहीं कहा जा सकता। पंचमी के स्थान पर सप्तमी तथा सितंबर के स्थान पर दिसंबर छपा है। भारतेन्दु जी की दूसरी जीवनी[2] के लेखक श्री शिवनंदन सहाय ने महीने की एक अशुद्धि तो ठीक कर दी पर दूसरी ज्यों की त्यों रहने दी।

उक्त जन्म-दिवस में अंग्रेजी तारीख ६ सितंबर सन् १८५०, सोमवार निश्चित रूप से शुद्ध है। खड्गविलास यंत्रालय से प्रकाशित हरिश्चन्द्र कला, द्वितीय खंड इतिहास समुच्चय में भारतेन्दु जी के परम मित्र पं० रामशंकर व्यास द्वारा अंग्रेजी में लिखित संक्षिप्त परिचय में, जो सन् १८६२ ई० में प्रकाशित हुआ है, यही तारीख दी है। भारतेन्दु जी की मृत्यु पर छपे शोक संग्रह में तथा जनवरी सन् १८८५ ई० के 'उचितवक्ता' पत्रिका में भी यही तारीख है। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर जी द्विवेदी ने योरोपिअन रीत्यनुसार भारतेन्दु जी की जो जन्म-पत्री बनाई थी और जो सन् १८८४ ई० में छपी थी, उसमें लिखा है कि "सन् १८५० ई० के सितंबर मास की ६ वीं तारीख सोमवार के आधीरात के अनंतर चार घंटा सैंतीस मिनट बारह सेकंड पर काशी में (जहां का अक्षांश २५°१६') श्रीमान् भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र जी का जन्म हुआ।"

---

१ पृ० सं० ४७, प्रथम संस्करण, सं० १६६०

२ पृ० सं० ३४, प्रथम संस्करण, सं० १६६२

मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित बृहत् पंचांग 'एफिमिरिस' से ज्ञात होता है कि ९ सितंबर सन् १८५० ई० सोमवार को भाद्रपद शुक्ल ५, सं० १९०७ था। 'सेंचुरी कैलेंडर' तथा सं० १९०७ के एक पत्रे से ज्ञात हुआ कि उस दिन चतुर्थी होते भी पंचमी का मान हुआ था। भारतेन्दुजी ने स्वयं एक कहानी, 'कुछ आप बीती कुछ जगबीती' में लिखा है कि "मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोनों में बड़ा पवित्र दिन है। सं० १९३० में मैं तेईस वर्ष का था।" भाद्रपद मास में ऋषि पंचमी ही एक ऐसा पर्व है, जो जैन तथा वैदिक दोनों में पवित्र माना जाता है। ऋषि सप्तमी कोई पर्व दिन ही नहीं है। पंचमी ही को सप्तर्षि-पूजन होता है। इस प्रकार निश्चित है कि भारतेन्दुजी का जन्म दिवस पंचमी ही है। श्री गोपाल चन्द्र जी के दो एक पुत्र जन्म लेते ही जाते रहे थे, अत: भारतेन्दु जी की माता प्रसवकाल के पूर्व ही अपने मायके शिवाले चली गईं और वहीं इनका जन्म हुआ था।

बाल्यकाल, शिक्षा तथा पर्यटन

भारतेन्दु जी की माता इन्हें पाँच वर्ष की अवस्था का और पिता दस वर्ष की अवस्था का छोड़ कर परलोक सिधारे थे। इसी बीच इतनी छोटी अवस्था ही में इन्होंने अपने पिता से महाकवि को अपनी चचल प्रतिभा से विस्मित कर दिया था। एक बार 'बलराम कथामृत' की रचना के अवसर पर यह भी पिता के पास जा बैठे और पिता से स्वयं कविता बनाने की बड़े आग्रह से आज्ञा माँगने लगे। पिता ने प्रेम से आज्ञा देते हुए कहा कि "तुम्हें अवश्य ऐसा करना चाहिए।" कहते हैं कि बा० हरिश्चन्द्र जी ने उसी समय निम्नलिखित दोहा बनाया।

लै ब्योंड़ा ठाढ़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सेन को हतन लगे भगवान॥

बा० गोपालचन्द्र जी ने बड़े प्रेम से पुत्र के उत्साह को बढ़ाने के लिये इस दोहे को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया और कहा कि 'तू मेरा नाम बढ़ायेगा'। इसी प्रकार एक दिन बा० गोपालचन्द्र जी के स्वरचित 'कच्छप कथामृत' के एक सोरठे की व्याख्या उन्हीं के सभा के कई कवियों में हो रही थी। भारतेन्दु जी उसी समय वहीं आ बैठे और सब की बातों को सुनते हुए अंत में एकाएक बोल उठे कि "बाबू जी, हम अर्थ बतलाते हैं। आप वा (उस) भगवान का जस वर्णन करना चाहते हैं, जिसको आपने कछुक छुवा है अर्थात् जान लिया है!" इस नई उक्ति को सुनकर पिता तथा सभासदगण चमत्कृत हो उठे और इनकी बहुत प्रशंसा करने लगे। सोरठे की प्रथम पंक्ति यों है—

"करन चहत जस चारु कछु कछुवा भगवान को।"

इसी प्रकार एक बार जब इनके पिता तर्पण कर रहे थे तब इन्होंने प्रश्न किया कि "बाबू जी, पानी में पानी डालने से क्या लाभ ?" धार्मिकप्रवर बा० गोपालचंद्र ने सिर ठोका और कहा कि "जान पड़ता है कुल बोरेगा"। बचपन की साधारण अनुसंधानकारिणी बुद्धि का यह एक साधारण प्रश्न था, जो इनके जीवन में बराबर विकसित होती गई थी। यह धार्मिक तथा सामाजिक सभी प्रश्नों के तथ्य-निर्णय में दत्तचित रहते थे। इनके पिता का अभिशाप भी इनमें धार्मिक श्रद्धा की कमी होना बतला रहा है न कि जैसा बा० राधाकृष्णदास जी ने लिखा है कि "देव तुल्य पिता के आशीर्वाद और अभिशाप दोनों ही एक-एक अंश में यथासमय फलीभूत हुए अर्थात् हरिश्चन्द्र जैसे कुलमुखोज्वलकारी हुए वैसे ही निज अतुल पैतृक संपत्ति के नाशकारी भी हुए।"—तर्पण में विश्वास न रखना धार्मिक अश्रद्धा है। धन तथा धर्म में बहुत विभिन्नता है, दोनों के मार्ग भिन्न हैं पर जो धन से ही धर्म समझता है, उनके लिये दोनों एक हैं। भारतेन्दु जी के धर्म तथा समाज के सम्बन्ध में कैसे विचार थे, यह अलग लिखा गया है।

भारतेन्दु जी का मुंडन-संस्कार अल्पावस्था में ही हुआ था और जब ये तीन वर्ष के थे तभी इनको कंठी का मंत्र दिया गया था। जब इनकी अवस्था दस वर्ष की थी तभी सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० घनश्याम जी गौड़ ने इनका यज्ञोपवीत संस्कार कराया और वल्लभ-संप्रदाय के गोस्वामी श्री ब्रजलाल जी महराज ने इन्हें गायत्री मंत्र का उपदेश दिया। इस उत्सव के लिए महफिल और जेवनार की बड़े समारोह से तैयारी हो रही थी कि बा० गोपालचन्द्र जी का एकाएक स्वर्गवास हो गया, जिससे जेवनार के लिये बनी हुई कुल मिठाई आदि दीन दुःखियों में वितरित कर दी गई। भारतेन्दु जी उनकी मृत्यु के समय का वृत्तांत इस प्रकार कहा करते थे कि "पिता जी की वह मूर्ति अब तक मेरी आँखों के सामने विराजमान है। तिलक लगाए बड़े तकिए के सहारे बैठे थे। दिव्य काँति से मुखमंडल देदीप्यमान् था। देखने से कोई रोग नहीं प्रतीत होता था। हम दोनों भाइयों को देखकर उन्होने कहा कि शीतला ने बाग मोड़ दी है। अच्छा,अब ले जाओ।"

भारतेन्दु जी की शिक्षा बाल्यावस्था से ही आरम्भ हो गई थी और पं० ईश्वरीदत्त ही शुरू में इन्हें पढ़ाते थे। यह मौलवी ताजअली से कुछ उर्दू पढ़े थे और अंग्रेजी की आरंभिक शिक्षा इन्हें पं० नन्दकिशोर जी से मिली थी। कुछ दिन इन्होंने ठठेरी बजारवाले महाजनी स्कूल में तथा कुछ दिन राजा शिवप्रसाद

से शिक्षा प्राप्त की थी । इसी नाते यह उनको गुरुवर लिखते थे । पिता की मृत्यु पर यह क्वीन्स कॉलेज में भर्ती किए गए और समय पर वहाँ जाने भी लगे । इनकी प्रकृति स्वतंत्रता-प्रिय थी । पिता की मृत्यु हो जाने से यह और भी स्वच्छंद हो गए थे । माता थी ही नहीं, अब यह और किसका सुनते ? विमाता तथा भृत्यों के कथन पर यह क्यों ध्यान देने लगे थे ? इस कारण इनकी शिक्षा अधूरी रह गई, पढ़ने में कभी मन नहीं लगाया पर प्रतिभा विलक्षण थी इसलिये पाठ एक बार सुनकर ही यह याद कर लेते थे और जिन परीक्षाओं में इन्होंने योग दिया उनमें उत्तीर्ण भी हो गए । इस प्रकार दो-चार वर्ष अंग्रेजी तथा संस्कृत का शिक्षा-क्रम चलकर रुक गया । कॉलेज में पान खाना मना था, इसलिए तांबूलप्रेमी भारतेन्दु जी रामकटोरा के तालाब में कुल्ला कर क्लास में जाते थे । उस छात्रावस्था में भी कविता का शौक था और उस समय की रचनाएँ प्राय: सभी शृङ्गार रस की थीं । यह भारत की प्राय: बीस-पचीस भाषाएं जानते थे और उनको इन्होंने किस प्रकार सीखा था इसका एक नमूना यह है कि ''ग्यारह वर्ष की अवस्था में यह जगन्नाथ जी गए थे । मार्ग में वर्द्धमान में विधवा-विवाह नाटक बंग भाषा में मोल लिया, सो अटकल ही से उसको पढ़ लिया ।' यह स्वभाव ही से हठी, चंचल, तथा क्रोधी थे । माता की मृत्यु पर इनके लालन-पालन का भार इनकी एक दाई कालीकदमा और एक नौकर तिलकधारी पर था । मुँड़ेरों, वृक्षों, तथा चलती गाड़ियों पर चढ़ने कूदने का ऐसा शौक था कि अपने प्राण की भी परवाह न करते । एक बार यह पंचक्रोशी करते हुए कंदवा से जो दौड़े तो तीन कोस पर भीमचंडी पहुँचकर दम लिया । इन्हें बाल्यावस्था में दूध पीना बड़ा बुरा मालूम होता था और जब कालीकदमा इनसे दूध पीने को कहती तो यह उसे इतनी फुर्ती-फुर्ती गाली देते थे कि आधी गाली पेट ही में रह जाती थी और आधी निकल पड़ती थी । ऐसा उनके उग्र क्रोध के कारण होता था पर वे इन दोनों का बराबर सम्मान करते थे । गलियों में फास्फोरस से ऐसे चित्र बना देते थे कि रात्रि को लोग देख कर डर जाते थे ।

इनके शिक्षा-क्रम का प्रधान बाधक इनकी जगदीश यात्रा हुई जो घर की स्त्रियों के विशेष आग्रह से करना आवश्यक हो गया था । सं० १९२२ वि० में ये सपरिवार जगन्नाथ जी गए । इस संवत् में कुछ शंका है क्योंकि इसमें भारतेन्दु जी का पन्द्रहवाँ वर्ष पूर्ण होता है । उस समय काशी से पुरी तक बराबर रेल नहीं गई थी और इसलिए इतनी लम्बी यात्रा के पहले सभी सम्बन्धी इष्ट-मित्र

मिलने आया करते थे। जब इन लोगों का डेरा नगर के बाहर पड़ा तब सभी लोग मिलने आने लगे। उनमें एक महापुरुष भी आए थे जो बाल्यकाल लाँघ कर युवा होते हुए अमीरों के पितृहीन पुत्रों तथा बिगड़े हुए रईसों के परम हितैषी थे। इन्होंने बा० हरिश्चन्द्र जी को विदा होते समय दो अशर्फियाँ दीं और इनके इस देने का अर्थ पूछने पर आपने यह फर्माया कि 'आप लड़के हैं इन भेदों को नहीं जानते, मैं आपका पुश्तैनी नमकख्वार हूँ, इसलिए इतना कहता हूँ। मेरा कहना मानिए और इसे पास रखिए। काम लगे तो खर्च करिएगा नहीं तो फेर दीजिएगा। मैं क्या आपसे कुछ माँगता हूँ। आप जानते ही हैं कि आपके यहाँ बहूजी का हुक्म चलता है। जो आपका जी किसी चीज को चाहा और उन्होंने न दिया तो उस समय क्या कीजिएगा?' होनहार प्रबल था, ये उसकी बातों में आ गए और गिन्नियाँ रख लीं। एक ब्राह्मण समवयस्क को इन्होंने अपना खजाँची बना दिया। अस्तु, इस प्रकार मिलने-जुलने के बाद यात्रा आरंभ हुई।

ऋण लेने की आदत, लोगों का कथन है, कि इनमें इसी समय से पैदा हुई पर भारतेन्दु जी ने स्वयं इस विषय पर एक याददाश्त में कुछ और ही लिखा है, जिसका सारांश यह है कि एक बार बुढ़वामंगल के अवसर पर एक आदमी लालचन्द्रजोति कलकत्ते से लाया था। यह भी घर की नाव पर मेला देखने गए थे। इन्होंने चार रुपये की बुकनी जला डाली। मुनीब ने उसके रुपये नहीं दिए और इनकी विमाता जी ने भी यह वृत्तान्त सुनकर रुपये न देने की आज्ञा दे दी। इन्होंने एक दिन भोजन भी नहीं किया पर वहाँ किसे परवाह थी, माता-पिता चल ही दिए थे। अन्त में इन्होंने लाचार होकर किसी से चार रुपये ऋण ले कर उसे चुकाया था।

उस समय तक काशी से रानीगंज तक ही रेल गई थी, इसलिए उसके बाद बैलगाड़ियाँ तथा पालकियाँ ठीक कर ये लोग बढ़े। वर्धमान पहुँचने पर ये किसी बात पर अपनी विमाता से रुष्ट हो गए और घर लौट जाने की धमकी दी। किसी ने इस पर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वे लोग जानते थे कि इनके पास राह खर्च के लिए नगद है कहाँ कि ये घर लौटेंगे? इधर इन्होंने अपने खजाँची को साथ लिया और अशर्फी भुना कर स्टेशन जा पहुँचे। जब यह समाचार ज्ञात हुआ तब इनके छोटे भाई इन्हें घर लौटा लाने को भेजे गए। छोटे भाई को देखकर ये फिर लौट आए पर यात्रा में ये भुनी हुई अशर्फियाँ व्यय हो गईं और इन्हीं के सूद आदि में हैंडनोट अदल-बदल कराते उस पुराने हितैषी के हाथ में इनकी दस पन्द्रह हजार की एक हवेली चली गई।

पूर्वोक्त घटनाओं से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन पर इनकी विमाता का विशेष प्रेम नहीं था। साधारण गृहस्थों के बालक भी किसी समय यदि रुपये दो रुपये की चीज लेकर तोड़फोड़ डालते हैं तो उनके माता-पिता उन्हें ताड़ना देते हुए भी उसका मूल्य अवश्य दे देते हैं और इन बालकों को ऋण लेने के लिये कभी बाध्य नहीं करते। उसी प्रकार दूसरी घटना में कोई माता-पिता अपनी संतान को, यह जानकर भी कि उसके पास धन नहीं है, काशी से इतनी दूर वर्धमान के डेरे से जरा भी दूर नहीं जाने देगा, पर यहाँ जब ये रानीगंज स्टेशन पहुँच गए और इनके पास रुपये होने की खबर मिली तब भाई साहब मिलने के लिये भेजे गए। यह स्वभावत: देखा जाता है कि सभी माता-पिता का अपनी संतानों पर समान रूपेण स्नेह नहीं होता और माता का तो प्राय: छोटी संतान ही पर होता है; तब किसी विमाता में अपने पति के बड़े पुत्र पर कम स्नेह होना कुछ अस्वाभाविक नहीं है।

जगन्नाथ जी का दर्शन करते हुए वहाँ सिंहासन पर भोग लगाने के समय भैरव-मूर्त्ति का बैठाना देखकर भारतेन्दु जी ने इसको अप्रामाणिक सिद्ध किया और अंत में वहाँ से भैरव-मूर्त्ति हटवा कर छोड़ा। इसी पर जब किसी ने 'तहकीकात पुरी' लिखा, तब आपने उसके उत्तर में 'तहकीकात पुरी की तहकीकात' लिख डाला।

जगदीश यात्रा से लौटने पर 'संवत् शुभ उनईस सत बहुरि तेइसा मान' में यह बुलंदशहर गए। इसके अनंतर यह फिर एक बार बुलंदशहर गए थे, क्योंकि वहीं से इनके भ्रातुष्पुत्र बा० कृष्णचन्द्र को लिखी गई इनकी एक चिट्ठी मिली है जो स्यात् भारतेन्दु जी की मृत्यु के कुछ ही पहले की है। बा० कृष्णचन्द्र जी का जन्म सं० १९३६ के फाल्गुन में हुआ था और वे जब कुछ बातचीत करने योग्य हुए होंगे तभी उन्हें यह पत्र लिखा गया होगा। यह पत्र अविकल यहाँ उद्धृत किया जाता है—"चिरंजीव श्री कृष्ण, प्यारेकृष्ण, राजकृष्ण, बाबूकृष्ण, आँखों की पुतली। तुम्हारा जी कैसा है? सर्दी मत खाना, रसोई रोज खाते रहना। तुमको छोड़ कर हमारा अख्तियार होता तो क्षण भर भी बाहर न जाते! क्या करें, लाचारी से झख मारते हैं। कृष्ण! तुम्हारा अभी कोमल स्वच्छ चित्त है। तुम हमारे चित्त को ध्यान से जान सकते किन्तु बुद्धि और वाणी अभी स्फुरित नहीं है। इससे तुम और किसी पर उसे प्रकट नहीं कर सकते हो। परमेश्वर के अनुग्रह से उसकी उस स्वाभाविक कृपा से जो आज तक इस वंश पर है, तुम चिरंजीव हो। तुम्हारे में उत्तम गुण हों। हम इस समय बुलंदशहर में हैं। आज कुचेसर

जायँगे।" इसके एक-एक अक्षर में सच्चा प्रेम टपकता है पर साथ ही कुछ और भी ध्वनित कर रहा है। संक्षेपतः वह यही है कि इनका चित्त घर के लोगों से बहुत दुखी था। सं० १९२८ वि० में यह फिर यात्रा करने निकले और इस बार—

> प्रथम गए चरणाद्रि कान्हपुर को पग धारे।
> बहुरि लखनऊ होइ सहारनपूर सिधारे॥
> तहँ मन्सूरी होइ जाइ हरिद्वार नहाए।
> फेर गए लाहौर सुपुनि अम्बरसर आए॥
> दिल्ली ह्वै ब्रज बसि आगरा देखत पहुँचे आय घर।
> चैंतीस दिवस में यातरा यह कीन्हीं हरिचन्द बर॥

इसके छः वर्ष बाद सं० १९३४ में यह पहले पुष्कर यात्रा करने अजमेर गए और वहाँ से लौटने पर उसी वर्ष हिन्दीवर्द्धिनी सभा द्वारा निमंत्रित होकर प्रयाग गए। इन्होंने हिन्दी की उन्नति पर एक ही दिन में अट्ठानबे दोहे का एक पद्य-बद्ध व्याख्यान तैयार कर उक्त सभा के अधिवेशन में पढ़ा था। इसमें ऐक्य, स्त्री-शिक्षा, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार आदि सभी पर कुछ न कुछ कहते हुए 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' स्पष्ट किया गया है। यह लेक्चर आज भी प्रत्येक देश तथा मातृभाषा-प्रेमी के लिये पठनीय है। इसके अनंतर सन् १८७९ ई० के दिसम्बर मास में यह 'इन सब बातों की मानो कसौटी सरीखे' मान्य होने के कारण प्रयाग पुनः निमंत्रित होकर गए थे। वहाँ की आर्य नाट्यसभा ने लाला श्री निवासदास कृत 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' का अभिनय ६ दिसम्बर को सफलतापूर्वक किया था तथा नाटककार महोदय भी दिल्ली से पधारे थे। इसी समय इस नाटक के अभिनय के लिए भारतेन्दु जी ने एक प्रस्तावना प्रस्तुत कर दी थी, जिसका इसमें अभाव था।

सं० १९३६ में भारतेन्दु जी ने सरयूपार की यात्रा की। 'इतना ही धन्य माना कि श्री रामनवमी अयोध्या में कटी। यहाँ से हरैया बाजार, बस्ती और मेंहदावल होते हुए गोरखपुर गए तथा वहाँ से घर लौट आए। इस यात्रा का वर्णन हरिश्चन्द्र चन्द्रिका खंड ६ सं० ८ में प्रकाशित हुआ है, जिसके पढ़ने में बड़ा आनन्द आता है। कैसा सजीव विनोदपूर्ण विवरण है। इसी साल यह जनकपुर गए। रेलयात्रा के कष्ट तथा आराम का मनोहर वर्णन किया है। सीता-वल्लभ स्तोत्र तथा अन्य कुछ पद इसी अवसर पर बनाए थे। एक पद यों है—

जयति जयति जय जनक लली।
मिथिलापुर-मंडनि महरानी निमिकुल-कमल-कली॥
जगस्वामिनि अभिरामिनि भामिनि सब हीं भाँति भली।
'हरीचंद' जा मुख-कमलन पर लोभ्यो राम अली॥

दूसरे वर्ष सं० १९३७ में यह महाराज काशीराज के साथ वैद्यनाथ जी की यात्रा को गए। इसका बहुत ही सुन्दर वर्णन हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन-चन्द्रिका के खंड ७ में प्रकाशित हुआ है। वहाँ के मन्दिर की प्रशस्तियों की प्रतिलिपि तथा मन्दिर विषयक दंत-कथाएँ भी छापी हैं। इसका विवरण भी बड़ा ही रोचक है। पाठकों के लिए कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

"बादल के परदों को फाड़-फाड़ कर उषा देवी ने ताक झाँक आरम्भ कर दी।।परलोकगत सज्जनों की कीर्ति की भाँति सूर्यनारायण का प्रकाश पिशुन मेघों के वागाडम्बर से घिरा हुआ दिखलाई पड़ने लगा। प्रकृति का नाम काली से सरस्वती हुआ। ठंढी-ठंढी हवा मन की कली खिलाती हुई बहने लगी। दूर से धानी और काही रङ्ग के पर्वतों पर सुनहरापन आ चला। कहीं आधे पर्वत बादलों से घिरे हुए, कहीं एक साथ वाष्प निकलने से उनकी चोटियाँ छिपी हुईं और कहीं चारों ओर से उन पर जल-धारा-पात से बुक्के की होली खेलते हुए बड़े ही सुहावने मालूम पड़ते थे। पास से देखने से भी पहाड़ बहुत ही भले दिखलाई पड़ते थे। काले पत्थरों पर हरी-हरी घास और जहाँ तहाँ छोटे-बड़े पेड़, बीच-बीच में मोटे पतले झरने, नदियों की लकीरें, कहीं चारों ओर से सघन हरियाली, कहीं चट्टानों पर ऊँचे-नीचे अनगढ़ ढोंके और कहीं जलपूर्ण हरित तराई विचित्र शोभा देती थी। अच्छी तरह प्रकाश होते-होते तो वैद्यनाथ के स्टेशन पर पहुँच गए।"

सं० १९३९ वि० में भारतेन्दु जी उदयपुर गए। पत्थर के रोड़े, पहाड़, चुङ्गी, चौकी तथा ठगी को उस समय के मेवाड़ का पंचरत्न बतलाया है। गणेश गाड़ीवान तथा बैलगाड़ी पर पद्यमय व्यंग्योक्ति की है—

नहिं विद्या नहिं बाहुबल नहिं खर्चन को दाम।
श्री गणेश बिन शुंड के तिनको कोटि प्रनाम॥
हिलत डुलत चलत गाड़ी आवै।
झुलत सिर, टुटत रीढ़, कमर झोंका खावै॥

टख टख टिख हचर मचर शिष खस धस चें चूँ चूँ टन।
टिन टिन हड़ड़ हड़ड़ धड़ धड़ धिड़ावै॥
"चल""चल" कहे गाड़ीवान चाबुक हते पोंछ।
ऐंठ भारत सम बैल तनिक नहिं धावै॥

'काशी वासी परम प्रसिद्ध बा० श्री हरिश्चन्द्र जी राजपूताने की यात्रा करते करते ता० १८ दिसम्बर को आर्य लोगों की अक्षत राजधानी उदयपुर में पहुँचे और अपने परम प्रिय मित्र पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के स्थान पर उतरे। उक्त बाबू साहब का उदयपुर में रहना एक सप्ताह के लगभग हुआ और वे कविराजा श्री श्यामलदास जी के द्वारा श्रीमान् यावदार्य-कुल-दिवाकर के चरण-कमलों तक पहुँचे। एक दिन श्री अधीश ने उक्त बाबू साहब को जगन्निवास के महलों में याद किया था। वहीं काव्यशास्त्र सम्बन्धी प्रसंग आने पर दो समस्या तो कवि जयकरण जी ने और दो समस्या बारेट कृष्णसिंह जी ने और तीन समस्या श्रीमान् अधीश ने पूर्त्ति करने को दी कि उक्त बाबू ने वहाँ ही निम्नलिखित प्रत्येक समस्या के प्रत्येक छंद को चार-चार मिनट के समय में पूर्त्ति की थी। श्रीमान् यावदार्य-कुल-दिवाकर ने विदा में बाबू साहब को ५०० का खिलत दिया। उक्त बाबू साहब ता० २४ दिसम्बर को उदयपुर से चित्तौर को रवाना हुए।" भारतेन्दु जी ने महाराणा साहब की समस्याओं की दो-दो और अन्य सज्जनों की एक-एक पूर्तियाँ की थीं। उनमें से कुछ यहाँ उद्धृत की जाती हैं।

समस्या

१. समस्या (आम्रान्योक्ति) कवि जयकरण जी की।

आसी ना तिहारे ये निवासी कल्पतरु के।

राधा श्याम सेवैं सदा बृन्दाबन बास करैं,
रहैं निहचिंत पद आस गुरुवर के।
चाहैं धन धाम ना आराम सों है काम,
'हरिचन्द जू' भरोसे रहैं नन्दराय घर के॥
एरे नीच धनी हमें तेज तू दिखावै कहा,
गज परवाहीं नाहिं होहिं कबौं खर के।
होइ लै रसाल तू भलेई जग जीव काज,
आसी ना तिहारे ये निवासी कल्पतरु के॥

२—समस्या बारेट कृष्णसिंह जी की,

जैसी मधुराई भूप सज्जन की भाषा में।

जो ही एक बार सुनै मोहे सो जनम भरि,
ऐसो ना असर देख्यो जादू के तमासा में।
अरिहु नवावैं सीस छोटे बड़े रीझैं सब,
रहत मगन नित पूर होइ आसा में॥
देखी न कबहुँ मिसरी मैं मधुहू में ना,
रसाल ईख दाख मैं न तनिक बतासा में।
अमृत मैं पाई ना अधर मैं सुरांगना के,
जेती मधुराई भूप सज्जन की भाषा में॥

३—समस्या श्री दरबार की,

(चन्द्रमा के वर्णन में) नवल बधू के मानों पायन परत सो।

वृन्दावन सोभा कछु वरनि न जाय मोपै,
नीर जमुना को जहँ सोहै लहरत सो।
फूले फूल चारों ओर लपटैं सुगन्ध तैसो,
मन्द गंधवाह निज तापहि हरत सो॥
चाँदनी मैं कमल कली के तरैं बार बार,
'हरिचन्द' प्रतिबिम्ब नीर महिं बगरत सो।
मान के मनाइबे को दौरि दौरि प्यारी आज,
नवल बधू के मानों पायन परत सो॥

४—असोक की छाँह सखी पिय पेख्यो।

रैन में ज्योंही लगी झपकी, त्रिजटे सपने सुभ कौतुक देख्यौ।
लै कपि भालु अनेकन साथ में, तोरि गढ़ै चहुँ ओर परेख्यौ॥
रावन मारि बुलावन मो कहँ, सानुज मैं अब ही अबरेख्यौ।
सोक नसावत आवत आजु, असोक की छाँह सखी पिय पेख्यौ॥

इसी अवसर पर भारतेन्दु जी ने प्रातः स्मरणीय महाराणा साँगा तथा प्रतापसिंह के वंशधर इन सूर्यवंशावतंस श्री सज्जनसिंह जी की सूर्य भगवान से तुलना करते हुए तेरह दोहे लिखे थे। दो तीन यहाँ दिए जाते हैं।

यदपि दिवाकर बंस में प्रगटे परम प्रसंस।
तदपि गुनन में सुनन में वाहू के अवतंस॥
दिन प्रकास अवकास है रजनी निलय निवास।
सकल समय भय सों रहित नयसों सहित विलास॥
उत अँधेर चारों पहर इत चहुँ जाम प्रकास।
इहाँ एक रस रहत है महत मरीच मवास॥

सं० १८४१ वि० में (नवम्बर सन् १८८४ ई०) यह व्याख्यान देने के लिए बलिया निमंत्रित होकर गए थे। व्याख्यान के विज्ञापन में यह 'शायरे मारूफ बुलबुले हिन्दुस्तान' लिखे गए थे। बलिया इन्स्टिट्यूट में ५ वीं नवम्बर को वहाँ के तत्कालीन कलेक्टर के सभापतित्व में यह व्याख्यान बड़े समारोह से हुआ था। इसी उपलक्ष में सत्य हरिश्चन्द्र तथा नीलदेवी के अभिनय भी हुए थे। भारतेन्दु जी उनमें उपस्थित थे और सूत्रधार द्वारा इनका नामोल्लेख होने पर दर्शक-गण आकाशभेदी करतल-ध्वनि करने लगे। इससे विदित होता है कि इस प्रांत के बाबू साहब कैसे सर्वजन प्रिय थे और लोग इनका कितना सम्मान करते थे। इस व्याख्यान का शीर्षक था—भारतवर्ष का कैसे सुधार होगा। आरम्भ मे देश की दुर्दशा वर्णन कर स्त्री-शिक्षा, देशी वस्तु तथा विधवा-विवाह के प्रचार का और बाल-विवाह आदि रोकने का उपदेश दिया है। व्याख्यान का अंत यों किया है कि 'जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो, परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रक्खो, अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।'

इन स्थानों के सिवा यह डुमराँव, पटना, कलकत्ता, प्रयाग, हरिहरक्षेत्र आदि स्थानों को भी प्रायः जाया करते थे।

आकृति और स्वभाव

रचनाओं पर रचयिता के शारीरिक तथा मानसिक विकारादि की छाया पूर्णरूपेण रहती है। एक ही दृश्य का स्वस्थ तथा अस्वस्थ पुरुष पर दो प्रकार का प्रभाव पड़ता है। प्रकृति का भी यही हाल है। कंजूस विचार का आदमी उदार पुरुष के समान अपव्यय को सुव्यय नहीं मान सकता। घीहहे की ओर मुख कर खाते हुए घी का स्वाद लेने वाला उदार पुरुषों की तरह क्या किसी वस्तु का दान कर सकता है। वह तो दूसरों को दान करते देख कर छाती कूटता है। प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव की प्रतिकृति उसके दिन-रात्रि के कृत्यों ही पर जब

पड़ती रहती है तब उसकी साहित्यिक रचनाओं पर अवश्य ही पड़ेगी। यही कारण है कि मननशील पाठकगण लेखकों की शारीरिक बनावट तथा उनके स्वभाव आदि से परिचित होना आवश्यक समझते हैं क्योंकि उसी हालत में वे उसकी रचनाओं को पूरी तरह समझ सकते हैं।

भारतेन्दु जी कद के कुछ लम्बे और शरीर से एकहरे थे, न अत्यंत कृश और न मोटे ही। आँखें कुछ छोटी और धँसी हुई-सी थीं तथा नाक बहुत सुडौल थी। कान कुछ बड़े थे, जिनपर घुँघराले बालों की लटें लटकती रहती थीं। ऊँचा ललाट इनके भाग्य का द्योतक था। इनका रंग साँवलापन लिए हुए था। शरीर की कुल बनावट सुडौल थी। इनके इस शारीरिक सौन्दर्यपूर्ण मूर्त्ति का इनसे मिलने वालों के हृदय पर उतना ही असर होता था जितना इनके मानसिक सौंदर्य का। इनके समय के कई वृद्धजन कहते हैं कि इनको उस समय लोग 'कलियुग के कँधैया' कहा करते थे। पं० अंबिकादत्त व्यास 'विहारी बिहार' में लिखते हैं कि "दूर से लोग इनकी मधुर कविता सुन आकृष्ट होते थे और समीप आ मधुर श्यामसुन्दर घुँघरारे बालवाली मधुर मूर्त्ति देखकर बलिहारी होते थे और वार्तालाप में इनके मधुर भाषण, नम्रता और शिष्ट व्यवहार से वशम्वद हो जाते थे।" भोजन में इनकी रुचि विशेषतः नमकीन वस्तु की ओर अधिक थी। मिष्ठान्न में भी सोंधी चीज ही इन्हें प्रिय थी। फल पर भी इनका विशेष प्रेम था और पान खाने का इन्हें व्यसन-सा था। एकबार जलसे की एक बैठक में इन्होंने सात सौ चौहरा पान खाया था। इनके पान में गुलाब जल या केवड़ा जल अवश्य पड़ता था और हर समय यह पान खाया ही करते थे। इनके मित्र-गण कहते थे कि जिस समय यह बातचीत करते थे उस समय यह ज्ञात होता था कि गुलाब या केवड़े का भभका खुला हुआ है अर्थात् उनके मुख से बहुत ज्यादा सुगंध निकला करती थी।

शील और दान

वह स्वभाव ही से अत्यंत कोमल हृदय थे। किसी के कष्ट की कथा सुनकर ही उस पर इनकी सहानुभूति हो जाती थी चाहे वह वस्तुतः झूठी मक्कारी ही क्यों न हो। यह दुख-सुख दोनों ही में प्रसन्न रहते थे और कभी क्रोध करते ही न थे। क्रोध आता भी था तो उसे शांति से दबा लेते चाहे फिर वह उस क्रोध के पात्र से भाषण भी न करें। यह स्वभावतः नम्र थे पर किसी के अभिमान दिखलाने पर वे उसे सहन नहीं कर सकते थे। वे स्वतः कभी किसी से अपनी

अमीरी, दातव्यता, काव्य-शक्ति और गुणों का अभिमान नहीं दिखलाते थे और सभी छोटे-बड़े से समान रूप से मिलते थे। कोई इनका कितना भी नुकसान करे पर यह कुछ कहते न थे, वरन् अन्य लोगों के उसकी भर्त्सना करने पर यह टोंक देते थे। एक सज्जन, जो स्यात् अभी तक जीवित हैं, प्रायः इनकी कुछ न कुछ वस्तु अवसर पाते ही लेकर चल देते थे। पकड़े जाने पर लोग उनकी दुर्गति करते थे और बाबू गोकुलचन्द्र उनकी ड्योढ़ी भी बंद कर देते थे पर वह महापुरुष जब भारतेन्दु जी बाहर से घर आने लगते तब साथ ही लगे हुए चले आते। ऐसा बीसों बार हुआ तब भारतेन्दु जी ने भाई साहेब से कहा कि "भैया, तुम इनकी ड्योढ़ी न बंद करो, यह शख्स कद्र करने योग्य है. इसकी बेहयाई ऐसी है कि इसे कलकत्ते के अजायबखाने में रखना चाहिये।"

पर-दुःख-कातर सज्जन ही परोपकार में रत रह सकता है। सन् १८७२ ई० में बम्बई प्रांत के खानदेश के कई ग्रामों में इतनी वृष्टि हुई कि कई गाँव बह गए तथा सैकड़ों मनुष्य मर गए और सहस्रों मनुष्य गृह तथा सामान से रहित हो गए। भारतेन्दु जी ने यथाशक्ति स्वयं सहायता की तथा काशी में घूमकर सहायतार्थ धन एकत्र किया। उसी वर्ष काशी में गंगाजी में ऐसी बाढ़ आई थी कि पक्के संगीन मकान धँसे जाते थे और नगर की कितनी सड़कों तथा गलियों में जल भर गया था। बिना नाव के कहीं जाना-आना और प्राण की रक्षा करना कठिन हो रहा था। इस कारण इन नावों का किराया बहुत बढ़ गया था और तिसपर भी कठिनता से नावें मिलती थीं। इन्होंने काशीराज से प्रार्थना कर गृह-विहीन लोगों को नँदेसर की कोठी में स्थान दिलाया और गंगाजी में विनय-पत्र डलवाया था।

एक बार जाड़े की रात्रि में कहीं यह बाहर घूमने जा रहे थे कि मार्ग में इन्हें एक दरिद्र सोता हुआ मिला, जो जाड़े के कारण ठिठुरा जा रहा था। इन्होंने उसी समय अपना दुशाला उतार कर उसे ओढ़ा दिया और गृह लौट गए। एक बार एक फकीर जाड़े ही में ओढ़ना माँगता घूम रहा था। ये घर के दीवानखाने में बैठे सुन रहे थे। उस समय 'ये घर के शुभचिंतकों' के कारण अर्थ कष्ट में थे और उसके देने योग्य इनके पास कोई वस्त्र नहीं था। इन्होंने स्यात् उसे देने के लिये कुछ कहा भी हो पर ऐसे 'अपव्ययी' की बात कौन सुनता है? अंत में इन्होंने अपना दुशाला, जिसे वे ओढ़े हुए थे, उतार कर ऊपर ही से फेंक दिया। अब जिसने इनका यह कार्य देखा उसने तुरंत इनके भाई को खबर दे दी और इस कारण कि दुशाला कीमती था वे दौड़े आए तथा उस

फकीर को कुछ रुपये देकर दुशाला लौटाने को आदमी भेजा, पर फकीर ने उसे नहीं लौटाया। ये भाई पर कुछ बक कर चले गए और लाचार होकर उनके लिए दूसरा दुशाला ओढ़ने के लिए भेजा। इसी प्रकार इनकी कन्या ने भी बाल्यावस्था में एक बार अपनी साड़ी ही उतार कर एक भिखमंगिन को दीवान-खाने से फेंक कर दे दिया था।

ठोंकिया अल्ल के एक धनाढ्य महाराष्ट्र काशी आ बसे थे। काशीराज की नकल उतारने का इन्हें व्यसन था और कभी-कभी उनसे भी अधिक ऐश्वर्य दिखलाते थे। दिन के समय भी इनकी सवारी के हाथियों के सिर पर पंज-शाखाएँ जलाई जाती थीं। बुढ़वामंगल में इनकी मोरपंखी पर जलसा होता था। एक बार इनकी मोरपंखी महाराज के कच्छे से जा भिड़ी। काशीराज को प्रसन्न करने के लिये कच्छे पर के भाँड़ों ने एक नकल निकाला और अंत में एक भाँड़ दूसरे भाँड़ को पीटते हुए चिल्ला कर कहने लगा कि "ठोंक-ठोंक कर ठोंकिया बना देंगे।" पर इस धनाढ्य महाराष्ट्र की लक्ष्मी शीघ्र ही समाप्त हो गई और यह दरिद्र हो गए। महाराज की ओर से इन्हें रामनगर में न आने की आज्ञा थी। भारतेन्दु जी से इन गरीब सज्जन का दुःख न देखा गया और वे इन्हें लिवा कर एक दिन रामनगर गए। महाराज से जाकर इन्होंने अपनी कृति कह दी और इन पर दया दिखलाने की प्रार्थना की। काशीराज ने ठोंकिया को पच्चीस रुपये की मासिक वृत्ति दी पर अपने सामने आने की आज्ञा नहीं दी। ठोंकिया को मार्ग में, जब महाराज की सवारी निकली तब सलाम करने का अवसर दिया गया। महाराज ने इसके बाद भारतेन्दु जी से ठोंकिया को रामनगर में फिर न लाने के लिये कह दिया था।

भारतेन्दु जी को गुप्त रूप से दान देना भी अधिक प्रिय था। लिफाफे में नोट रख कर या पुड़िए में रुपये बाँध कर दे देना इनका साधारण कार्य था। एक अवसर पर घर आते हुए रास्ते में एक दरिद्र को देखकर इन्होंने गजरे को जो पहिरे हुए थे, उतार लिया और उसमें पाँच रुपये लपेट कर उसी के पास रख दिया। साथ के एक नौकर को कुछ सन्देह हुआ, इससे वह लौट कर जब वहाँ आया तब उसे उसी प्रकार वह गजरा पड़ा मिला। उस दरिद्र के भाग्य में वह नहीं लिखा था, इसलिए उसी नौकर को वे रुपये मिल गए। एक दिन एक पंडित जी इनके दरबार में आकर बैठे। वे कुछ कहने के लिये अवसर देख रहे थे पर लोगों के आने-जाने के कारण उन्हें मौका नहीं मिला। इसी बीच भारतेन्दु जी उठ कर स्नान करने चले गए। वे बेचारे चुपचाप बैठे रहे। कुछ

देर के अनन्तर बाबू साहब एक छोटी-सी पेटी लिये हुए आए और उन ब्राह्मण को बुलाकर उसे देते हुए प्रणाम कर बिदा किया। वह कुछ कहना चाहते थे पर उन्हें रोककर कहा कि "इसे आप घर ले जाकर देख लीजिएगा और तब यदि कुछ कहना हो तो आकर कहिएगा।" ब्राह्मण देवता अपनी पुत्री के विवाह के लिए सहायता माँगने आए थे और जब उन्होंने घर पहुँचकर पेटी खोला तब उसमें कुछ साड़ियाँ और दो सौ रुपये मिले। इच्छा से अधिक मिल जाने से ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए।

भारतेन्दु जी जिस प्रकार लोगों को उत्साहित करके साहित्य-सेवा में लगाते रहे उसी प्रकार लोगों को स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने के लिए व्यापारादि करने में भी उत्साहित करते थे। बाबू गदाधर सिंह ने शिक्षा समाप्त करने पर मिलती हुई सरकारी नौकरी छोड़कर व्यापार करने की इच्छा से इनसे सहायता चाही। भारतेन्दु जी ने इस कार्य के लिए इन्हें एक सहस्र रुपये सहायता दी, जिससे इन्होंने एक प्रेस खोला। इनके एक शरीक ने प्रेस का सामान हटाकर घर में आग लगा दी और प्रेस के जल जाने का शोर मचाया। भारतेन्दु जी ने कुछ न कहा और उक्त पुरुष उससे बहुत दिनों तक कमाते खाते रहे। फोटोग्राफी उसी समय आरम्भ हुई थी। काशी में पहले भरतपुर के राव कृष्णदेव शरणसिंह, भारतेन्दु जी तथा राय बलभद्रदास जी ने फोटोग्राफी सीखा था। यह एक नई चीज थी और इस कला की आय से उस समय के साधारण गृहस्थ अपनी जीविका मजे में चला सकते थे। भारतेन्दु जी ने कई मनुष्यों को फोटोग्राफी का सामान खरीद-खरीद कर दे दिया था। जादू के खेल आदि के भी सामान इन्होंने कई सज्जनों को दिए, जिससे वे लोग बहुत दिनों तक अपना जीवन निर्वाह करते रहे।

इस प्रकार परोपकार में रत रहना इनकी प्रकृति ही हो गई थी। इन्होंने निज स्वभाव, प्रेम, इच्छा आदि को एक कवित्त में इस प्रकार प्रकट किया है—

सेवक गुनी जन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत चित हित गुन गानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों,
'हरीचन्द' नगद दमाद अभिमानी के॥
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह, नेही
नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के?
सरबस रसिक के, सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधारानी के॥

गुणियों तथा कलाविदों का इन्होंने अपनी शक्ति से कहाँ तक बढ़ कर सत्कार किया था, इसका आगे कुछ उल्लेख हुआ है पर यह अपने को उनका सेवक और चाकर लिख रहे हैं। इस पद की दूसरी पंक्ति इनका काशीवासी होना ध्वनित कर रहा है। कवि मात्र सौंदर्योपासक होते हैं। सौंदर्योपासना ही भक्ति की प्रथम सीढ़ी है, इसे न करनेवाले जड़ हैं। इसका बढ़ना कभी भूषण से दूषण नहीं हो सकता। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' दूषण हो ही नहीं सकता। अन्तिम चरण राधाकृष्ण के चरणों में उनकी अनन्य भक्ति प्रकट कर रही है।

इनकी आँखों में शील भी बहुत था। भाई से अलग होने पर इनके हिस्से के महाराज बेतिया के यहाँ से आए हुए बत्तीस सहस्र रुपये को एक मुसाहिब के यहाँ इन्होंने थाती के रूप में रख दिया। एक दिन वे रोते-कलपते इनके यहाँ पहुँचे और कहा कि रात्रि में हमारे घर चोरी हो गई और आपके रुपये रखकर हम अपना भी सर्वस्व गँवा बैठे। यह कहकर वह पुक्का फाड़ कर रोने लगा। भारतेन्दु जी ने हँस कर कहा कि "यही गनीमत समझो कि चोर तुम्हें न उठा ले गए। जाने दो गया सो गया।" लोगों ने तथा इनके भाई ने बहुत समझाया कि यह सब इसकी बदमाशी है आप इससे अपना रुपया वसूल कीजिए। पर इन्होंने अंत में यही कहा कि "बेचारा गरीब आदमी है, इसी से कमा खायेगा।" सुनते हैं कि यह हमारे ही बिरादरी के सज्जन हैं, जो अभी तक जीवित हैं,[१] और इसी रुपये के बदौलत लखपती बने हुए हैं। स्यात् यही देखा-देखी एक सज्जन गोकुलचन्द्र जी से मोती की एक माला कुर्ग के राजा के पास बेंचने के लिए ले गए थे। इन्होंने भी लौट कर उस माला के गुम होने की सदा लगाई पर जब फौजदारी सुपुर्द करने का प्रबन्ध किया गया तब तीन हजार रुपये का एक रजिस्टरीशुद: दस्तावेज लिखकर रुपये भी दिए। उक्त सज्जन से भी रुपये वसूल हो जाते पर भारतेन्दु जी को तो 'लक्ष्मी को खाना ही था' इसलिए वे चुप बैठे रहे।

इन्होंने 'हरिश्चंद्र एंड ब्रदर्स' के नाम से व्यापार भी चलाया था, जिसका विज्ञापन 'चंद्रिका' में बराबर निकलता था। इसमें यह कोठी महाजनी, जवाहिरात तथा फुटकर वस्तुओं के क्रय-विक्रय करने वाली लिखी है। 'सर्व रोग पर दिव्य औषधि' भी बिकती थी। विलायत से फोटोग्राफी का सामान, घड़ियाँ, चित्र आदि मँगाया जाता था। इस कोठी की एक यही विशिष्ट विचित्रता थी कि यहाँ जो

---

१. इनकी मृत्यु इस पुस्तक के लिखे जाने के कुछ ही दिनों बाद हो गई।

माल खरीदने आते थे वे उसे उधार ही ले जाते थे और कोठी से बाहर निकलने पर उसे भेंट में मिली हुई वस्तु समझते थे। अस्तु, इस शील-सकोच में वह कोठी भी शीघ्र बंद हो गई। इसी शील-संकोच में यह स्वतः भी अपनी वस्तु लोगों को भेंट कर देते थे। एक दिन यह मोती की माला पहिरे हुए बम्बई के गोस्वामी श्री जीवन जी महाराज के यहाँ दर्शन करने गए। महाराज गुरु जी ही तो थे, उन्होंने फर्माया कि "बाबू कंठा तो बहुत ही सुन्दर है।" यह सुनना था कि आप ने चट उसे उतार कर भेंट कर दिया। इसी प्रकार एक दिन शाहजादे साहब इनसे मिलने आए। इनके चित्रों के एक एलबम का, जिसमें बादशाहों, विद्वानों आदि के चित्र संगृहीत थे, आपने देख-देख कर प्रशंसा का पुल बाँध दिया। अन्त में भारतेन्दु जी ने घबड़ा कर कह दिया कि "जो यह इतना पसन्द है तो आपके नज़र है।" बस, मियाँ शाहजादे ने फर्शी सलाम बजाया और नौ दो ग्यारह हुए। यही एक वस्तु थी जिसको दे देने पर इन्हें पश्चात्ताप हुआ था और वे पाँच-सौ रुपये तक दे कर उसे वापस लेना चाहते थे, पर वह नहीं मिला।

काशी के कंपनी बाग में जनसाधारण के बैठने के लिये लोहे की बेंचें रखवाई थीं। मणिकर्णिका कुण्ड के चारों ओर लोहे का कठघरा अपने व्यय से इस कारण लगवाया था कि उसमें बहुधा यात्री गिर पड़ते थे। माधोराय के धरहरे के ऊपर गुमटी में छड़ नहीं लगे थे, जिससे कभी-कभी ऊपर चढ़ने वाले गिर कर अपने प्राण खो देते थे। इन्होंने दोनों धरहरे पर छड़ लगवा दिए थे। इन कार्यों के लिये म्युनिस्पैलिटी ने इन्हें धन्यवाद दिया था।

हिन्दी भाषा की जो आज दशा है वह शताधिक हिन्दी प्रेमियों के सत्तर-अस्सी वर्षों के सतत प्रयत्न का फल है। भारतेन्दु जी के समय में जब कि उसका जीवन ही संशय में था, तब पुस्तक तथा समाचार पत्रों के प्रकाशन से लाभ की क्या सम्भावना की जा सकती थी। यह हिन्दी भाषा के केवल उद्धार ही के लिए कटिबद्ध हुए थे और द्रव्य की हानि-लाभ का विचार करने नहीं बैठे थे। हिन्दी भाषा में लोगों की रुचि पैदा करने के लिए यह पुस्तकों का मूल्य नाम मात्र को रखते थे और अधिकतर उन्हें बिना मूल्य ही लोगों में बाँटा करते थे। २०० रु० के मूल्य की पुस्तकें तो केवल बलिया इंस्टिटच्‌ूट ही को एक साथ एक बार भेजीं थी।

भारतेन्दु जी पुरस्कार देकर लोगों को पुस्तकें निर्माण करने में निरंतर उत्साहित करते रहे। फ्रांस में जो युद्ध होता था उसका वर्णन नाटकाकार लिखे जाने के लिये ४००) रु० और सर विलियम म्योर की जीवनी लिखने के लिये

२५०) रु० तथा संस्कृत भाषा के दो सौ कवियों की जीवनी लिखने के लिए प्रति कवि १०) रुपये पुरस्कार देने का 'कवि-वचन-सुधा' में विज्ञापन निकाला था। इसके सिवा जन-साधारण के हितार्थ तथा सरकारी कामों में भी यह सहस्रों रुपये चंदा देते थे। सन् १८७२ ई० में मेयो मेमोरियल सिरीज में १५००) रुपये दिए थे। होमियोपैथिक डिस्पेंसरी चलाने के लिए सन् १८३८ ई० से १८७३ ई० तक १२०) रुपया प्रति वर्ष देते रहे। सोलजर्स फंड में १००), गुजरात जवनपुर रिलीफ फंड में ७०) रु० और "स्ट्रेंजर्स होम" में ५०) रु० दिया था। इसी प्रकार प्रिंस आफ वेल्स हॉस्पिटल, कारमाइकेल लाइब्रेरी, नेशनल फंड इत्यादि अनेक कार्यों में चंदा दिया करते थे।

'पंजाब विश्वविद्यालय' के संस्थापित होने के समय भारतेन्दु जी ने २५०) रुपये से उसकी सहायता की थी और सन् १८८२ ई० में जब उस विद्यालय को पूर्ण अधिकार प्राप्त हुआ तो उस समय भी रजिस्ट्रार साहब ने इनसे तथा अन्य महाशयों से विशेष द्रव्य की सहायता के निमित्त प्रार्थना की थी। भारतवर्ष के सभी प्रांत के स्कूलों से जब बालिकाएँ परीक्षोत्तीर्ण होती थीं तो ये उन्हें बहुमूल्य साड़ी इत्यादि पारितोषिक दिया करते थे। इनके स्कूल के पढ़े हुए छात्र दामोदर दास जब बी० ए० परीक्षा की प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे तो उन्हें १००) की सोने की घड़ी तथा ३००) रु० की सोने की चेन इन्होंने पारितोषिक में दिया था। काशी की आचार्य परीक्षा में उत्तीर्ण बालकों को भी घड़ी दिया करते थे। पंडित अम्बिकादत्त व्यास को भी साहित्याचार्य की परीक्षा पास होने पर इन्होंने एक घड़ी दी थी।

सत्य-प्रियता

भारतेन्दु जी सत्य-प्रिय थे। ये स्वयं जानते थे कि 'सत्यधर्म पालन हँसी खेल नहीं है और सत्य पथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं' पर इन्होंने यथाशक्ति इस व्रत को आजन्म निबाहा। स्वरचित सत्य हरिश्चन्द्र में इस पर विशेष तर्क करते हुए लिखा है कि—

चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द को, टरै न सत्य विचार॥

भारतेन्दु जी ने एक महाजन से एक कटर नाव और कुछ नगद रुपये लेकर तीन सहस्र की हुंडी लिख दी थी। उसका इन पर सबसे पहले दावा हुआ। यह मुकदमा अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद साहब सदर-

आला की कचहरी में था। देश हितैषिता के स्वयंव्रती होने के कारण उन्होंने प्रसिद्ध देशहितैषी भारतेन्दु जी को इस कष्ट में देखकर इन्हें अपने पास बुलाकर बैठाया और पूछा कि "आपने असल में इनसे कितने रुपये पाए।" भारतेन्दु जी ने उत्तर दिया कि "पूरे रुपये पाये।" सैयद साहब ने पूछा कि "जो कटर इन्होंने लगा दिया है वह कितने रुपये का है।" उत्तर दिया कि "जितने का मैंने लेना स्वीकार किया था।" इस उत्तर पर सदर-आला साहब ने टेबुल पर हाथ पटककर कहा कि "बाबू साहब, आप भूलते हैं, जरा बाहर घूम आइए और समझ बूझ कर जवाब दीजिए।" बाहर आने पर सभी लोगों ने समझाया और इन्होंने भी सबका उपदेश ध्यान-पूर्वक सुन लिया, पर कुछ उत्तर नहीं दिया। पुनः इजलास पर जाने पर तथा पूछने पर आपने पहले ही सा उत्तर दिया और सैयद साहब के खेद प्रकाशित करने पर इन्होंने अपनी चित्तवृत्ति उनसे इस प्रकार प्रकट की कि मैं अपने धर्म और सत्य को साधारण धन के लिये नहीं बिगाड़ने का। मुझसे इस महाजन ने जबर्दस्ती हुँडी नहीं लिखवाई और न मैं बच्चा ही था कि समझता न था। जब मैंने अपनी गरज से समझ बूझ कर उसका मूल्य तथा नजराना आदि स्वीकार कर लिया तो क्या मैं अब देने के समय से उस सत्य को भंग कर दूं?"

ऐसे ही सत्यप्रतिज्ञ कवि की लेखनी से सत्य हरिचन्द्र सा नाटक लिखा जा सकता था।

परिहास-प्रियता

यह स्वभावतः विनोदी थे। उर्दू-शायरों की जिन्दादिली (सजीवता) इनके नस-नस में समाई थी। यह गम्भीर मुहर्रमी सूरत वाले नहीं थे और धन तथा घर के लोगों के कारण जो इन्हें कष्ट था वह उनके मुख पर नहीं झलकता था। यह सदा प्रसन्नचित्त और प्रेम में मग्न रहते थे। बाल्यकाल में दीवालों पर फौस्फोरस से डरावनी मूर्तियों के लिखने का उल्लेख हो चुका है। राय नृसिंहदास जी इनके फूफा थे और इन लोगों की नाबालगी में वही कोठी के प्रबन्धक भी थे। एक दिन यह उनके पास बैठे हुए थे कि जनाने में से राय साहब को भोजन करने के लिये बुलाने एक मजदूरनी आई। राय साहब ने कह दिया कि "मैं पाखाना फिर लूंगा तब खाऊंगा।" यह सुनकर भारतेन्दु जी मुख में रूमाल लगा कर भी हंसी न रोक सके थे। श्री जगन्नाथ जी की फूल टोपी इतनी बड़ी होती है कि एक आदमी उसमें छिप सकता है। इन्होंने एक दिन यह प्रबन्ध

किया कि आप उसके भीतर छिप गए और इनके छोटे भाई ने इनके कथनानुसार लोगों से कहा कि श्री जगदीश का यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखो कि उनकी फूल-टोपी आप से आप चलती है। टोपी भी चलने लगी और लोग आश्चर्य में डूब गए। अंत में जब इन्होंने टोपी उलट दी तब कुल रहस्य सब पर प्रकट हो गया।

पहली अप्रैल को अंग्रेजी में 'फूलसडे' (मूर्खों का दिन) कहते हैं। यह हम लोगों के होली के त्यौहार से कुछ मिलता-जुलता है। इस दिन दूसरों को मूर्ख बनाने का प्रयत्न किया जाता है। भारतेन्दु जी ने ऐसा सफल प्रयत्न कई वर्षों तक किया था। एक बार आपने नोटिस दी कि विजयनगर की कोठी में एक यूरोपीय विद्वान् सूर्य और चन्द्र को पृथ्वी पर प्रत्यक्ष बुलाकर दिखलावेंगे। लोग इस धोखे में आ गए और वहाँ पहुँच कर जब कुछ न देखा तब लज्जित होकर हँसते हुए अपने-अपने गृह लौट गए। एक वर्ष हरिश्चन्द्र स्कूल में एक प्रसिद्ध गवैये का गाना होने की सूचना निकाली। जब सहस्रों मनुष्य वहाँ एकत्र हुए तब पर्दा उठा और एक मसखरा मूर्खों की टोपी पहिरे उल्टा तानपूरा लिये गाता हुआ नजर आया। तीसरी बार आपने एक मित्र के नाम से सूचना निकाली कि एक मेम रामनगर के सामने खड़ाऊँ पर चढ़कर गंगा पार करेगी। अच्छा खासा मेला तट पर जम गया पर सन्ध्या होने पर सब को ज्ञात हुआ कि आज एप्रिल फूल्सडे है।

भारतेन्दु जी का ननिहाल काशी के एक मुहल्ले शिवाले में था। इनका जन्म भी वहीं हुआ था और यह वहाँ प्रायः जाया करते थे। वहीं के निवासी बा० जगन्नाथ दास जी 'रत्नाकर' के पिता बा० पुरुषोत्तम दास, बा० केशोराम और गोस्वामी रामप्रसाद उदासी से इनकी घनिष्ठ मित्रता अंत तक रही। जब यह शिवाले जाते तब इन्हीं में से किसी के यहाँ जमघट बैठता था। एक बार यह बहुत तड़के ही अपने ननिहाल से उठ कर 'रत्नाकर जी' के गृह पर आए। द्वार उस समय बन्द था, इससे यह बाहर ही खड़े होकर 'हर गंगा भाई हरगंगा' का गाना कुछ बनाकर गाने लगे। बा० पुरुषोत्तम दास जी ने यह सुन कर तथा आवाज न पहिचान कर नौकर को सबेरे के याचक को एक पैसा देने को भेजा। उसने द्वार खोल कर जो इन्हें देखा तो उलटे पैर हँसता हुआ लौट आया और कहा कि बाबू साहेब हैं।

दक्षिण से एक सुप्रसिद्ध-वैयाकरणी आए हुए थे जो किसी भी भाषा के किसी शब्द का मिलता-जुलता अर्थ व्याकरण के सूत्रों की मार से निकाल लिया करते थे। यह राजा शिवप्रसाद के यहाँ उतरे हुए थे और वहीं उन्हें काशीराज

के दरबार में लिवा गए थे। दूसरे दिन भारतेन्दु जी के वहाँ पहुँचने पर काशीराज ने उक्त विद्वान् की प्रशंसा की तब इन्होंने कहा कि मैं भी कुछ परीक्षा कर लूँ तब इस विषय में विशेष कह सकता हूँ। महाराज ने सभा का निश्चय किया और उस दिन उक्त विद्वान् राजा शिवप्रसाद जी के साथ आए। भारतेन्दु जी भी दरबार में उपस्थित थे और महाराज की आज्ञा मिलने पर काशी के गुण्डों की बोली में एक गाली 'झाँपोक' जोर से कह डाला। इस पर राजा साहब ने काशीराज से प्रार्थना की कि "हुजूर देखिए, यह ऐसे विद्वान् को गाली दे रहे हैं।" इन्होंने तुरन्त कहा कि "हुजूर देखें, राजा साहब अर्थ बतला रहे हैं।" राजा साहब चुप हो गए और महाराज ने भी मुस्कुरा दिया। व्याकरण के अनेक सूत्र लगाने पर भी वे उसका कुछ अर्थ न कह सके। इसी प्रकार के एक दूसरे शब्द का भी वे अर्थ न बतला सके।

रथयात्रा के अवसर पर यह बहुत से मनुष्यों के साथ दर्शन करने जाया करते थे। ऐसे अवसर पर प्रायः लम्बा कुरता पहिरते और गोटा टँका हुआ रङ्गीन दुपट्टा गर्दन से लम्बे बल दोनों ओर लटका लेते थे। चौगोशिया टोपी तो यह सर्वदा ही पहिरते थे। एक बार दर्शन कर लौटते समय चौधराइन जी के बाग में, जहाँ लावनी हो रही थी, यह खड़े हो गए। इनके किसी साथ वाले ने कहा कि "चलिए, यहाँ क्या है जो आप भीड़ में कष्ट उठा रहे हैं।" एक लावनीबाज बोल उठा कि "जी हाँ, यहाँ क्या है ? इस प्रकार कविता बनाते हुए कोई गावे तब जानें।" भारतेन्दु जी ने यह सुन कर टोपी उतार कर रख दी और लावनीबाजों के बीच में जा बैठे और उन्हीं में से एक का डफ लेकर लावनी बनाते हुए गाने लगे। जब उन सब को मालूम हुआ कि यह कौन हैं, तब सब ने क्षमा याचना की।

भारतेन्दु जी के श्वसुर गुलाब राय जी के दशाह के दिन इन्हें घाट पर पहुँचने में देर हो गई। इस पर शाह माधो जी इनकी भर्त्सना करने लगे। यह चुपचाप लघुशंका निवारण करने के लिये पास ही एक स्थान पर बैठ गए। माधो जी ने हँस कर कहा कि "अपने श्वसुर का नाम लेते चलो।" यह उत्तर न देकर माधो जी के पूर्वजों का नाम लेकर 'तृप्यंताम्' कहने लगे। अंत मे माधो जी खिसिया कर बोले कि "तुम धूर्त हो, तुमसे कौन लगे।"

होली का उत्सव भी यह खूब मनाते थे। संध्या के समय बिरादरी के बहुत से सज्जन तथा मुसाहिबों के साथ रंग लिए गाने-बजाने के साथ चौसट्ठी (चतुश्शष्टी) देवी के दर्शन को जाते थे। तात्पर्य इतना ही है कि यह सभी कार्य प्रसन्नचित्त होकर करते थे, केवल नेम ही नहीं निबाहते थे।

गुणियों का सत्कार

गुणग्राहकता के भारतेन्दु जी स्वरूप ही थे। यह केवल कवि ही के आश्रय-दाता या कविता ही के गुणग्राहक नहीं थे प्रत्युत् प्रत्येक गुण या उत्तम वस्तु के ग्राहक थे। इनके पास कोई भी किसी प्रकार की उत्तम वस्तु लेकर आता तो वह विमुख होकर नहीं जाता था। हिन्दी मातृमंदिर के साधारण से साधारण पुजारी का भी यह सम्मान करते, किसी अन्य विद्या या कौशल के पंडित का पूरा सत्कार करते, यहाँ तक कि अपव्ययी या फिजूल खर्च कहला कर भी अच्छी वस्तु के विक्रेता को कोरा नहीं लौटाते थे। उदाहरण के लिये इत्र ही लीजिये। कई विद्वानों को भी दीपावली में इत्र के दिये बालने और शरीर में पोतने की बातें कहकर इनके अपव्यय या नाजुक मिजाजो की प्रशंसा करते सुना है। वास्तव में बात यह थी कि दिल्ली और लखनऊ की बादशाहत समाप्त हो गई थीं और वहाँ के इस प्रकार की ऐशो-आराम की चीजों के बेचने वाले इधर-उधर अन्य नगरों में सामान लेकर घूमने लगे थे। काशी में आने वाले ऐसे विक्रेता भारतेन्दु जी के पास अवश्य आते थे। ये सभी से कुछ न कुछ क्रय करते, इनमें इत्र भी होता था। ऐसे इत्र-फरोश मेरे बाल्यकाल तक बराबर आते थे और उनकी बातें भी सुनने लायक होती थीं। इस प्रकार खरीदने से व्यय होते हुए भी एकत्र हुआ इत्र दीपावली में बालने के ही काम आता था क्योंकि अधिक समय बीतने पर इत्र खराब हो जाता है। यही इस अपव्यय का मर्म है। इसीलिए लोगों ने कहा है—

"सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचंद।"

पर यह स्वयं अपने को 'सेवक गुनी जन के चाकर चतुर के हैं, कविन के मीत चित हित गुन गानी के' कहते हैं। यह कोई ऐश्वर्यशाली राजा या महाराजा नहीं थे, तिस पर 'घर के शुभचिंतकों' द्वारा घर से निकाले हुए थे, इतने पर भी यथाशक्ति इन्होंने किसी को विमुख न फेरा। स्वयं देने के सिवा सभाएँ कर या काशिराज द्वारा ये गुणियों को विशेष रूप से पुरस्कृत भी कराते थे।

सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद पं० बापूदेव शास्त्री जी ने भारतेन्दु जी के आग्रह से सं० १९३४ वि० से नया पचांग निकालना आरंभ किया था। इसके पहले के जो पंचांग काशी में प्रकाशित होते थे, वे ऐसे भ्रष्ट होते थे कि ग्रामीण पंडितगण भी उनकी निन्दा करते थे। इस नवीन पंचांग के प्रकाशित होने से यह अभाव पूरा हो गया। भारतेन्दु जी इसके पुरस्कार में शास्त्री जी को एक बहुमूल्य दुशाला भेंट किया था। शास्त्री जी भारतेन्दु जी के यहाँ प्राय: आया करते थे पर एक दिन भारतेन्दु जी के एक मजाक पर कुछ क्रुद्ध होकर घर बैठ रहे।

पंडितप्रवर श्री सुधाकर द्विवेदी भी प्रसिद्ध ज्योतिषी थे और यही पूर्वोक्त पंडितजी के मृत्यु पर संस्कृत कालेज में उनके स्थानापन्न नियुक्त हुए थे। यह एक बार भारतेन्दु जी के साथ राजघाट का पुल देखने गए, जो उस समय बन रहा था। वहाँ से लौटने पर पंडित जी ने इस पुल-दर्शन पर एक दोहा इस प्रकार बनाकर सुनाया कि—

राजघाट पर बँधत पुल जहँ कुलीन की ढेर।
आज गए कल देखि के आजहिं लौटे फेर॥

इस दोहे के 'कल' शब्द पर प्रसन्न होकर भारतेन्दु जी ने इन्हें सौ रुपये पुरस्कार दिए थे। इन्हीं पंडित जी ने सायन तथा निरयण गणनानुसार भारतेन्दु जी की जन्मपत्री बनाई थी। यह पुस्तकाकार प्रकाशित भी हुई है। भारतेन्दु जी ने इसके लिये उन्हें पाँच सौ रुपये देकर सन्मानित किया था।

विद्वद्वर भारतमार्तंड श्री गट्टूलाल जी की विद्वत्ता, आशु कविता तथा शतावधान की शक्ति विख्यात थी। जिस समय यह काशी पधारे उस समय भारतेन्दु जी ने इनके सम्मानार्थ एक बड़ी सभा की थी। इसमें काशी के सभी प्रसिद्ध देशीय और यूरोपीय विद्वान् एकत्र हुए थे। श्री गट्टूलाल जी दोनों आँखों के अंधे थे, पर उनकी ज्ञानदृष्टि अपूर्व थी। समस्यापूर्ति बात की बात में करते थे। अनेक भाषाओं में कई सज्जनों ने भिन्न-भिन्न प्रश्न किए पर आपने प्रश्नों की समाप्ति पर सबके उत्तर ठीक क्रम से दिए थे।

एक दाक्षिणात्य विद्वान् नारायण मार्तण्ड भी उसी समय काशी में आए, जिनकी गणित शक्ति विलक्षण थी। भारतेन्दु जी ने इनका गणित तथा अष्टावधान-कौशल देखने के लिए अपने ही गृह पर सभा कराई थी। यह बड़े-बड़े हिसाब, जिन्हें हल करने में कई दिन लग जाते, पाँच-पाँच मिनट के भीतर कर डालते थे। ऐसे हिसाब करते समय वह बराबर किसी से ताश, किसी से शतरंज और किसी से चौसर खेलते रहते थे तथा अन्य सज्जन उनसे बकवाद करते रहते या प्रश्नों की झड़ी लगाए रहते थे। उस पर भी मन ही मन हिसाब कर अभ्रांत फल निकाल लेते थे। भारतेन्दु जी ने इन्हें स्वयं बहुत कुछ दिया और काशिराज से भी दिलवाया था। इन्हीं के कारण काशी के अन्य धनाढ्यों से भी इन्हें बहुत पुरस्कार मिला था।

इसी प्रकार दक्षिण ही के एक धनुर्धर बेंकट सुप्पैयाचार्य काशी आए। भारतेन्दु जी ने इनका कौशल देखने के के लिए रामकटोरा वाले अपने बाग में सभा

की। इसमें क्वीन्स कालेज के प्रिंसिपल तथा वाल्मीकीय रामायण के अनुवादक मिस्टर ग्रिफिथ तथा अन्य यूरोपीय और देशीय विद्वान् तथा सज्जनगण उपस्थित थे। इस धनुर्धर ने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध कर एक दूसरे व्यक्ति की आँखों पर तिनका बाँध कर तथा उस पर मोम से चाँदी की दुअन्नी चिपकाकर केवल शब्द पर एक तीक्ष्ण तीर ऐसा मारा कि दुअन्नी उड़ गई और तिनका ज्यों का त्यों रह गया। दूसरा कौशल यह था कि जिस प्रकार जयद्रथ के शिर को अर्जुन ने तीरों ही के द्वारा उड़ाकर उसके पिता के गोद में गिरा दिया था, उसी प्रकार इन्होंने एक नारंगी को तीर ही मारकर बाहर चालीस-पचास गज दूर खड़े एक मनुष्य के हाथ में गिरा दिया। तीसरा कौशल यह था कि कुएँ में गिरती हुई अंगूठी को बीच ही में से तीर मार कर बाहर निकाल लिया था। इस प्रकार के कई आश्चर्य-जनक दृश्य इन्होंने दिखलाए, जिन्हें देखकर यूरोपीय विद्वानों ने भी कहा कि इनके कृत्य महाभारत की कथित धनुर्विद्या के कौशलों का सत्य होना साबित कर रहे हैं।

बाबा तुलसीदास नामक एक पहलवान जब काशी में आए तब उनकी शक्ति के खेल दिखलाने को नार्मल स्कूल में सभा कराया था। हाथी बाँधने का सूत का मोटा रस्सा यह पैर के अँगूठे में बाँध कर तोड़ डालते थे। लोहे के मोटे से मोटे छड़ को यह मोमबत्ती की तरह दोहरा देते थे। यह दो कुर्सियों पर सिर और पैर रख कर लेट जाते और अधर में स्थित छाती पर छः इंच मोटा पत्थर तुड़वा लेते थे। जटायुक्त नारियल सिर पर मार कर फोड़ डालते थे। तात्पर्य यह कि इन्होंने इस प्रकार के अमानुषिक शक्ति में कई अद्भुत दृश्य दिखलाए थे। यह जोधपुर के निवासी थे तथा कविता भी करते थे।

सुप्रसिद्ध बिहारीलाल की सतसई हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। इस सतसई का चरखारी-निवासी कवि परमानन्द जी ने संस्कृत में छन्द-बद्ध अनुवाद कर उसका 'श्रृङ्गारसप्तशतिका' नाम रखा था। कन्या-विवाह के कारण अथवा और किसी आवश्यकता पड़ने पर धन के लिये यह इस अनुवाद को लेकर पर्यटन को निकले और घूमते-फिरते काशी आए। ये बहुत जगह घूमे पर कहीं से इन्हें वांछित धन की प्राप्ति न हो सकी। भारतेन्दु जी ने यह सप्तशतिका[1] देख कर बड़ी

---

[1] यह ग्रंथ मूल हिन्दी, संस्कृत अनुवाद तथा टीका सहित पौष सं० १९३० में काशी के विद्योदय प्रेस से लीथो में छपा था, पृ० सं० ३४७ तथा दोहे ७०१। अन्य समाप्ति चैत्र कृ० ११, सं० १९२९ वि० दी है।

प्रसन्नता प्रगट की और एक सभा करके उक्त पंडित जी को स्वयं पाँच सौ रुपये, बनारसी दुपट्टा आदि वस्त्र देकर विदा दी थी। उसी सभा में उपस्थित अन्य सज्जनों ने मिलकर दो सौ रुपए और दिए, जिससे प्रति दोहे पीछे परमानंद जी को एक-एक रुपए पड़ गए। यह पुरस्कार कम न था। मूल के लिए जयपुराधीश महाराजाधिराज जयसिंह ने जब एक-एक मुहर दी तब अनुवाद के लिये एक गृह-निर्वासित ऋण-ग्रस्त प्रजा के लिये एक-एक रुपए देना बहुत था, कोरा अपव्यय था। सुधाकर जी को एक दोहे पर सौ रुपए दे डालना तो बाप-दादों के बनाए घर को जड़मूल सहित फूँक डालना ही कहा जायगा। ये रुपए भी किसी आवश्यक कार्य के लिये रखे हुए थे। उसका ध्यान न कर एक साहित्य-सेवी का सम्मान करते हुए उन्होंने यह रकम उन्हें अर्पण कर दी।

इस दान के विषय में साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास ने स्वरचित विहारी-विहार की भूमिका में पंडित परमानंद जी की 'शृङ्गार सप्तशतिका' का उल्लेख करते हुए इस प्रकार लिखा है—"मुझे ठीक स्मरण है कि दशाश्वमेध की संगत में महंत बाबा सुमेरसिंह साहबजादा साहब के यहाँ पिता जी के साथ मैं बैठा था। साहित्य की कोई बात महंत जी ने पूछी थी, मेरे पिता जी कह रहे थे। इसी समय अकस्मात् बाबू हरिश्चन्द्र जी और उनके साथ पंडित परमानन्द आए। पंडित परमानन्द जी साँवले थे। लगभग ३० वर्ष की वय थी। मैली-सी धोती पहिने, मैली छींट की दोहरी मिरजई पहने, बनाती कन्टोप ओढ़े, एक सड़ी-सी दोहर शरीर पर डाले थे। बाबू साहब ने पिता जी से उनके गुण कहा। सुन के सब उनकी ओर देखने लगे। उन्होंने अपनी हाथ की लिखी हुई पोथी बगल से निकाली और थोड़ी बाँचकर अपनी दशा कह सुनाई कि "मुझे (कन्या-विवाह अथवा और कोई कारण कहा ठीक स्मरण नहीं) इस समय कुछ द्रव्य की आवश्यकता है, इसीलिये चिर परिश्रम में यह ग्रंथ बनाया कि किसी से व्यर्थ भिक्षा न माँगनी पड़े। अब मैं इस ग्रंथ को लिए कितने ही राजा-बाबुओं के यहाँ घूम चुका। कोई तो कविता के विषय में महादेव के वाहन मिले, कहीं सभा-पंडित घुसने नहीं देते, कहीं संस्कृत के नाम से चिढ़, कोई रीझे तौ भी पचा गए, कोई कोई वाह-वाह की भरती भर कर रह गए, और कोई, अतिप्रसन्नो दमड़ीं ददाति। अब बाबू साहिब का आश्रय लिया है। थोड़े ही दिनों के अनन्तर बाबू साहिब ने ५००) मुद्रा और उनके मित्र रघुनाथ पंडित प्रभृति ने २००) यों दोहा पीछे १) इनकी बिदाई की। जो अनेक चँवर छत्रधारी राजा-बाबू न कर सके,

सो वैश्य बाबू हरिश्चन्द्र ने किया। हा! अब यह आसरा भी कविजन का टूट गया।''

सं० १९२८ में अप्ययाचार्य प्रतिवादी भयंकर कविकुलकंठीरव शतावधानी नामक एक बड़े मेधावी कवि काशी आए थे। काशिराज के कुछ पंडितों की धूर्तता से इनका विशेष सम्मान नहीं हुआ। भारतेन्दु जी ने इनका अष्टावधान देखने के लिए अपने ही गृह के छत पर सभा कराई थी। इसी सभा में पंडित अम्बिका दत्त जी व्यास को सुकवि की पदवी दी गई थी। इसमें इनका पूरा सम्मान किया गया था। इसका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है।

सन् १८७५ ई० में जब महाराज काश्मीर काशी पधारे थे तब उन्होंने भारतेन्दु जी का बहुत सम्मान किया था और इनके निवेदन पर महाराज ने पाँच सौ विद्वानों की सभा भी की थी। इस सभा में प्रत्येक विद्वान को तीन-तीन गिन्नियाँ प्रदान की गई थीं।

लखनऊ वाले वाजपेयी वैयाकरणी बौदल बाबा, जिनकी अवस्था उस समय अस्सी वर्ष की थी, अपने पौत्र के साथ अपने एक सम्बन्धी के यहाँ मिर्जापुर में टिके हुए थे। वहीं उनके रुपये का बटुआ और लड़के का आभूषण गंगा तट पर से चोरी चला गया और वे बड़े कष्ट से काशी आए। व्यास गणेशदत्त जी उन्हें भारतेन्दु जी के पास लिवा लाए। इन्होंने उन्हें एक मास तक अपने पास रखा और विदा करते समय उनको अच्छी सहायता भी दी।

जिस प्रकार यह दूसरों के दुःख देखकर दुःखी होते थे, उसी प्रकार दूसरों के सुख में सुख मानते थे। सन् १८७४ ई० के मार्च महीने में जब राजा शिवप्रसाद को भारत सरकार ने राजा की पदवी दी तब इन्होंने बड़े धूम-धाम से उसका उत्सव मनाया था। नगर में रोशनी, गायन-वादन, विश्वनाथ जी का शृङ्गार आदि उनके अंग थे। महाराज सर ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह बहादुर काशी-नरेश नेत्र-रोग के कारण ज्योतिर्विहीन हो गए थे और अनेक उपचार होने पर अन्त में कलकत्ते के एक नामी डाक्टर द्वारा आँख बनवाई गई थी। उस साल के बुढ़वा मंगल में महाराजा शरीक न हो सके, इस पर भारतेन्दुजी ने काशिराज का बड़ा चित्र अपने कच्छे पर लगा कर 'सब काशीवासियों को दर्शन करा के नेत्र तृप्त करा दिया।' नेत्रों के ठीक हो जाने पर सन् १८८४ ई० में इन्होंने कारमाईकेल में बड़े समारोह से आनन्दोत्सव मनाया था। कुछ कुचालियों के प्रयत्न करने पर भी यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गया था।

लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिद अलीशाह जब राज्य से हटाए जाकर कलकत्ते भेजे गए, उस समय उनके साथ उर्दू के दस-बारह कवि भी गए थे। नवाब साहब मटियाबुर्ज में रहने लगे और उनकी छाया में ये कवि गण भी कालयापन करते थे। इन्हीं कवियों में से किसी मिर्जा आबिद ने बाईस शैर का एक कसीदा भारतेन्दुजी की प्रशंसा में लिख कर भेजा और इनसे कुछ आर्थिक सहायता चाही। वह कसीदा नीचे उद्धृत कर दिया जाता है—

बाग़े आलम में मोतदिल[१] है हवा।
नख़्ले-उम्मीद[२] है हरा सब का॥
कुछ ज़माने का रंग फिर बदला।
फिर नया तौर कुछ नज़र आया॥
किसकी या रब नसीमे-फ़ैज़[३] चली।
खिल रहे हैं जो यहाँ गुले राना[४]॥
था इसी फ़िक्र में कि आई निदा[५]।
जानता तू नहीं है उसको क्या॥
कि हरिचन्द नाम नामी है।
मसकन उसका है खास काशी का॥
गौहरे - बहरे - फैजो[६] अबदे-करम[७]।
समरे - नख़्ले-बाग़ - जूदो - सख़ा[८]॥
जब निदा कान में यह आई मेरे।
शुक्र खालिक़[९] का मैं बजा लाया॥
किबरिया[१०] खल्क़ में भी ऐसा शख़्स।
तुमने अपने करम से खुल्क[११] किया॥
इल्मो हिल्मो[१२] मुरव्वतो इख़लाक[१३]।
तुमको ख़ालिक़ ने सब किया है अता॥

---

[१]साधारण, न अधिक गर्म न अधिक ठंढा। [२]आशा का वृक्ष। [३]दया की धीमी हवा। [४]रंग-विरंग के फूल। [५]शब्द, आवाज़। [६]दया रूपी समुद्र का मोती। [७]कृपा का बादल। [८]दान तथा उदारता के बाग़ के वृक्ष का फल। [९]स्रष्टा, संसार बनाने वाला। [१०]ईश्वर। [११]रचना, बनाना। [१२]शील। [१३]अदब, क़ायदा, सुव्यवहार।

वाक़ई जो सखी हैं आलम में।
नेकनामी उसी का है हिस्सा॥
तेरा जारी रहे य बहरे करम।
बहे जब तक जहान में गंगा॥
हर इलमो फनून के माहिर[१]।
क़द्रदाँ अहलेफन के हो बखुदा॥
दे फलातूँ[२] को जो सबक वह अक्ल।
है अरस्तू[३] भी तेरा जिल्ले रुबा[४]॥
इल्मे अबदान[५] से भी हो माहिर।
इल्म अदियान[६] सब है तुम प खुला॥
नाम हातिम[७] का ख़ल्क भूल गई।
सुनके सुहरत[८] तेरी सखावत का॥
हुआ कोई जो शाल का ख्वाहाँ।
उसको कशमीरी आपने बखशा॥
हो गया कशमकश[९] में था दिलेज़ार[१०]।
आपका नाम सुनके कुछ सम्हला॥
क़द्रदाँ आप हैं वगरनः भला।
फिक्र से इतनी मुझको काम था क्या॥
आज की हाज़िरी लिखी मुन्शी।
कल्ह सबेरे तो कूच है अपना॥
मुफ़लिसी जो मकान को जाना।
अर्ज को इसलिए है पेश किया॥
ज़ात तेरी शरीफ़-परवर[११] है।
मैं भी उम्मीद लुत्फ हूँ रखता॥

---

[१]ज्ञाता, जानने वाला। [२]यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान्। [३]यह भी यूनान के विख्यात दार्शनिक और बादशाह सिकन्दर के मंत्री थे। [४]साथ ले जानेवाला, अनुयायी। [५]अबद का अर्थ बंदा है, खुदा के बंदों का इतिहास। [६]दीन का बहुवचन धर्म का ज्ञान। [७]प्रसिद्ध दानी हो गया है। [८]प्रसिद्धि। [९]घबड़ाहट। [१०]दुःखी हृदय। [११]भद्र लोगों का पालने वाला।

रोज अफजू[1] हो तेरा जाहो-हशम[2] ।
है यह "आबिद" की जानो दिल से दुआ ।।

रुचि-वैचित्र्य

भारतेन्दु जी ने 'प्रेमयोगिनी' में एक पात्र से अपने लिये कहलाया है कि "फिर आप तो जो काम करेंगे एक तजर्बाज के साथ।" इसी सजीवता या तबीयतदारी के कारण इन्होंने हिन्दी में कई चाल के पत्र आदि लिखने की प्रथा चलाई। छोटी-छोटी नोटबुक छपवाकर उन्हें मित्रों में वितरित करते थे जिन पर 'हरिश्चंद्र को न भूलिए' आदि से प्रेम वाक्य छपे रहते थे । काशी के एक कमिश्नर मिस्टर कार्माइकेल ने ऐसे ही एक नोटबुक की प्रशंसा भी की थी।

"हमने अपने पत्रों को लिखने के हेतु सात वारों के भिन्न-भिन्न रङ्ग के कागज और उनके ऊपर के दोहे आदि बनाए थे। इनमें लाघव यह है कि बिना वार का नाम लिखे ही पढ़ने वाला जान जायगा कि अमुक वार को पत्र लिखा है। जैसा शनैश्चर के पत्र के ऊपर लिखा हुआ था 'श्री श्यामा श्यामाभ्यां नमः।' उसके नीचे यह दोहा लिखा था--

और काज सनि लिखनि में होइ न लेखनि मंद।
मिलै पत्र उत्तर अवसि यह बिनवत हरिचंद ।।

इसमें मंद और शनि का शब्द निकला। आदित्यवार से शनिवार तक कागजों के ऊपर के नाम और स्याही का यह क्रम समझना चाहिए। यथा आदित्यवार—'भक्त कमल दिवाकरायनमः', सूर्यवंश विकाशाय श्री रामायनमः', कागज का रंग गुलाबी, स्याही का रंग लाल।

मित्र पत्र बिनु हिय लहत छिनहूँ नहिं बिश्राम।
प्रफुलित होत न कमल जिमि बिनु रवि उदय ललाम ।।

सोमवार, 'श्री कृष्णचन्द्रायनमः', 'लक्ष्मी-मुख-चन्द्र-चकोरायनमः', 'श्री रामचन्द्रायनमः', 'चन्द्रशेखरायनमः', 'चन्द्रचूड़ायनमः' । कागज का रंग सफेद, स्याही का रंग रूपहली।

बंधुन के पत्रहिं कहत, अर्थ मिलन सब कोय।
आपहु उत्तर देहु तौ, पूरो मिलनो होय ।।

उदाहरणार्थ इनके रचित पत्रबोध से केवल इतना ही उद्धृत कर दिया गया

[1]उन्नतिशील, बढ़ने वाला। [2]ऐश्वर्य, संपत्ति।

है। इनका मुख्य सिद्धान्त वाक्य 'यतो धर्मस्ततो कृष्णः यतोकृष्णस्ततो जयः' था। इनके मोनोग्राम या सिद्धान्त-चिह्न के चित्र नीचे दिये जाते हैं।

पहले में भारतेन्दु जी के नाम का पहिला अंग्रेजी अक्षर एच (H) है, जिसकी दो पाई दो-दो खंभों से बनाई गई है, जिससे इनका निवास-स्थान चौखंभा भी अंकित हो जाता है। खंभों के ऊपर का त्रिशूल त्रिशूलस्थ काशी का द्योतन कर रहा है। एच के बीच की पाई द्वितीया के चन्द्र से बनी है जिस पर इनके इष्ट देव का नाम 'श्री हरि' लिखा रहने से हिन्दी में इनका पूरा नाम श्री हरिश्चन्द्र बन जाता है। इस चन्द्र के नीचे रोहिणी तारा का चिह्न बिन्दु बना है जो फारसी लिपि की छोटी हे (ه) का भी काम देता है। दूसरे में भारतेन्दु जी के इष्टदेव युगलमूर्त्ति चित्रित हैं। तीसरे में वेणु और चन्द्रक श्री हरि का द्योतक है तथा चन्द्र बना हुआ है, जिससे मिलकर पूरा नाम श्री हरिश्चन्द्र बन जाता है।

'उत्तर शीघ्र', 'जरूरी' आदि से शब्दों के वेफर भारतेन्दु जी ने छपवा रखे थे, जिन्हें उचित स्थानों पर चिपका देते थे।

लेखन तथा आशुकवित्व शक्ति

भारतेन्दु जी जिस प्रकार अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे, उसी प्रकार कई लिपियों को बड़ी सुन्दरता के साथ लिख सकते थे। नागरी तथा अंग्रेजी के अक्षर बहुत ही सुन्दर बनाते थे और महाजनी, फारसी, गुजराती और बंगला भी अच्छी तरह लिखते थे। हिन्दी तो वह इतनी शीघ्रता से लिखते थे कि उर्दू तथा अंग्रेजी लिखने वालों को बाजी लगाकर जीता था। उस पर अक्षर सुडौल ही रहते थे। आश्चर्य यह भी था कि बात-चीत करते जाते थे और लेखनी चलती जाती थी। इसी सब को देखकर डाक्टर राजा राजेन्द्रलाल मित्र ने इन्हें 'राइटिंग मशीन' की पदवी दी थी।

यों तो लिखने-पढ़ने का सामान सर्वदा इनके पास रहता था और जब यह घूमने फिरने जाते थे तब भी यह सामान इनके साथ रहता था। यहाँ तक कि थियेटर हॉल तथा मजलिसों में भी यह सामान मौजूद रहता था। यदि किसी कारण वश कलम-दावात न मिल सकी तो कोयले या ठीकरे से दीवार ही पर लिख डालते थे। लेखनी न हुई तो तिनके ही से उसका काम लेते थे। इस बे-सामानी के होने पर भी अक्षर बिगड़ते नहीं थे।

इनकी लेखन-शक्ति के समान ही इनकी आशुकवित्व शक्ति भी बड़ी विलक्षण थी। चार-चार मिनट के भीतर समस्यापूर्त्ति कर डालते थे। महाराणा उदयपुर के राजदरबार में समस्यापूर्त्ति करने का उल्लेख हो चुका है और उनमें भी एक पद में कितनी दबंगता तथा अपने इष्टदेव पर विश्वास भरा था। उसका अंतिम चरण यों है—

होइ लै रसाल तू भलेई जग जीव काज,
आसीं ना विहारे ये निवासी कल्पतरु के।

काशीनरेश के दरबार में एक बार ऐसा हुआ कि किसी सज्जन ने एक ऐसी समस्या दी जिसकी कोई पूर्ति नहीं कर सका था। उसी समय भारतेन्दु जी वहाँ आ गए। तब महाराज ने इनसे कहा कि "बाबू साहब, इस समस्या की पूर्ति आप कीजिए, किसी कवि से न हो सकी।" इन्होंने तुरन्त लिखकर इस प्रकार सुना दी कि मानो वह उन्हें पहले ही से याद थी। दरबार के उपस्थित कवियों में से किसी ने ईर्ष्या से कह दिया कि 'पुराना कवित्त बाबू साहब को याद रहा होगा।' यह सुन कर भारतेन्दु जी को क्रोध हो आया और उन्होंने दस बारह कवित्त उसी समस्या पर बराबर बनाकर सुनाने और बार-बार पूछने लगे कि "क्यों कवि जी, यह भी पुराना है न?" अंत में महाराज के बहुत कहने से रुके। इन्हीं गुणों से महाराज इन पर अत्यधिक स्नेह रखते थे। महाराज को सोमवार घातवार था, इसलिए इस दिन वे किसी से नहीं मिलते थे। एक बार दरबार में उपस्थित न होने का यही कारण भारतेन्दु जी ने भी लिख भेजा जिस पर काशिराज ने जो दोहा उत्तर में लिख भेजा था, उसके प्रति अक्षर स्नेह-स्निग्ध थे—

हरिश्चन्द्र को चन्द्र दिन तहाँ कहा अटकाव।
आवन को नहिं मन रह्यो इहै बहाना भाव॥

पंडित अम्बिकादत्त व्यास लिखते हैं कि "इस समय एक दाक्षिणात्य काले से मोटे तैलंग अष्टावधान काशी में आए थे। उनका अष्टावधान-कौशल भारतेन्दु

बाबू हरिश्चन्द्र जी की कोठी में हुआ था......ग्रीष्मकाल था। बाबू साहब की कोठी पर चाँदनी में हम लोग बैठे थे। दोनों भाई बा० हरिश्चन्द्र और गोकुलचन्द्र थे। काशी के और भी कई पंडित थे। उन ब्राह्मण ने अति रमणीयता से अष्टावधान दिखलाया। समाप्त होने पर बा० हरिश्चन्द्र ने उन्हें साधुवाद दिया। एक कवि ने कहा कि 'चन्द्र-सूर्य्य साथ ही उगे' इस तात्पर्य की पूर्ति अष्टावधान जी मन्दाक्रान्त में और बाबू साहब कवित्त में साथ ही करें। बस, दोनों काव्य-वीरों की लेखनी दौड़ पड़ी और सद्यः साथ ही वह श्लोक और यह कवित्त सम्पन्न हुए। श्लोक का भावार्थ तो मैं भूल गया परन्तु बाबू साहब के कवित्त में खण्डिता की उक्ति में नायिका के मुख पर उत्प्रेक्षा थी। फिर बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी रचित हिन्दी में बहुत-सी कविता पढ़ी और मुझसे मेरी पढ़वाई, तथा मुझे सुकविपद सहित प्रशंसा-पत्र दिया।"

भारतमार्तंड श्री गट्टूलाल जी स्वयं विख्यात आशु-कवि थे पर वे भी भारतेन्दु की समस्या-पूर्ति तथा आशुकवित्व पर मुग्ध हो गए थे। श्रीकुन्दनलाल जी शाह अच्छे भक्त तथा सुकवि थे। इनके भाई श्री साह फुन्दनलाल जी भी वैसे ही भक्त तथा सुकवि थे। ये दोनों सज्जन कविता में अपना उपनाम क्रमशः 'ललित किशोरी' और 'ललित माधुरी' रखते थे। इनमें से प्रथम से भारतेन्दु जी की घनिष्टता थी और प्रायः ये लोग एक-दूसरे को समस्या दिया करते थे और पूर्तियाँ भी किया करते थे। 'हरिश्चन्द्र' मैगजीन की सं० ७-८ में एक समस्या 'कान्ह कान्ह गोहरावति है' पर भारतेन्दु जी की पन्द्रह तथा शाह जी की बारह सवैयाएँ पढ़ने योग्य हैं। काशीराज के पौत्र के यज्ञोपवीतोत्सव के समय 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' पर कई श्लोक तत्काल ही बना कर पढ़े थे। उनमें से एक श्लोक यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है—

यद्वत् वटोर्वामनवेषविष्णोः रामस्य जातं यदुनंदनस्य।
तद्वत् कृतं काशिनरेश्वरेण यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्॥

सं० १९२४, पौष शुद्ध १५ (जि० १, नं० ५) के कविवचन सुधा में श्री ताराचरण तर्करत्न, कामाख्या, बनारस ने निम्नलिखित समस्यापूर्तियाँ छपवाई हैं। उस समय भारतेन्दु जी केवल अठारह वर्ष के थे।

"आज मैं बाबू हरिश्चन्द्र से मुलाकात करने गया था जहाँ बाबू साहब ने मुझे यह समस्या दिया (राधामयाराध्यते)। उस पर मैंने यह श्लोक बनाया—

श्रुत्वा वेणुरवन्निकुञ्जभवने जाता निशीथेऽबला।
नो दृष्ट्वा प्रियकृष्णवक्त्रकमलं मुग्धा भ्रमन्ती मुहुः॥

पश्चाच्छन्नतमम्विलोक्य दयितं शान्तास्ततस्सं स्थिता ।
नाथेनस्मितचुम्बितास्मितमुखी राधा मयाराध्यते ॥

यद्यपि यह श्लोक मेरे चित्त का नहीं बना तथापि बाबू साहेब बहुत प्रसन्न भए और कहा कि मुझे भी कोई समस्या दीजिए, तब मैंने समस्या दिया। 'तू वृथा मन क्यों अभिलाष करै' और 'जिन कामिनी के नहिं नैन निहारे।' इस पर पूर्वस्तुत बाबू साहब ने ये कवित्त बनाए जो कविवचन-सुधा के रसिकों को आनंद देने के वास्ते लिखे जाते हैं—

जब ते बिछुरे नंदनंदन जू तब ते हिय में बिरहागि जरै।
दुख भारी बढ़्यो सो कहौं केहि सों 'हरिचंद' को आइके दुःख हरै ॥
वह द्वारिका जाइ कै राज करैं हमैं पूछिहैं क्यों यह सोच परै।
मिलिबो उनको कछु खेल नहीं तू वृथा मन क्यों अभिलाष करै ॥
वेई कहैं अति सुन्दर पंकज, वेई कहैं मृगनैन बड़ारे।
बेई कहैं अति चंचल खंजन, वेई कहैं अति मीन सुधारे ॥
वेई कहैं अति बान को तीछन, वेई कहैं उगिया बटपारे।
वेई कहैं धनु काम लिए जिन कामिनी के नहिं नैन निहारे ॥

'अंधेर नगरी' प्रहसन एक ही दिन में लिखी गई थी। 'विजयिनी विजय-वैजयंती' सभा होने वाले ही दिन कुछ ही देर में लिख डाली गई थी। बलिया का लेक्चर तथा हिन्दी का व्याख्यान (पद्यमय) एक-एक दिन में लिखे गए थे। इस प्रकार देखा जाता है कि कविता करने तथा ग्रंथ रचना दोनों ही में इनकी गति अतिद्रुत थी।

पाठकों के विनोदार्थ यहाँ इनकी आदि कविताएँ उद्धृत की जाती हैं। सबसे पहला दोहा—'लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए' इत्यादि है जिसका उल्लेख हो चुका है। सबसे पहला सवैया—

यह सावन सोक नसावन है, मनभावन यामैं न लाजै भरौ।
जमुना पै चलौ सु सबै मिलि कै, अरु गाइ बजाइ कै सोक हरौ ॥
इमि भाषत हैं हरिचन्द पिया, अहो लाड़िली देर न यामैं करौ।
बलि झूलो झुलाओ झुको उझको, एहिपायैं पतिब्रत तायैं धरौ ॥

पहला पद यों है—

हम तो मोल लिए या घर के।
दास दास श्री बल्लभ कुल के चाकर राधा-बर के ॥

माता श्रीराधिका पिता हरि बन्धु दास गुनकर के।
'हरीचंद' तुमरे ही कहावत, नहिं विधि के नहिं हर के॥

इनकी बनाई सबसे पहली ठुमरी यह है—

पछितात गुजरिवा घर में खरी।

अब लगि श्यामसुँदर नहिं आए दुखदाइन भइ रात अँधरिया।
बैठत उठत सेज पर भामिनि पिया बिना मोरी सूनी सेजरिया॥

ऐसी कवित्व शक्ति होने ही के कारण यह अपनी रचना में दूसरों के भाव नहीं लेते थे। एक बार इन्होंने एक कवित्त बनाया जिसके भावों के विषय में उनका विचार यह था कि नए भाव हैं; परन्तु मैंने इन्हीं भावों का एक कवित्त (अपने पितृव्य बा० पुरुषोत्तमदास जी के) एक प्राचीन संग्रह में देखा था, उसे दिखाया; इन्होंने तुरंत उस अपने कवित्त को (यद्यपि उसमें प्राचीन कवित्त से कई भाव अधिक थे) फाड़ डाला और कहा—"कभी कभी दो हृदय एक हो जाता है। मैंने इस कवित्त को कभी नहीं देखा था, परन्तु इस कवि के हृदय से इस समय मेरा हृदय मिल गया, अतः अब इस कवित्त के रहने की कोई आवश्यकता नहीं।" वह प्राचीन कवित्त यह था—

जैसी तेरी कटि है तू तैसी मान करि प्यारी,
जैसी गति तैसी मति हिय ते बिसारिये।
जैसी तेरी भौंह तैसे पन्थ पै न दीजै पाँव,
जैसे नैन तैसिए बड़ाई उर धारिए॥
जैसे तेरे ओंठ तैसे नैन कीजिए न, जैसे
कुच तैसे बैन मुख तें न उचारिए।
एरी पिक-बैनी! सुनु प्यारे मनमोहन सों,
जैसी तेरी बेनी वैसी प्रीति बिसतारिए॥

समाज-सुधार

भारतेन्दु जी हिन्दू समाज के अंतर्गत अग्रवाल वैश्य जाति के थे और इनका धर्म श्री बल्लभीय वैष्णव-संप्रदाय था। पुराने विचारों की जड़ अंग्रेज़ी साम्राज्य के जाने तथा यूरोपीय सभ्यता के फैलने से वहाँ की विचार-धारा के संघर्षण से हिल चली थी। पुराने तथा नवीन विचार वाले दोनों पक्ष अपने-अपने हठ पर अड़े थे। एक पक्ष दूसरे को नास्तिक, क्रिस्तान, भ्रष्ट कह रहे थे तो दूसरे उन्हें 'कूपमंडूक

अंधविश्वासी आदि की पदवी दे रहे थे। दोनों ही पक्षवाले इनसे अपने-अपने पक्ष-समर्थन होने की आशा कर रहे थे पर यह सत्य के सच्चे भक्त थे और जो कुछ इन्होंने देश तथा समाज के लिये उचित समझा, उसे निःसंकोच होकर कह डाला। यह वर्णव्यवस्था मानते थे और वैष्णव-धर्म के पक्के अनुगामी थे। साथ ही यह समाज के दोषों का निराकरण भी उचित समझते थे। यह कहते थे कि "सब उन्नतियों का मूल धर्म है...... ये सब तो समाज धर्म हैं जो देश-काल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं......बहुत-सी बातें जो समाज-विरुद्ध मानी हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए, जैसे जहाज का सफर, विधवा विवाह आदि। लड़कों को छोटेपन ही में व्याह कर उनका बल-वीर्य, आयुष्य सब मत घटाइए।......कुलीन प्रथा, बहु विवाह आदि को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइए।...... सब लोग आपस में मिलिए।" यह इनकी प्रौढ़ावस्था का उपदेश है।

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में यह उद्योग भी बराबर करते थे। मिस मेरी कारपेंटर के इस उद्योग में यह प्रधान सहायक थे। बंगाल, बंबई तथा मंदराज विश्वविद्यालयों की परीक्षोत्तीर्ण छात्राओं के लिये बनारसी साड़ियाँ आदि पुरस्कार भेजकर उन्हें उत्साहित करते थे। पर ईसाई चाल पर दी जाने वाली शिक्षा के विरोधी थे। इनका कथन था कि "ऐसी चाल से उन्हें शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुलधर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।" इन्होंने स्वयं अपनी लड़की को अच्छी शिक्षा दी थी, जो बाल्यकाल में सदा अस्वस्थ रहती थीं। यह श्रीमद्भागवत आदि का पाठ सुगमतापूर्वक कर लेती थीं और निज का अच्छा छोटा-सा पुस्तकालय बना रखा था। बँगला भी जानती थीं। बा० राधाकृष्ण दास जी ने स्वर्णलता का अनुवाद पूर्ण होने पर उसकी एक प्रति इन्हें भी उपहार में दी थी और इनकी सम्मति पूछी थी। दूसरे दिन इन्होंने जो सम्मति दी उसका तात्पर्य यह था कि अनुवाद उत्तम हुआ है पर सुखांत कर देने से इसका प्रभाव कुछ कम हो गया है। सन् १८८० ई० की मई में इन्हीं के विवाह के अवसर पर भारतेन्दु जी ने स्त्रियों के अश्लील गाने को बंद कर दिया था। अग्रवाल बिरादरी में पहले पत्तलें परस जाने के बाद भाइयों को भोजन के लिए बैठाने की प्रथा इन्हीं ने निकाली। गाली गाना बंद कराने पर अनेक सज्जनों ने इन्हें धन्यवाद दिया था। 'रामलीला' पुस्तक में ऐसे अवसर पर गाने योग्य दो-एक पद इन्होंने दिए हैं। विलायत-यात्रा पर इन की सम्मति थी कि—

रोकि विलायत-गमन कूपमंडूक बनायो ।
औरन को संसर्ग छोड़ाइ प्रचार घटायो ॥

समय के प्रभाव से जिन लोगों का संसर्ग आवश्यक हो गया है उन लोगों के देश, समाज आदि का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। ईश्वर की सृष्टि के एक से एक उन्नत देश तथा जाति से मिलकर उनके गुण आदि लेते हुए अपनी उन्नति न करना अपनी ही हानि है, इसी से उन देशों के पर्यटन में धार्मिक या सामाजिक बंधन डालना भी हानिकारक है।

बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किए हिन्दुन घबराई ॥

क्यों न हो हिन्दू-समाज तैंतीस करोड़ देवताओं से भी नहीं अघाया है, कबर, गाजी मियाँ, भूत-प्रेत आदि भी पूजता है।

खसम जो पूजै देहरा, भूत पूजनी जोय।
एकै घर में दो मता, कुशल कहाँ ते होय ॥

हिन्दुओं के आपस की फूट, द्वेष, आलस्य, अहम्मन्यता, मुक़द्दमेबाजी आदि सब पर इन्होंने अपने लेखों मे कुछ-कुछ आक्षेप, विनोद लिए हुए किया है।

देश-सेवा

मातृभाषा-भक्त भारतेन्दु जी के हृदय में देश-सेवा करने का उत्साह कम नहीं था और इन्होंने प्रायः साथ ही दोनों कार्यों में हाथ लगा दिया था। जगन्नाथपुरी से लौटने पर देशोपकारक बाबू हरिश्चन्द्र ने पाश्चात्य-शिक्षा का अभाव तथा उसकी आवश्यकता देखकर अपने गृह पर ही अंग्रेजी तथा हिन्दी की एक पाठशाला खोली। यद्यपि कुछ सरकारी तथा मिशन स्कूल खुल चुके थे पर उनमें जनसाधारण अपने-अपने बालकों को अनेक विचारों से तथा फीस आदि देने में असमर्थ होने से नहीं भेज सकते थे। इस स्कूल में आरम्भ में केवल पाँच ही बालक थे। इन लोगों को यह स्वयं तथा बा० गोकुलचन्द्र जी पढ़ाते थे पर जब क्रमशः विद्यार्थियों की संख्या तीस हो गई तब इन्होंने अध्ययन कार्य के लिये एक वैतनिक सज्जन को नियुक्त कर दिया। जब यह कुछ और बड़े हुए और विद्यार्थियों की संख्या बहुत बढ़ी तब सन् १८६७ ई० में इन्होंने चौखंभा में वेणीप्रसाद के गृह में एक स्कूल स्थापित कर दिया और कई अध्यापक नियुक्त कर दिए। इसमें आधे से अधिक लड़के बिना फीस दिए पढ़ते थे और उन्हें पुस्तक, लेखनी आदि भी बिना मूल्य दी जाती थी। कुछ निराश्रय बालकों को वस्त्र-भोजन भी मिलता था। इस पाठशाला

का पहला नाम 'चौखंभा स्कूल' था और इसका कुल व्यय भारतेन्दु जी स्वय चलाते थे।

सन् १८७० ई० में इसके एक अध्यापक काश्मीरी ब्राह्मण विश्वेश्वर प्रसाद भारतेन्दु जी की आज्ञा भंग करने के कारण निकाल दिए गए। उसने भारतेन्दु जी से वैमनस्य ठान लिया और जिसके घर में स्कूल था उसने भी उसी का साथ दिया जिससे भारतेन्दु जी ने स्कूल पुनः अपने घर उठवा लिया। पंडित जी ने वेणीप्रसाद के पुत्र के सहयोग से ईर्ष्यावश अपना एक स्कूल खोला और चौखंभा के सब लड़कों को धमका कर अपने यहाँ बुलाने लगे। यहाँ तक कि कुछ लोगों के साथ इन के गृह के फाटक के सामने खड़े होकर भीतर किसी लड़के को न जाने देते थे। इस दंगा-फसाद से जब कुछ न हुआ और प्रायः डेढ़-सौ विद्यार्थी चौखंभा स्कूल में आने लगे तब पंडित जी ने भी मेल करना चाहा। दुष्टों की दुष्टता बड़ों के मार्ग के रोड़े मात्र हैं और उससे उनको कोई भी रुकावट नहीं पहुँच सकती। सन् १८८० ई० से सरकार बीस रुपये और उसके बाद पैंतालिस रुपये मासिक देने लगी। म्युनिस्पैलिटी भी दो सौ रुपये वार्षिक सहायता देने लगी। पहले यह प्राइमरी स्कूल था फिर मिडिल स्कूल हुआ। कुछ दिन हाई स्कूल रहकर यह पुनः मिडिल स्कूल हो गया। सन् १८८५ ई० में भारतेन्दु जी की मृत्यु के अनन्तर राजा शिवप्रसाद जी के प्रस्ताव तथा सभापति मि० एडम्स कलेक्टर साहब के अनुमोदन पर इसका नाम हरिश्चन्द्र स्कूल रखा गया। उसके अनंतर क्रमशः इसकी अवनति होती गई और यह बंद ही हो जाने को था कि सन् १९०७ ई० में काशी के कुछ सज्जनों ने जिनमें बा० गोविन्ददास जी आदि प्रमुख थे, तत्कालीन कलेक्टर मिस्टर रेडिची साहब से प्रार्थना की और उन्होंने इसका कार्यभार अपने उपर लिया। नगर के प्रसिद्ध पुरुषों की एक कमेटी बनाई गई। बड़े उत्साह के साथ चंदा उतारा गया, भारत-सरकार ने अच्छी सहायता दी और म्युनिस्पैलिटी ने कम्पनी बाग के सामने की जगह दी, जिससे उस पर चालीस सहस्र रुपये लगाकर स्कूल की इमारत तैयार हुई और जमीन खरीद कर उस पर विज्ञान आदि के लिए छोटी-छोटी इमारतें बनवाई गईं। इस प्रकार कुछ वर्षों में स्कूल इतनी उन्नत अवस्था को पहुँच गया कि एंट्रेन्स क्लास तक की पढ़ाई सुचारु रूप से होने लगी और छः सौ से अधिक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने लगे। इसके अनंतर इस संस्था ने विशेष उन्नति की। सन् १९४० ई० में इण्टरमीडिएट कक्षा भी इसमें खुल गई और यह हरिश्चन्द्र इण्टरमीडिएट कालेज कहा जाने लगा। सन् १९५१ ई० में हिन्दू विश्वविद्यालय के अंतर्गत बी० ए० आर्ट की कक्षाएँ खुल गईं, जिससे यह हरिश्चन्द्र डिगरी कालेज

हो गया। सन् १९५६ ई० से इस कालेज में लॉ (कानून) की पढ़ाई भी आरंभ हो गई है। सन् १९५९ ई० से प्रशिक्षण बी. एड. की भी कक्षा खुल गई है। इस संस्था के अंतर्गत एक मॉडल स्कूल भी है जिसमें छोटे बालक-बालिकाओं को शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार इस संस्था में अब लगभग ढाई सहस्त्र छात्र शिक्षा प्राप्त करने लगे हैं और इसका कुल प्रबंध एक 'बोर्ड आव ट्रस्टीज' अच्छी प्रकार चला रही है।

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' मंत्र को मानने वाले भारतेन्दु जी स्कूल खोलने के बाद ही से मातृ-भाषा की सेवा की ओर झुक पड़े। हिन्दी समाचार पत्रों की कमी देखकर कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन तथा हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, बालाबोधिनी आदि पत्रिका-पत्र स्वयं अपने व्यय से निकाले और दूसरों को सहायता देकर अनेक पत्र प्रकाशित कराए। इन पत्रों से इन्हें बराबर धन की हानि ही पहुँचती रही। हिन्दी में पुस्तकों का अभाव देखकर समयानुकूल पुस्तकों की रचना आरंभ की और हिन्दुओं में हिन्दी के प्रति प्रेम कम देखकर उन्हें प्रकाशित कर बिना मूल्य वितरण करना आरंभ कर दिया। अन्य लोगों को हिन्दी ग्रंथ-रचना का उत्साह दिला कर बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित कराईं। अनेक प्राचीन काव्य-ग्रंथ भी छाप कर बाँटे गए। "वास्तव में हरिश्चन्द्र सरीखा उदार हृदय, रुपये को मिट्टी समझने वाला गुण-ग्राही नायक हिन्दी की पतवार को उस समय न पकड़ता और सब प्रकार से स्वार्थ छोड़कर तन-मन-धन से इसकी उन्नति में न लग जाता तो आज दिन हिन्दी का इस अवस्था पर पहुँचना कठिन था। हरिश्चन्द्र ने हिन्दी तथा देश के लिए सारे संसार की दृष्टि में अपने को मिट्टी कर दिया।" जी नहीं, सिर्फ 'घर के शुभचिंतकों' की दृष्टि में मिट्टी किया था। संसार तो जो उन्हें पहले मानता था, वही या उससे अधिक अब भी मानता है।

सं० १९२७ ई० में भारतेन्दु जी ने 'कविता-वर्द्धिनी सभा' स्थापित की, जो इनके घर पर या रामकटोरा बाग में हुआ करती थी। सरदार, सेवक, दीनदयालगिरि मन्ना लाल 'द्विज', दुर्गादत्त गौड़ 'दत्त', नारायण, हनुमान आदि अनेक प्रतिष्ठित कविगण इस सभा में आते थे। व्यास गणेशराम को इसी सभा ने प्रशंसा-पत्र दिया था। साहित्याचार्य पं० अम्बिकादत्त व्यास को 'सुकवि' की पदवी तथा प्रशंसा-पत्र इसी में दिया गया था। कवि-समाज भी होता रहता था और मुशायरा भी। एक बार इन्होंने बड़े ही धूम-धाम से ऐसा कवि-समाज किया था, जैसा न हुआ था और न आशा है कि होगा। यह कवि-समाज रामकटोरा के बाग में हुआ था और कई दिनों तक चलता रहा था। इन्होंने बाग के भीतर ही रसद तथा हलवाई

की दुकान लगवा दी थी और कई पेशराज जल का प्रबन्ध करने के लिए नियत कर दिए थे। जितने कविगण आए थे सभी का कविताएँ ध्यान-पूर्वक सुनी जाती थीं, इसलिए समय अधिक लगता था और सबको ही कविता सुनाने का अवसर देने के निश्चय के अनुसार सूचना दी जा चुकी थी, इसलिए एक दिन का जलसा समाप्त होने पर प्रायः सभी कवि तथा सहृदय श्रोतागण उसी बाग में रहते और दूसरे दिन पुनः समय पर जलसा आरंभ होता। जिसे जो इच्छा होती थी वह सामान लेकर भोजन बनाता या भोजन कर लेता था। कुछ लोग सामान ले लेकर अपने घर जाते और दूसरे दिन समय पर आ जाते। इस प्रकार कई दिनों के जलसे पर जब किसी कवि को कविता सुनाना बाकी न रहा तब यह कवि-समाज समाप्त हुआ था। इसी प्रकार का एक मुशायरा भी किया था जिसके प्रबन्धकर्त्ता तेगअली थे और बचा हुआ बहुत-सा सामान वे अपने घर उठा ले गए थे।

सं० १९३० वि० में पेनीरीडिंग क्लब स्थापित हुआ जिसमें अच्छे-अच्छे लेखकों के लेख पढ़े जाते थे। मैगजीन में प्रकाशित प्रायः सभी लेख इसमें पढ़े गए थे। गायन-वादन भी इसमें मनोरंजनार्थ रखा जाता था। भारतेन्दु जी एक बार श्रांत पथिक का स्वाँग बनाकर इसमें आए और गठरी पटक कर तथा पैर फैलाकर इस ढंग से बैठ गए कि दर्शक-गण इन्हें देख कर आनंद से लोट-पोट हो गए। मूसा पैगम्बर का भी इन्होंने अच्छा स्वाँग बनाया था। यह नंगे शिर जरी की कफनी पहिने हुए एक चौकी पर आ खड़े हुए, जिसके आगे रंग-बिरंगे शर्बतों से बोतल सजाए हुए थे। पं० चिंतामणिराव घड़फल्ले तथा पं० माणिक्यलाल जोशी शिष्य बने हुए दोनों ओर चँवर झल रहे थे। लंबा कागज का पुलिंदा खोलते जाते और उपदेश पढ़ते जाते थे। इस सभा के प्रोत्साहन से भी कई ग्रन्थ तैयार हुए थे।

तदीय समाज सं० १९३२ वि० में स्थापित हुआ, जिसका उद्देश्य ही धर्म तथा ईश्वर-प्रेम था। गोबध रोकने के लिये इस समाज के उद्योग से साठ सहस्र हस्ताक्षर सहित एक प्रार्थना-पत्र दिल्ली दरबार के समय भेजा गया था। गो-महिमा आदि लेख भी लिखकर यह बराबर आन्दोलन मचाते रहे। उसी समय से अनेक स्थानों पर गो-रक्षिणी सभाएँ तथा गोशालाएँ खुलने लगीं। मदिरा-मांस सेवन रोकने के लिए भी इस समाज ने प्रयत्न किया और दो प्रकार की हजारों छोटी-छोटी बही सी पुस्तकें छाप कर वितरित कीं। इनमें एक प्रकार की बहियों पर मदिरा न सेवन करने की और दूसरे पर मांस न खाने की प्रतिज्ञाएँ साक्षियों के सामने लिखाई जाती थी। इस समाज ने देशी वस्तुओं के व्यवहार करने की प्रतिज्ञायें भी लोगों से कराई थीं। इस समाज से एक मासिक पत्रिका

'भगवद्भक्ति-तोषिणी' नाम की निकली थी, जो कुछ ही दिनों बाद बंद हो गई। इसके अधिवेशनों में, जो प्रति बुधवार को होता था, गीता तथा भागवत का पाठ होता था और संकीर्तन भी होता था। इसमें प्रसिद्ध विद्वान्, धनाढ्य तथा भक्त लोग ही सभासद होते थे। इनके छोटे भाई बा० गोकुलचन्द्र जी इसके सभासद थे। इसके अधिवेशनों में बिना आज्ञा लिए कोई बाहरी सज्जन नहीं आ सकते थे। लोकनाथ चौबे "नाथ" कवि ने एक अधिवेशन में उपस्थित होने के लिए टिकट मँगवाने को २२ जनवरी सन् १८७४ ई० को निम्नलिखित दोहा लिखकर इनके पास भेजा था।

श्री ब्रजराज समाज के, तुम सुन्दर सिरताज।
दीजै टिकट निवाज करि, नाथ हाथ हित काज॥

भारतेन्दु जी ने स्वयं 'तदीय नामांकित अनन्य वीर वैष्णव' की पदवी लेते समय निम्नलिखित नियमों को आजन्म निबाहने की प्रतिज्ञा की थी।

हम हरिश्चन्द्र अगरवाले श्रीगोपालचन्द्र के पुत्र काशी चौखम्भा महल्ले के निवासी तदीय समाज के सामने परम सत्य ईश्वर को मध्यस्थ मानकर तदीय नामांकित अनन्य वीर वैष्णव का पद स्वीकार करते हैं और नीचे लिखे हुए नियमों को आजन्म मानना स्वीकार करते हैं :—

१—हम केवल परम प्रेममय भगवान श्रीराधिका-रमण का ही भजन करेंगे।

२—बड़ी से बड़ी आपत्ति में भी अन्याश्रय न करेंगे।

३—हम भगवान से किसी कामना के हेतु प्रार्थना न करेंगे और न किसी और देवता से कोई कामना चाहेंगे।

४—जुगल स्वरूप में हम भेद दृष्टि न देखेंगे।

५—वैष्णव में हम जातिबुद्धि न करेंगे।

६—वैष्णव के सब आचार्यों में से एक पर पूर्ण विश्वास रक्खेंगे परन्तु दूसरे आचार्य के मत-विषय में कभी निन्दा वा खंडन न करेंगे।

७—किसी प्रकार की हिंसा व मांस-भक्षण कभी न करेंगे।

८—श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीभागवत को सत्यशास्त्र मानकर नित्य मनन-शीलन करेंगे।

१०—महाप्रसाद में अन्य बुद्धि न करेंगे।

११—हम आमरणान्त अपने प्रभु और आचार्य पर दृढ़ विश्वास रख कर शुद्ध भक्ति के फैलाने का उपाय करेंगे।

१२—वैष्णव मार्ग के अविरुद्ध सब कर्म करेंगे और इस मार्ग के विरुद्ध श्रौत, स्मार्त्त वा लौकिक कोई कर्म न करेंगे।

१३—यथा शक्ति सत्यशौचदयादिक का सर्वदा पालन करेंगे।

१४—कभी कोई बात जिससे रहस्य उद्घाटन होता हो अनधिकारी के सामने न कहेंगे और न कभी ऐसी बात अवलम्ब करेंगे जिससे आस्तिकता की हानि हो।

१५—चिह्न की भाँति तुलसी की माला और कोई पीत वस्त्र धारण करेंगे।

१६—यदि ऊपर लिखे नियमों को हम भंग करेंगे तो जो अपराध बन पड़ेगा हम समाज के सामने कहेंगे और उसकी क्षमा चाहेंगे और उसकी घृणा करेंगे।

मिती भाद्रपद शुक्ल ११ संवत् १९३०

साक्षी	हरिश्चन्द्र
पं० बेचनराम तिवारी	हस्ताक्षर तदपि नामांकित अनन्य
पं० ब्रह्मदत्त	वीर वैष्णव
चिन्तामणि	यद्यपि मैंने लिख दिया है तथापि इसकी
दामोदर शर्मा	लाज तुम्हीं को है।
शुकदेव	(निज कल्पित अक्षर में)
नारायण राव	
माणिक्यलाल जोशी शर्मा	मुहर [तदीय समाज]

इस सभा समाज आदि के सिवा यह सं० १९२४ वि० में यंगमैन्स एसोसिएशन और सं० १९२५ में डिबेटिंग क्लब स्थापित कर चुके थे। द्वितीय का मुख्य उद्देश्य भाषा तथा समाज का सुधार था। इसमें सामाजिक विवाद-ग्रस्त लेख आदि पढ़े जाते थे। कुछ दिन बा० गोकुलचन्द्र इसके मंत्री थे। 'यही पहली अंग्रेजी सभा हैं, जिसका वार्षिक विवरण हिन्दी में लिखा गया है।' काशी सार्वजनिक सभा, वैश्य-हितैषिणी सभा आदि भी इन्होंने आरंभ की थीं पर सभासदों के उत्साह की कमी से विशेष कार्य न कर वे बन्द हो गईं।

सन् १८६८ ई० में सर विलिअम म्योर इस पश्चिमोत्तर प्रांत के छोटे लाट नियुक्त होकर आए और सन् १८७४ ई० तक इस पद पर रहे। यह विद्याप्रेमी थे और इन्होंने मुसलमानों के इतिहास पर कई ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी विद्या-रसिकता इनके तीन प्रसिद्ध विश्व-विद्यालयों से तीन उच्चतम डिगरियाँ प्राप्त करने

ही से स्पष्ट है। भारतेन्दु जी ने हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए इनके समय में बहुत कुछ आंदोलन किया था पर यह असफल रहे। भारतेन्दु जी तथा राजा शिवप्रसाद में हिन्दी को लेकर मनोमालिन्य भी हो चुका था। राजा साहब ने हाकिमों के ही शरण में रहकर खिचड़ी हिन्दी का प्रचार करना उचित समझा, जिससे वे इनके इस आंदोलन के विपक्ष में रहे। एजुकेशन कमीशन के समय भी इन्होंने स्वयं बहुत उद्योग किया और प्रयाग हिन्दू समाज की भी बहुत सहायता की पर उस समय विशेष फल न हुआ।

काशीनरेश की सभा, बनारस इन्स्टीट्यूट तथा ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा के यह प्रधान सहायक रहे। कवि-वचन-सुधा में इन सभाओं के विषय की सूचनाएँ, टिप्पणी आदि निकलती रहती थीं। इस अंतिम सभा के एक अधिवेशन में कर्नल ऐलकौट तथा मिसेज बेसेंट उपस्थित थीं और कर्नल साहब का एक घंटे तक अंग्रेजी में व्याख्यान हुआ था। व्याख्यान समाप्त होने पर कुछ लोगों के अंगरेजी न समझने पर और उनके कहने पर लोकनाथ चौबे ने प्रार्थना की कि यहाँ हम लोग बहुत से मनुष्य अंग्रेजी भाषा नहीं समझ सकते, इसलिए यदि कोई विद्वान् उसे हिन्दी में समझा दें तो अच्छा हो। इसके अनंतर बाबू रामदास मित्र, रामराव एम० ए०, बालकृष्णाचार्य एम० ए० आदि अंग्रेजी के विद्वानों के रहते हुए भी भारतेन्दु जी ही को चौबे जी ने लक्ष्य करके कहा कि "बबुआ, तुहीं समझाय द तो अच्छा हौ।" ये चौबे जी भारतेन्दु जी से उस समय चिढ़े-से थे, इसी से उन्होंने ऐसा किया। वे जानते थे कि भारतेन्दु जी ने अंग्रेजी भाषा की कोई उच्च डिगरी नहीं प्राप्त की है और साथ ही वे यह भी पहले से नहीं जानते थे कि उन्हें इस व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद तत्काल वहीं सुनाना पड़ेगा, जिससे वे विशेष मन देकर उसे सुनते रहते। पं० सुधाकर जी द्विवेदी के भी भारतेन्दु जी से कहने पर कि 'हाँ हाँ, आपही उठकर समझा दीजिए' इन्होंने कुल व्याख्यान का मतलब आध घंटे में कह डाला।

इसके अनन्तर पं० रामराव ने वक्तृता देते हुए भारतेन्दु जी का कर्नल साहब को परिचय दिया और वे इनके गृह पर इनसे मिलने आये और इनके संगृहीत बादशाही समय के पत्र आदि देखकर बहुत खुश हुए।

होमियोपैथिक चिकित्सा का आरम्भ होने पर भारतेन्दु जी ने सं० १९२५ में पहले पहल एक दातव्य-चिकित्सालय खोला जिसके व्यय के लिए यह दस रुपये मासिक बराबर सं० १९३० वि० तक देते रहे। सं० १९२८ के इंटरनेशनल एक्जेबिशन में इन्होंने कुछ कार्य किया था, जिसके लिए युवराज सप्तम एडवर्ड का

धन्यवाद पत्र आया था। काशी की कारमाइकेल लाइब्रेरी तथा बालसरस्वती भवन के स्थापन में सहस्रों पुस्तकें देकर इन्होंने सहायता की थी। बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के नेशनल फंड में सहायता दी और उनके काशी आने पर उनका सत्कार भी किया था। सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० ईश्वरचंद विद्यासागर जब काशी पधारे तब वे इनसे मिलने आए और भारतेन्दु जी ने कुछ पुस्तकें देकर उनका आदर किया। वे अपनी शकुन्तला की भूमिका में लिखते हैं कि "हमको अभिज्ञानशाकुंतल की आवश्यकता थी, यह बात जानते ही इस सौम्यमूर्ति, अमायिक, निरहंकार, विद्योत्साही देशहितैषी ने जिस स्नेह और उत्साह के साथ हमारे हाथ में पुस्तक अर्पण की थी, उसे क्या हम किसी काल में भूल सकते हैं।"

भाई का इनसे अलग होना

'एक ओर साहित्य सेवा में रुपये लग रहे हैं, और दूसरी ओर दीन दुखियों की सहायता में, तीसरे देशोपकारक कामों के चंदे में, चौथे प्राचीन रीति के धर्म कार्य्यों में, और पाँचवें यौवनावस्था के आनंद विहारों में।' प्रथम चार प्रकार का व्यय किसी हालत में पाप-मूलक नहीं हो सकता। हाँ, कंजूसों के विचार से वह एक दम धन फूँकना या आवारगी तथा कुछ उदार पुरुषों की दृष्टि में अपव्यय तक तब कहा जायगा जब यह अपनी स्थिति से बहुत बढ़कर हो। पर सच्चे उदार दानी पुरुष के लिए वह किसी हालत में अपव्यय नहीं हो सकता प्रत्युत् पुण्यकार्य ही माना जायगा। पाँचवें प्रकार का व्यय परोपकारार्थ नहीं है, केवल स्वार्थ के लिए है। इसमें आवश्यक अर्थात् सार्थक और अनावश्यक अर्थात् व्यर्थ (फिजूल खर्ची) दोनों ही सम्मिलित थे। आवश्यक व्यय मनुष्य की स्थिति के अनुकूल समझना चाहिए। जो धन एक धनाढ्य पुरुष के लिये ऊपरी व्यय के लिये जरूरी है उसमें कोड़ियों साधारण पुरुषों का कालयापन सुखपूर्वक चलता रहता है। "शौक़ इन्हें संसार के सौंदर्य मात्र ही से था। गाने, बजाने, चित्रकारी, पुस्तक-संग्रह, अद्भुत पदार्थों का संग्रह, सुगंधि की वस्तुएँ, उत्तम कपड़े, उत्तम खिलौने, पुरातत्व की वस्तु, लैम्प, ऐलबम, फोटोग्राफ इत्यादि सभी प्रकार की वस्तुओं का ये आदर करते और उन्हें संगृहीत करते।" शौक की इन चीजों में सुगंधि, द्रव्य तथा उत्तम कपड़े तो व्यय हो गये होंगे पर अन्य सभी वस्तुएँ तो घर ही में रह गईं, चाहे वे बहुमूल्य रहीं हो या साधारण मूल्य की। अस्तु, "इन सबों से बढ़कर द्रव्य की ओर इनकी दृष्टि न रहने के कारण अप्रबन्ध तथा अर्थलोलुप विश्वासघातकों के चक्र ने इनके धन को नष्ट करना

आरम्भ कर दिया।" यह अवस्था तक़सीमनामा होने के पहले की थी और जब कुल स्टेट एक था। उस समय भारतेन्दु जी की विमाता तथा बा० गोपालचन्द्र जी द्वारा नियुक्त रायनृसिंहदास से उद्भट प्रबन्धकर्ता विद्यमान थे। क्या ये लोग इस अंतिम दोष कुप्रबंध के प्रधान दोषी नहीं हैं? "उन्होंने बाबू गोकुलचन्द्र की नाबालगी तक कोठी को सँभाला था।" तकसीमनामे के समय बाबू गोकुलचन्द्र अठारह वर्ष तीन महीने के थे अर्थात् केवल तीन महीने या उससे भी कम समय तक भारतेन्दु जी निर्द्वंद्व रहे थे। साथ ही जो बाबू गोकुलचन्द्र, भारतेन्दु जी से केवल पन्द्रह महीने छोटे थे और बालिग होते ही जिनसे अपना हिस्सा अलग कर लिया था, क्या वे इस कुप्रबन्ध में भारतेन्दु जी के साझीदार नहीं थे? पर सन् १८७० ई० तक के सारे कुप्रबन्ध के भारतेन्दु जी ही कारण माने गए। पूर्वोक्त उद्धरण में 'इनके' शब्द विशिष्ट अर्थ-सूचक हैं। इसी शब्द के कारण भारतेन्दु जी को विभाजन के समय चल-सम्पत्ति में कुछ नहीं दिया गया।

'घर के शुभचिंतकों' ने इन्हें समझाया तथा काशिराज तक खबर पहुँचाई जिसपर उन्होंने इनसे कहा कि "बबुआ, घर को देखकर काम करो।" इन्होंने निर्भय चित्त से उत्तर दिया कि "हुजूर इस धन ने मेरे पूर्वजों को खाया है, अब मैं इसे खाऊँगा।" महाराज यह सुन कर चुप रह गए। उन्हीं 'शुभचिंतकों' की कृपा से २१ मार्च सन् १८७० ई० को दोनों भाइयों में तकसीमनामा लिखा गया और दूसरे ही दिन रजिस्ट्री भी हो गई। इसके लिखने के समय भारतेन्दु जी उन्नीस वर्ष छः महीने के तथा बाबू गोकुलचंद्र अट्ठारह वर्ष तीन महीने के थे। तकसीमनामा लिखने के अवश्य कुछ पहले ही सम्पत्ति का तकसीम हुआ होगा। भारतेन्दु जी ने, अब प्रश्न उठता है कि, कब पैतृक-सम्पत्ति का प्रबन्ध हाथ में लिया था। बालिग होने अर्थात् अट्ठारह वर्ष पूरा होने के पहले या बाद। आश्चर्य है कि जिन विमाता तथा प्रबन्धक रायनृसिंहदास जी इनके पंद्रह वर्ष के हो जाने पर इनके आय-व्यय के लिये दो चार रुपये नहीं दे सकते थे, उन लोगों ने इनको कुल स्टेट बालिग होने के पहले कैसे दे दिया होगा? अस्तु, मतलब यही है कि बालिग होने के अनन्तर साल सवा साल कुल प्रबंध इनके हाथों में रहा होगा। पर नहीं, जैसा लिखा जा चुका है, कोठी का प्रबन्ध बाबू गोकुलचन्द्र की नाबालगी तक दूसरों के हाथ में था, अर्थात् दो-तीन महीने में इन्होंने इतना अपव्यय कर डाला कि बाबू गोकुलचन्द्र बालिग होते ही एक दिन जब यह खजाना खोलने जा रहे थे तब उसके द्वार पर लगे हुए ताले पर जा बैठे और कहा कि "आप ने अपने भाग का कुल धन खर्च कर डाला है तथा अब जो कुछ आप

इसमें से लेंगे हमारे हिस्से का लेंगे।" भारतेन्दु जी यह सुनते ही वहाँ से हट गए और उसी समय से आपस के बँटवारे का सूत्रपात हुआ।

भारतेन्दु जी पर अनुज द्वारा दिए गए इस रुकावट का ऐसा असर हुआ कि वे समग्र पैतृक-सम्पत्ति के निज भाग की दस्तबरदारी लिखने को तैयार हो गए पर रायनृसिंहदास जी ने ऐसा करना अनुचित समझकर बाजाब्ता तकसीमनामा कराना उचित समझा। सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—चल और अचल। चल सम्पत्ति के विषय में तकसीमनामा कहता है "अशियाए मनकूलः व नक़दी बपास हर सेह् हिस्सा तहरीर फर्द अलैहदगी कि हम लोगों ने ब इत्तफ़ाक यकदीगर बदस्तख़त फ़रीकैन व वाल्दः साहबः के मुनक़सिम व महदूद व मखसूस कर लिया।" बस, इनके हिस्से में से इनका अपव्यय काट कर जो कुछ मिला होगा या इनसे उदात्त महापुरुष ने कहाँ तक अपने हिस्से के लिए छोटे भाई तथा विमाता से कहा-सुनी की होगी, यह प्रत्येक पाठक समझ लें।

अब अचल-सम्पत्ति का तीन भाग किया गया। "अव्वल यह कि तकसीम तीन हिस्सा पर किए गए, एक हिस्सा वास्ते अमूरात दीनी व पूजः व सेवा श्री ठाकुर जी कि लवाज़िम मजहबी हम लोगों का है और इस हिस्सः ख्वाह इसके महासिल से पूजः व सेवा श्री ठाकुर जी व पिंडसराध बुजुर्गान व आदाए रस्म नेवतः हरशख्स व रसूमात विरादरी का हमेशः मुतअल्लिक रहेगा और यह हिस्सः या कोई जुज इसका कभी किसी जमानः में हम लोग या हमारे वारसा या कायममुकामों की जानिब से किसी तरह पर काबिल तकसीम व इंतकाल व जवाल व रद्दो बदल नौए मिज अल् अनवाअ हीलतन सरीहतन न होगा। दूसरा हिस्सा हम बाबू हरीश्चंदर व तीसरा हिस्सा हम बाबू गोकुल चंदर का करार पाया।" तकसीमनामा देखने से यह ज्ञात होता है कि दोनों भाइयों को स्थावर-सम्पत्ति यथाशक्य सम करके दी गई है, आधे-आधे इलाके या खेत पर हक दिया गया है पर तीसरे भाग में कुछ विशेषता है। इसमें इन लोगों के पूर्वजों की उत्तम से उत्तम सम्पत्ति चुनकर रखी गई है। "किता मकान सकूनती मै दीवानखानः ब ठाकुरद्वारा व बाग जिसकी हदूद जैल में मुँदर्ज है व बाग रामकटोरा कि इसमें भी ठाकुर जी का मंदिल है और मौजाबरी जीवनपुर हवेली चुनार व अस्तबल बूलानालः तकसीम व अलैहदगी व अख्तियार इंतकाल हम लोगों से मुस्तस्ना रखा गया और इहतमाम इसका हमेशः मुतअल्लिक मुन्सरिम हिस्सा अव्वल के रहेगा।" इस हिस्सः अव्वल की अव्वल मुनसरिमः भारतेन्दु जी की विमाता थीं। इस प्रकार इनके पूर्वजों की

सम्पत्ति का यह भाग तथा बचे हुए का भी आधा भाग इनके हाथ से निकल कर इनके भाई साहब के हाथ में चला गया।

भारतेन्दु जी के हिस्से में एक मकान, एक दूकान, कोरौना मौजा का अर्द्धांश, आधी परमिट वाली कोठी, नबाबगंज बाजार का आधा स्वत्व, एक मकान, मौजा भदरासी व शहबाजपुर और मौजा गौरा नदौरा व देवरा चक का आधा हिस्सा तथा कुछ फुटकर खेत और जमीन मिली थी। इसके साथ दो शर्तें भी थीं। पहली यह कि यदि यह अपनी स्थावर संपत्ति बेंचना चाहें तो पहले अपने भाई के हाथ ही बेंच सकते हैं और उनके अस्वीकार करने पर ही दूसरे के हाथ विक्रय करने का इन्हें अधिकार होगा। दूसरे यह कि उस समय तक के लिए गए अपने-अपने ऋणों का भी प्रत्येक अलग-अलग उत्तरदायी होगा। इस दूसरी शर्त में अशर्फी तथा चार रुपये वाला ऋण भी शामिल ही रहा होगा।

इस प्रकार घराऊ संपत्ति का भाग हो जाने पर भारतेन्दु जी अपने ही घर में निराश्रय से रह गए। इनके यहाँ आने वाले कवि, गुणी आदि इन्हीं के आश्रित थे। व्यापार या धन के प्रवन्ध में कुशल ये थे हो नहीं। तकसीम के समय नकदी इन्हें विशेष मिला ही न था इसलिए ऋण लेकर काम चलने लगा और उसी से स्थावर संपत्ति का शीघ्र नाश हो गया। घर के शुभचिंतकों ने इन्हें 'नालायक' का खिताब दे दिया और इनकी मातामही के यहाँ से भी इन्हें जो कुछ मिलने वाला था उसकी भी रक्षा करने का वे उपाय करने लगे।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, भारतेन्दु जी के मातामह, प्रमातामह आदि दिल्ली के राजवंश के दीवान रह चुके थे और उन्हीं लोगों के साथ वे उनकी गिरती अवस्था में काशी आ बसे थे। इन लोगों के पास चल-संपत्ति ही अधिक थी और स्थावर बहुत कम। राय खिरोधर लाल को एक कन्या और एक पुत्र था, पर पुत्र पिता के सामने ही मर चुका था। इनकी स्त्री नन्ही बीबी ने पति, पुत्री तथा जामाता के क्रमशः मरने के अनंतर वैशाख सुदी ६, सं० १६१६ वि० को एक वसीयतनामा अपने तीनों दौहित्रों के नाम लिख दिया था। इसके तेरह वर्ष तथा तकसीमनामा के पाँच वर्ष बाद चैत्र सुदी ६, सं० १६३२ बुधवार, १८ अप्रैल सन् १८७५ ई० को इन्हीं मातामही ने दूसरा वसीयतनामा लिखा, जिसके 'इरकाम' करने (लिखने) का कारण यों दिया है कि "बा० हरिश्चन्द्र बड़े नवासे ने अपने छोटे भाई बा० गोकुलचंद से जायदाद मौरूसी अपने मूरिसान की तकसीम व अलैहद: कराके कुल तलफ व बर्बाद करके दर्जा आखीर को पहुँचा दिया...... उम्मीद पाई नहीं

जाती है कि बाद बफात मेरे नामोनिशान को कायम रखेगा।" सत्य ही आज इनका नाम इनकी बर्बादी के कारण ही कुछ-कुछ बना है। रजिष्ट्रार के 'रिमार्क' में लिखा है कि "मुसम्मात नन्ही बीबी के रहने के जनाने गृह पर बा० गोकुलचन्द्र से रजिष्ट्री के लिए २६ मई सन् १८७५ बुधवार को सुबह ६ और १० बजे के बीच यह वसीयतनामा पेश किया गया।" इस पर केवल बा० गोकुलचंद्र जी का हस्ताक्षर है।

इस दूसरे वसीयतनामे के लिखे जाने पर भी वकीलों से सम्मति ली जा रही थी और अंत में यही निश्चय हुआ कि भारतेन्दु जी की मातामही को एक दौहित्र का भाग दूसरे को दे देने का वसीयतनामा द्वारा कोई स्वत्व या अधिकार नहीं है इसलिए तीन वर्ष बाद कार्तिक सुदी ३, सं० १९३५ वि० को एक बखशिशनामा लिखा गया। भारतेन्दु जी की स्वीकृति के विषय में लिखा है कि "इस वास्ते कि मेरे बायस किसी की हकतलफी न होवे इस वसीक: की तहरीर में रजामंदी व इत्तफाक बा० हरिश्चन्द्र व बा० गोकुलचन्द्र दोनों का मैंने हासिल कर लिया है जिसकी सदाकत पर दोनों की दस्तखत इस वसीक: पर लिखी जाती है।" इस 'वसीक:' पर बा० गोकुलचन्द्र का हस्ताक्षर है और इसे भी इन्हीं ने रजिष्ट्री के समय पेश किया था। बा० हरिश्चन्द्र का इस पर हस्ताक्षर नहीं है और इन्हें इसके अनुसार केवल साढ़े चार हजार रुपये दिए गए थे। इसमें से ढाई हजार बा० गोकुलचन्द्र ने उस ऋण के हिसाब में ले लिए, जो उन्होंने अपने भाई साहब को दिए थे। दो सहस्र फुटकर ऋण तथा डिगरियों को चुकाने के लिये रखे गए। अस्तु, पैतृक-संपत्ति के बाद मातामह का भाग भी भारतेन्दु जी ने इस प्रकार फूंक-ताप कर सफाचट कर दिया। इस तरह यह अपने भाग की लक्ष्मी को तो अवश्य खा गए पर बेचारे उस समूची लक्ष्मी को न खा सके जिसने इनके पूर्वजों को खाया था। 'घर के शुभचिंतकों' ने इस प्रकार भारतेन्दु जी को बे-घर का करके शांतिलाभ किया।

गवर्नमेन्ट की कृपा और कोप

जिस समय घर के शुभचिंतकों ने इन्हें कुछ भाग देकर अलग कर दिया था उसी वर्ष अवैतनिक मैजिस्ट्रेसी का नियम बना था और काशी के दस सज्जन इस पद पर नियत हुए थे। उनमें सब से छोटा अवस्था वाले यही भारतेन्दु जी थे। कुछ दिनों बाद यह म्युनिसिपल कमिश्नर भी नियत हुए और राजकर्मचारियों में भी इनका मान होने लगा। इनकी प्रकाशित पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की सौ-सौ प्रतियाँ सरकार में बराबर ली जाने लगीं। पंजाब विश्वविद्यालय ने इन्हें एफ० ए० कक्षा के संस्कृत का परीक्षक बनाया। सहज ईर्ष्यालु पुरुषगण इतने अल्पवयस्क

पुरुष की यह बढ़ती न देख सके और हाकिमों से इनकी चुगली खाने लगे। यह स्वभावत: स्पष्टवादी थे और सत्य सदा कटु होता है, इससे इन लोगों को बराबर अवसर मिलते रहते थे। यह विनोद-प्रिय थे, इसलिए इनके लेखों में मजाक भी अधिक रहता था।

कवि-वचन सुधा, जिल्द २, नं० ५ में 'लेवी प्राण लेवी' नामक एक छोटा लेख निकला था। लार्ड मेयो के काशी आगमन पर १ नवम्बर सन् १८७० ई० को जो लेवी दरबार हुआ था, उसी का इसमें विनोदपूर्ण वर्णन है। इसका एक वाक्य यों है—"सब के अंगों में पसीने की नदी बहती थी मानों श्रीयुत को सब लोग आदर से 'अर्घ्य पाद्यं' देते थे। इस अर्घ्य पाद्यं का अर्थ कुछ दुष्टों ने राजकर्मचारियों को पदाघात आदि समझा दिया था और उनके कान में भी वही गूँजने लगा। 'अर्घ्यं पाद्यं' भारत की कितनी प्राचीन आदर की वस्तु है, यह प्रत्येक सज्जन समझता है। इसके अनंतर एक मर्सिया निकला, जिसको सर विलिअम म्योर पर आक्षेप करके लिखा गया बतलाया गया। राजा शिवप्रसाद तथा छोटे लाट दोनों ही एक आँख का चश्मा (क्विजिंग ग्लास) लगाते थे। एक लेख 'भुतही इमली का कनकौआ' राजा साहब पर लिखा गया, जिसे छोटे लाट पर लिखा गया बतलाया गया। बस, गवर्नमेन्ट की कुदृष्टि इन पर पूरे रूप से पड़ गई। स्व० बा० बालमुकुंद गुप्त लिखते हैं—"यद्यपि हिन्दी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चन्द्र के ललित लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कवि-वचन-सुधा के हर नंबर के लिये लोगों को टकटकी लगाए रहना पड़ता था। जो लोग राजनैतिक दृष्टि से उसे अपने विरुद्ध समझते थे वह भी प्रशंसा करते थे। दुःख की बात है कि बहुत जल्द कुछ चुगुलखोर लोगों की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने कवि-वचनसुधा के कई लेखों को राजद्रोह पूरित बताया, दिल्लगी की बातों को भी वह निंदासूचक बताने लगे। मरसिया नामक एक लेख उक्त पत्र में छपा था, यार लोगों ने छोटे लाट सर विलिअम म्योर को समझाया कि यह आप ही की खबर ली गई है। अतः सरकारी सहायता बंद हो गई। शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर कैंपसन साहब ने बिगड़कर एक चिट्ठी लिखी। हरिश्चन्द्र जी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया-बुझाया पर वहाँ यार लोगों ने जो रंग चढ़ा दिया था, वह न उतरा। यहाँ तक कि बाबू हरिश्चन्द्र जी की चलाई 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'बालाबोधिनी' नामक दो मासिक पत्रिकाओं की सौ-सौ कापियाँ जो प्रान्तीय गवर्नमेन्ट लेती थी, वह भी बंद हो गई। इसके अनन्तर इन्होंने राजकर्मचारियों से बिलकुल संबंध त्याग दिया। आनरेरी मजिस्ट्रेसी आदि सब सरकारी कामों को इन्होंने छोड़ दिया और

देश-सेवा तथा हिन्दी की उन्नति में दत्तचित्त हो गए। इनकी रचनाओं के संक्षिप्त परिचय में राजभक्ति-विषयक शीर्षक में दिखलाया गया है कि यह किस प्रकार अपने जीवन भर आरंभ से अंत तक राजभक्त बने रहे।"

सन्मान

भारतेन्दु जी पर भारत सरकार की कृपा तथा कोप का उल्लेख हो चुका है। जिस समय इन्होंने आनरेरी मजिस्ट्रेसी से इस्तीफा दिया था, उस समय काशी के एक अन्य रईस बा० ईश्वरीनारायण सिंह जी ने इनको लिखा था कि—"क्या यह सच है कि आपने इस्तीफा दे दिया? यदि ऐसा है तो आपने अच्छा न किया। हाकिम लोग आपकी तजबीज को बहुत पसंद करते हैं और जहाँ तक मैं जानता हूँ कोई आपके विरुद्ध कुछ नहीं कहता। यदि सम्भव हो तो इस्तीफा उठा लीजिए और हम लोगों को आनरेरी मजिस्ट्रेट की कचहरी से अपने समान एक सुजन साथी को न खोने दीजिए।"

सन् १८७५ ई० के नवम्बर में काश्मीर नरेश महाराज रणवीरसिंह जी पधारे थे और इनका बहुत सम्मान करते हुये इनपर विशेष स्नेह प्रगट किया था। उसी वर्ष के दिसम्बर मास में ग्वालियर के अधिपति महाराज जयाजी राव सिंधिया तथा रीवां के अधीश्वर महाराज रघुराजसिंह जी का काशी में शुभागमन हुआ। उक्त दोनों श्रीमंतों ने भारतेन्दु जी को बुलाकर इनसे आदरपूर्वक भेंट किया और इनका सत्कार किया था। इसी महीने में जोधपुर-नरेश भी काशी आए थे और भारतेन्दु जी को स्टेशन ही पर बुलाकर इन्हें सम्मानित किया था।

सन् १८७७ ई० में श्रीमान् वाइसराय लॉर्ड लिटन काशी आए थे और उन्होंने भारतेन्दु जी को स्वयं बुलाकर इनसे बहुत देर तक बातचीत किया था। प्रिंस ऑव वेल्स (स्वर्गीय सम्राट् एडवर्ड सप्तम) के भारत आगमन के उपलक्ष में इन्हें भी एक मेडल मिला था। काशिराज ने विलायत में एक कुँआ खुदवाया था जिसके लिए उनके पास कई पदक आए थे। इनमें से उक्त श्रीमान् ने एक पदक भारतेन्दु जी को भी दिया था। सन् १८८२ ई० में जो शिक्षा कमीशन बैठा था, उसके यह एक प्रधान साक्षी चुने गए थे पर ये बीमारी के कारण कमीशन के सामने उपस्थित होकर स्वयं अपना वक्तव्य न कह सके पर इन्होंने अपना लिखित साक्ष्य अवश्य भेजा था। इसमें आगरा कालेज के डाइटन साहब के विषय में, जो कमीशन के एक सभ्य थे, इन्होंने कुछ ऐसी बातें लिखीं थीं, जिससे

जे० ई० वॉर्ड साहब ने इन्हें लिखा कि "आपकी साक्षी ऐसी उत्तम है कि मुझे खेद होगा यदि केवल इसी बात के कारण कमिश्नरों में अरुचि हो, इसलिए यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं इस अंश को निकाल दूँ।" इनके इस सप्रमाण लिखे गए अंश की सत्यता शीघ्र ही ज्ञात हो गई तब उक्त साहब ने पुनः इन्हें लिखा कि "आगरा कालेज के बारे में जो बातें मुझे अब ज्ञात हुई हैं यदि हम उन्हें पहले जानते तो इस विषय में आपने जो अपनी साक्षी में लिखा था, उसे निकाल देने का आग्रह न करते।"

इस साक्षी के विषय में सुप्रसिद्ध अंग्रेजी पत्र 'रईस ऐंड रैयत' (७ जुलाई सन् १८८३ ई०) के संपादक स्वर्गीय शंभूचरण मुकर्जी लिखते हैं कि "वह रोचक बातों से भरी हुई है और इससे सिद्ध होता है कि जिन विषयों पर इन्होंने लिखा है उन्हें यह पूर्णरूप से समझे हुए हैं। पश्चिमोत्तर देश में शिक्षा की उन्नति की चाल को यह अवश्य ही बड़ी सावधानता से देखते गए हैं। इस विषय में इनकी जो जानकारी देखी जाती है वह वर्षों के मनन, विचार, अनुसंधान तथा निज अनुभव का परिणाम है। इन्होंने अपनी सम्मतियाँ बहुत स्पष्ट करके लिखी हैं और जो बातें साधारण प्रवादों के विरुद्ध हैं उनको यह प्रमाणों तथा तर्क से पुष्ट करते गए हैं। जिस स्वतंत्रता से इन्होंने इस विषय का प्रतिपादन तथा समर्थन किया है वह इन्हीं के उपयुक्त है।"

इनको शिक्षा-विषयक ज्ञान प्राप्त करने के अनेक साधन प्राप्त थे। ये स्वयं बहुभाषा विज्ञ, सुकवि तथा सुलेखक थे। इन्होंने कई पत्र स्वयं निकाले थे, जिससे यह पत्रकार कलाविद् भी थे। स्वदेश तथा स्वभाषा के प्रेम की मूर्ति थे। इन्होंने केवल अपने अध्यवसाय से एक स्कूल खोल रखा था, शिक्षा-कमेटी के सदस्य थे और विद्वानों से इनका बराबर समागम था। ऐसी अवस्था में इनका वक्तव्य क्यों न उत्तम होता।

इसी साक्षी के ग्यारहवें प्रश्न का उत्तर देते हुए भारतेन्दुजी ने उर्दू का एक शब्द (बिंदी आदि चिह्न रहित) लिखकर उसे दो सहस्त्र प्रकार से पढ़े जाने का उल्लेख किया था। यह बहुत ठीक है। उदाहरण के लिए दो अक्षर का एक शब्द اس ले लीजिए इसे आप कई सौ प्रकार से पढ़ सकते हैं। उर्दू—में अ, ई और उ सा उच्चारण करने के लिये तीन चिह्न होते हैं, जब्र, जेर और पेश। खड़ी लकीर के ऊपर या नीचे बिंदियाँ देकर ब, प, त, ट, स और न, छ अक्षर और बिना बिंदी दिए एक अक्षर ल पढ़ सकते हैं। एक 'मर्कज' अर्थात् टेढ़ी लकीर देकर क और दो देकर ग पढ़ सकते हैं। इस प्रकार नौ अक्षर हुए, जिनमें प्रत्येक को तीन

तीन चाल से पढ़ सकते हैं जैसे बस, बिस और बुस । इस प्रकार सत्ताईस उच्चारण हुए । स के भी इसी प्रकार तीन-तीन उच्चारण होंगे जैसे बस, बसि, बसु । इनमें भी सत्ताइस उच्चारण होंगे । इसलिए कुल के चौअन उच्चारण हुए । अब स के चिह्न पर तीन बिंदी देने से श होगा और कुल उच्चारण एक सौ आठ हो जायँगे । दो ही अक्षर मान कर इतने हुए हैं और यदि गोलाकार चिह्न को भी एक अक्षर लेकर चलिये तो और भी बहुत से शब्द बन जायँगे ।

सन् १८८३ ई० में मॉरिशस के गवर्नर एम० पी० हेनेसी साहब ने एक पत्र में इन्हें लिखा था कि "लार्ड रिपन की उन्नत नीति का आप अपनी लेखनी से समर्थन करने योग्य हैं ।" लंडन के सेन्ट जेम्स हाल में इलवर्ट बिल पर एक सभा हुई थी जिसमें इतिहासवेत्ता कर्नल मैलेसन साहब ने व्याख्यान देते हुए कहा था कि "सुविख्यात इतिहासवेत्ता और कवि बा० हरिश्चन्द्र इसके पत्त में नहीं हैं और उनके दो एक पत्र मेरे पास हैं ।" तात्पर्य यह कि इनके प्रभाव को दो उच्च अंग्रेज अफसरों ने पूर्ण रूपेण माना है । भारतेन्दु जी ने मैलसन साहब के उक्त कथन का खंडन निम्नलिखित शब्दों में किया है । "हाल की एक सभा में कर्नल मैलसन साहिब ने मेरा नाम लिया है कि मैं "जुरिसडिक्शन बिल" का विरोधी हूँ । कर्नल साहिब के ऐसा कहने से सम्भव है कि मेरे देशीय जन मेरे विषय में कुछ और ही अनुमान करें । यदि मैं कर्नल साहिब की बातों का खण्डन न करूँ तो देश का अशुभचिन्तक समझा जाऊँगा । यथार्थ बात यह है कि लंडन में मेरे मित्र फ्रेडरिक पिनुकाट साहिब हैं । मैंने उनके पास दो तीन पत्र भेजा था, जिनमें इलबर्ट बिल के सम्बन्ध में भी कुछ लिखा था । मेरे लेखों का सारांश यह था कि "जुरिसडिक्शन बिल" के सम्बन्ध में हिन्दू और अंग्रेज में बड़ा हलचल और झगड़ा उठ खड़ा हुआ है । यदि बिल पास हो तो हिन्दुओं को बहुत लाभ न होगा और जो न पास हो तो अंग्रेजों को भी बहुत लाभ न होगा । प्रत्येक अंग्रेज तथा हिन्दू को, जो देश की भलाई की मनोकामना रखते हैं, यही चेष्टा करनी उचित है कि यह विरोध और जातीय झगड़ा निवृत्त हो जाय । अवश्य मैंने अपने पत्र में बंगालियों का नाम नहीं लिया था । मेरे लेख का सारांश यही है और आप लोग समझ सकते हैं कि कर्नल साहिब को हमारा नाम लेना उचित था या नहीं ।'

हिन्दू पति महाराणा श्री सज्जन सिंह जी इन्हें बहुत मानते थे और इनका सदा सत्कार भी किया करते थे । एक बार तो उन्होंने लिखवा भेजा था कि "बाबू हरिश्चन्द्र जी इस राज्य को अपनी सीर समझें ।" श्रीमान् काशिराज का इन पर कितना अधिक स्नेह था, इसका कई स्थानों पर उल्लेख हो चुका है । महाराज

विजयनगरम् ने एक बार पांच सहस्त्र मुद्रा भेंट देकर तथा इनके गृह पर जाकर इनका सन्मान किया था। महाराज डुमराँव श्री राधिकारमण प्रसाद सिंह प्रतिवर्ष इन्हें एक सहस्त्र रुपये देकर सन्मानित करते थे। राजा वेंकट गिरि तथा राजा छत्रपुर इनके गृह पर आकर इनसे मिला करते थे। भूपाल की नवाब शाहजहाँ बेगम भी इनसे पत्र-व्यवहार रखती थीं। उर्दू तथा फ़ारसी में कविता करने के सिवा यह हिन्दी में भी कविता करती थीं, जिसमें अपना उपनाम 'रूपरतन' रखा था। सन् १८८२ ई० के जून में इन्होंने कुछ कविता भारतेन्दु जी के पास भेजी थीं जिसे उन्होंने भारत-मित्र में एक पत्र के साथ प्रकाशित करा दिया था। पत्र तथा दोनों पद नीचे दिए जाते हैं :—

"प्रिय सम्पादक ! भूपाल की रईस और स्वामिनी वर्तमान श्रीमती बेगम साहिबा उर्दू भाषा की बहुत अच्छी कवि हैं। इनकी ग़ज़ल मैं 'चमनिस्तानेपुर-बहार' और 'गुलज़ारेपुर-बहार' इत्यादि में प्रकाशित कर चुका हूँ। संप्रति उनके बनाए भाषा में कई एक भजन मेरे पास आए हैं। मैं उनमें से दो आप के प्रकाश करने को भेजता हूँ। इनको देख कर क्या साधारण आर्य-धर्म्माभिमानी ललनागण लज्जित न होंगी कि एक मुसलमान और अत्यंत राजभार-व्यग्र स्त्री ने ऐसी सुन्दर कविता की है। क्या वह भी दिन देखने में आवेगा कि हमारी गृहलक्ष्मीगण भी कुछ बनावेंगी ? इनका काव्य में 'रूपरतन' नाम है। नाम भी बड़े ठाट-बाट का रक्खा है।"

मलार—कैसी बदरिया कारी छाई, पिय बिन बरखा ऋतु आई। झींगुर मोर चिंघार पुकारे, कल न परे मोहिं विरह के मारे, पापी पपीहा ने आन जगाई। हमरे पिया परदेश बिलमि रहे, इत बदरा दिन रैन घुमरि रहे, ना लिखि पाती, ना खबरि पठाई। नित नित बरसे धुंधरे बदरवा, सूझत नाहीं अब मोहिं अगरवा, देत झकोर पवन पुरवाई ॥

होली—सजि आई है राजदुलारी राधाप्यारी, आज होरी खेले स्याम विहारी। घर घर से सब बनि बनि निकसीं, पहिरि नवल तन सारी। केसर रंग संग लै गागरि, करन उनके पिचकारी ॥ जुरि-जुरि आईं नन्द द्वार पर टेरत दै दै तारी। काल लाल कर गए अचगरी आज हमारी पारी ॥ फंद पढ़ोगे जब सखियन के वंसीधर बनवारी। भूलि जाओगे स्यामसुँदर तब गौअन की रखवारी। लैहैं छनक दै मुकुट लकुटिया पीत पछौरि उतारी। मुरली छीन देहैं दृग अंजन तौ हम गोप-कुमारी ॥ 'रूपरतन' यों मान करत मिलि जोबन की मतवारी ! गलियन-गलियन ढूँढति डोलें प्रान प्रिया गिरधारी ॥

काशीस्थ डाक्टर पूर्णचन्द्र बनर्जी के भाई सुप्रसिद्ध बंग कवि हेमचन्द्र बनर्जी इन्हें बहुत मानते थे और जब ये कलकत्ते जाते थे तब इन सज्जनों में खूब साहित्यिक चर्चा होती थी। द्वारिकानाथ विद्याभूषण,बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय 'हिन्दू पेट्रियट' के सम्पादक कृष्णदास पाल, पंजाब यूनीवर्सिटी के रजिस्ट्रार नवीनचन्द्र राय, शालिग्रामदास, अतर सिंह भदौड़िया, बाबा संतोष सिंह, पूना के गणेश वासुदेव जोशी, डाक्टर भाऊदाजी प्रभृति विद्वानों से इनकी घनिष्ठ मित्रता थी। केवल भारताय विद्वत्समाज ही नहीं प्रत्युत् योरोपीय विद्या-प्रेमी गण भी इन्हें बड़ी आदर की दृष्टि से देखते थे। वे लोग इन्हें भारत का 'पोएट लॉरिएट' (राजकवि) कहते थे।

इनकी सर्वजनप्रियता तथा सबके आदर के पात्र होने का यही एक नमूना बहुत है कि पंडित रामशंकर जी व्यास के यह प्रस्ताव करते ही कि इन्हें 'भारतेन्दु' की पदवी सर्वसाधारण की ओर से दी जाय, सभी हिन्दी प्रेमियों ने एक स्वर से इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और वह इनके नाम से भी अधिक प्रसिद्ध हो उठा।

'भारतेन्दु' की पदवी

पं० सुधाकर जी द्विवेदी अपनी राम कहानी की भूमिका में लिखते हैं कि "यह मेरे सामने की बात है कि लाहौर के जल्ला पंडित के वंश के पंडित रघुनाथ, काश्मीर के महाराज श्री रणवीर सिंह की अप्रसन्नता से जंबू छोड़कर बनारस चले आए थे। उनसे और बाबू हरिश्चन्द्र जी से बहुत मेल था। बनारस के अति प्रसिद्ध विद्वान् पंडित बाल शास्त्री ने जब अपनी व्यवस्था से कायस्थों को क्षत्री बनाया, उस समय बाबू साहब ने अपनी मेगजीन में 'सबै जाति गोपाल की' इस सिरनामे से काशी के पंडितों की बड़ी धूर उड़ाई। इस पर पंडित रघुनाथ जी बहुत रुष्ट होकर बाबू साहब से बोले कि "आप को कुछ ध्यान नहीं रहता कि कौन आदमी कैसा है? सभी का अपमान किया करते हो। जैसे आप अपने सुयश से जाहिर हो उसी तरह भोगविलास और बड़ों के सम्मान न करने से आप कलंकी भी हो, इसलिये आज से मैं आप को भारतेन्दु नाम से पुकारा करूँगा।" उस समय मैं और भरतपुर के राव श्रीकृष्णदेवशरण सिंह मौजूद थे। हम लोग भी हँसी से कहने लगे कि बस बाबू साहब सचमुच भारतेन्दु हैं। बाबू साहब ने भी हँसकर कहा कि "मैं नाराज़ नहीं हूँ, आप लोग खुशी से मुझे भारतेन्दु कहिए।" मैंने कहा कि "पूरे चाँद में कलंक देख पड़ता है, आप दुइज के चाँद हैं जिसके दर्शन

से लोग पुण्य समझते हैं।" यह मेरी बात सब के मन में खुशी के साथ समा गई। धीरे-धीरे इनकी पोथियों पर दूइज के चाँद की सूरत छपने लगी। इस तरह अब आज इज्जत के साथ बाबू साहब भारतेन्दु कहे जाते हैं।

इसके पहले राजा शिवप्रसाद को भारत की ओर से सी० आई० इ० (भारत-नक्षत्र) की पदवी मिल चुकी थी और इसी वर्ष राजा साहब तथा इनमें मनो-मालिन्य हो जाने के कारण यह भारत सरकार के कोप-भाजन हो चले थे। ज्यों-ज्यों सरकार का इन पर कोप बढ़ता जाता था त्यों-त्यों यह अधिक लोकप्रिय होते जाते थे। इनके गुणों की कीर्ति फैलती जा रही थी, देशीय तथा विदेशीय विद्वान्-मंडली में इनकी प्रतिभा तथा रचनाओं की ख्याति खूब फैल चुकी थी और वे लोग मुक्तकंठ से इनकी प्रशंसा करने लगे थे। 'उत्तरीय भारत के कवि सम्राट्', 'एशिया का एक मात्र समालोचक' आदि पदवियाँ वे दे रहे थे। लार्ड रिपन के समय सहस्रों हस्ताक्षर से भारत सरकार के पास एक मेमोरियल भेजा गया था कि इन्हें लेजिस्लेटिव काउन्सिल का मेम्बर चुनना चाहिए। अंततः इन्हें 'भारत-नक्षत्र' से बढ़कर पदवी देने का विचार प्रजा-पक्ष में पैदा हो चुका था। उसी समय सन् १८८० ई० में बा० हरिश्चन्द्र को चिढ़ाने की इसी पदवी 'भारतेन्दु' से इन्हें विभूषित करने के लिए पं० रामेश्वर दत्त व्यास ने २७ सितम्बर के 'सारसुधानिधि' पत्र में एक लेख में प्रस्ताव किया। सारे देश ने इसे स्वीकार कर लिया और तब से भारतेन्दु इनका दूसरा नाम-सा हो गया। प्रजा, भारत सरकार तथा यूरोपीय विद्वान् सभी इन्हें भारतेन्दु लिखने लगे।

चिन्ता रोग तथा स्वर्गवास

सं० १६२७ वि० में भारतेन्दु जी तथा इनके छोटे भाई में बँटवारा हो चुका था और यह अपने गृह के लोगों द्वारा 'अपव्ययी' समझ लिए गए थे। यह तक़सीमनामे के अनुसार स्ववंश के पुराने घर में रह सकते थे और इसीलिए यह उसमें रहते थे पर अपने कुटुम्ब वालों से सदा क्षुब्ध रहे। भारतेन्दु जी सांसारिक झंझटों से दूर हो कर मातृभाषा-देश सेवा में निरत रहते थे और इनके भाई बड़ों का नाम-निशान रखने के लिए अर्थ-संचयन में रत थे। इस कारण स्वभावतः सारा परिवार, सम्बन्धी तथा घर के शुभचिंतकगण भारतेन्दु जी के विपक्षी थे। इससे इनका मन गृह पर कम लगने लगा। बँटवारे के बाद चार-पाँच वर्ष में इनकी अस्थावर सम्पत्ति का बहुत-सा अंश उड़ गया और भारतेन्दु जी को परोपकार, दान-पुण्य, देश-सेवादि कार्यों के लिए अर्थकष्ट होने लगा। ऐसे समय चापलूसों

की कृपा से भारत-सरकार ने भी ऐसे राजभक्त पर अपनी कोप-दृष्टि फेरी और इनकी मातृभाषा की सेवा में बाधा पड़ने लगी। इन दोनों बातों का भारतेन्दु जी ने अपने दो नाटकों में अत्यंत मृदु शब्दों में उल्लेख किया है और जो इनसे औदार्य-पूर्ण हृदय के उपयुक्त ही हुआ है। प्रेमयोगिनी के पहले अंक में मल्लजी के मुख से कहलाया है कि "तिस्में बड़े साहब तो ठीक ठीक, छोटे चित्त के बड़े खोटे हैं।" भारत दुर्दशा के पाँचवें अंक में 'डिसलायलटी' से कहलाया है कि "हम क्या करें गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कवि-वचन सुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी ? फिर क्यों हम उसके पकड़ने को भेजे गए ? हम लाचार हैं।" इन्हीं सब कारणों से दुखी होकर कहते हैं कि "क्या सज्जन लोग विद्यादि सुगुण से अलंकृत होकर भी उसकी इच्छा बिना ही दुःखी होते हैं और दुष्ट मूर्ख के अपमान सहते हैं। केवल प्राण-मात्र त्याग नहीं करते पर उनकी सब गति हो जाती है।" प्रेम-योगिनी की भूमिका का यह वाक्य उनके उस समय के आत्मक्षोभ का सूचक है। घर के लोगों तथा भारत सरकार से वे तिरस्कृत हो चुके थे और जनसाधारण भी उनके सुकार्यों में वांछनीय सहायता नहीं दे रहा था। इनका तो बाना ही था कि "कितना भी दुःख हो उसे सुख ही मानना।" हिन्दा तथा देश के लिये तो इनका हृदय चितादग्ध था ही, उस पर अपने ही लोगों की या जिनके लिये यह अपना तन-मन-धन अर्पण कर रहे थे, उन सबकी उदासीनता इनका हृदय जर्जर कर रही थी। इसी आत्मक्षोभ का सं० १७३२ वि० में निर्मित सत्य हरिश्चन्द्र तथा प्रेमयोगिनी की भूमिकाओं में अधिक उद्गार प्रकट हुआ है। पहले में केवल इतना ही कहा है कि "हा, प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ भी गुण रूप न समझा। क्या हुआ 'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी'।" मृत्यु के बाद सभी की कहानी मात्र रह जाती है, पर कुछ ऐसी होती है कि जिसे बहुत दिनों बाद तक बहुत लोग कहते-सुनते रहते हैं और कुछ दस-पाँच दिन दस-पाँच मनुष्य कह सुनकर भूल जाते हैं पर जब अपने जीवन-काल ही में कोई समझ लेता है कि उसकी उसके जीते जी कहानी मात्र रह गई और उसकी किसी को आवश्यकता नहीं रह गई तब उसका आत्मक्षोभ बहुत बढ़ जाता है। कुछ ऐसे ही विचारों ने इनके द्वारा निम्नलिखित क्षोभ-सूचक वाक्य कहलाए हैं। इनमें का 'लोकवहिष्कृत' शब्द ही इनके तत्कालीन विचारों की कुंजी है। "क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परमबंधु, पिता-मित्र-पुत्र सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सत्य का एक मात्र आश्रय, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिन्दी का एक मात्र जनक,

भाषा नाटकों का एक मात्र जीवनदाता, हरिश्चन्द्र ही दुखी हो। (नेत्र में जल भर कर) हा सज्जन शिरोमणे! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि 'कितना भी दुःख हो उसे सुख ही मानना।' लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है और जगत से विपरीत गति चल के तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष आकर अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नई निंदा करते हैं और तू संसारी वैभव से सूचित नहीं है; तुझे इससे क्या, प्रेमी लोग जो तेरे और तू जिन्हें सरबस है वे जब जहाँ उत्पन्न होंगे तेरे नाम को आदर से लेंगे और तेरी रहन-सहन को अपनी जीवन पद्धति समझेंगे। (नेत्रों से आँसू गिरते है) मित्र, तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निंदा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोकवहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रख कर विहार करोगे। क्या तुम अपना वह कवित्त भूल गए— 'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।' मित्र मैं जानता हूँ कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ हैं; हा! बड़ा विपरीत समय है।"

ऐसे प्रसन्न चित्त विनोद-प्रिय कवि-हृदय में यह आत्मक्षोभ अधिक नहीं टिका। पर इसका असर उन पर अवश्य बना रहा। वे परमाशा रूपी ईश्वर-प्रेम की ओर झुक पड़े और दूसरे ही वर्ष लिखी गई चन्द्रावली नाटिका की भूमिका में इनका आत्माभिमान तथा इनकी कृष्ण-प्रति अनन्य भक्ति यों उमड़ पड़ी है।

> **परम प्रेमनिधि रसिक बर, अति उदार गुन-खान।**
> **जग-जन-रंजन आशु कवि, को हरिचंद समान॥**
> **जिन श्री गिरिधर दास कवि, रचे ग्रन्थ चालीस।**
> **ता सुत श्री हरिचंद को, को न नवावै सीस॥**
> **जग जिन तृन-सम करि तज्यो, अपने प्रेम प्रभाव।**
> **करि गुलाब सों आचमन, लीजत वाको नाँव॥**
> **चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत को नेम।**
> **पर दृढ़ श्री हरिचन्द को, टरै न अविचल प्रेम॥**

इसी में श्री शुकदेव जी के मुख से कहलाया है कि—"अहा! संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है, कोई नेम-धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त, कोई मत-मतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है, एक दूसरे को दोष

देता है, अपने को अच्छा समझता है, कोई संसार ही को सर्वस्व मान कर परमार्थ से चिढ़ता है, कोई परमार्थ ही को परम पुरषार्थ मान कर घर बार तृण-सा छोड़ देता है। अपने-अपने रंग में सब रंगे हैं।" जो कुछ हो 'परोपकाराय सतां विभूतयः' उक्ति रहेगी और ऐसे ही परोपकारी लोगों की कहानी पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव डाल सकेगी।

भारतेन्दु जी का अर्थ-संकोच इतना बढ़ा कि जमा गायब हो गई और ऋण का बोझ ऊपर से पड़ गया। एक-एक का दो लिखवाने वालों ने जल्दी कर डिगरियाँ प्राप्त कर लीं और इनसे रुपया वसूल करने का उपाय करने लगे। इन्हें मेवाड़नरेश, काशिराज आदि कई गुणग्राही नरेशों से सहायता मिलती थी पर वे सब ऊपर ही ऊपर परोपकार में व्यय हो जाती थीं। डिगरियाँ कैसे साफ होतीं? उदाहरण मात्र के लिये एक डिगरी का वृत्त यहाँ दिया जाता है। काशी में श्रावण के प्रत्येक मंगल को दुर्गा जी का मेला होता है, जिसमें यह प्रायः जाते थे। एक डिगरीदार ने ऐसे समय वारंट निकाला कि ठीक वह उसी मेले का दिन था। यह इससे व्यस्त हो काशिराज के यहाँ सबेरे ही रामनगर पहुँचे। महाराज ने इनका उदास मुख देखकर इनके ऐसे समय आने का कारण पूछा तब इन्होंने सब हाल कह दिया। महाराज ने तुरन्त सात सौ रुपये कोष से मंगवा कर इन्हें दे दिए और यह लेकर वहाँ से दुर्गा जी का मेला देखने केशोराम के बाग में चले गए। जिस समय मेला खूब जमा हुआ था, उसी समय एक ब्राह्मण देवता वहाँ उस बाग में आए और सबसे कहने लगे कि "मेरी एक कन्या विवाह के योग्य हो गई है और मैं धनाभाव से उसका विवाह कर नहीं सकता। यहाँ इतने अग्रवाल वैश्य महाजन एकत्र हैं। यदि सब लोग दो-दो चार-चार रुपये दे दें तो मेरा 'धर्म बच जायगा।' वह इसी प्रकार सबसे कहता रोता फिरता था। किसी को सहायता न करते और उसे अति व्यग्र होते देखकर अंत में भारतेन्दु जी ने अपने नौकर को उस ब्राह्मण को कुल रुपये दे देने की आज्ञा दे दी। वह उतना धन पाकर अति प्रसन्न हो आशीर्वाद देता हुआ चला गया। इधर मेला देखकर जब यह बाग से नीचे उतरे तब इन्हें वारंट मिला। अंत में इनके मित्र बा० माधोदास जी ने उसी समय उस डिगरी के रुपये चुका दिए, जिसे बाद को भारतेन्दु जी ने उन्हें लौटा दिया।

सं० १९३६ वि० के ज्येष्ठ के 'सारसुधानिधि' भाग १, अंक १९ में पृष्ठ २२६-७ पर भारतेन्दु जी के इसी ऋण पर एक लेख उन्हीं के किसी मित्र द्वारा

लिखा गया प्रकाशित हुआ है, जिसका अधिकांश यहाँ उद्धृत किया जाता है। इससे उनकी तत्कालीन परिस्थिति अच्छी प्रकार ज्ञात हो जाती है।

'यह तो उनके गुणों की कथा हो चुकी' अब अवगुणों को सुनिए। पहली अवस्था में इनमें एक उपेक्षा का दोष बड़ा भारी था। सब लौकिक या द्रव्य सम्बन्धी कार्य मात्र में इतनी उपेक्षा उन्होंने की कि अब उसका विषम फल उपस्थित हुआ। यद्यपि बहुत से लोग इनका द्रव्य खा गए और यह नहीं कि इनको उसका ज्ञान न हो। तब भी इन्होंने उपेक्षा की और यद्यपि अनेक कार्यों में इन्होंने विशेष व्यय किया, परन्तु हम मुक्त कंठ से कहते हैं कि इनका समधिक द्रव्य सज्जनों की उपस्थित चिन्ता के निवारणार्थ, देश हितार्थ, धर्म और मातृभाषा की समुन्नति के अर्थ व्यय हुआ। यहाँ तक कि जब बहुत सा देना हो गया तो प्रायः स्थावर और अस्थावर विषय सब देनदारों को बाँट दिया। ऐसे ही अनेक लक्ष रुपयों का देना तीन चार बार करके दिया गया। अंतिम समय में भी जब सब देना दिया गया तो कुछ लोगों ने जायदाद लेना स्वीकार नहीं किया और नालिश किया। इस समय जो कुछ जिनके यहाँ बाकी था वह उनके नीचे दबा रह गया। भवतु, जिन लोगों ने नालिश की थी उनका भी दो तिहाई से ऊपर रुपया वसूल हो गया अर्थात् वास्तव में जो उनका रुपया था उससे कुछ विशेष ही वे लोग पा चुके थे। कारण यह कि एक एक देकर लोगों ने दो दो तीन लिखवाया था। जब नालिश हुई तब बनारस के सुयोग्य जज सैयद अहमद खाँ बहादुर सी०एस०आई० की आंतरिक इच्छा थी कि जिन लोगों ने व्यर्थ एक का दो किया है उन्हें उचित शासन मिले परन्तु इन्होंने स्पष्ट कहा कि चाहे एक का दो वा चार हो जो जिसको हमने देने को कहा है, वही देंगे। इसी बात पर फिर और किसी बात की अदालत ने साक्षी नहीं ली और जितने द्रव्य के वास्ते उन्होंने स्वीकार नहीं किया वह अदालत ने नहीं दिलवाया। अदालत की तजवीज में लिखा है—

"चूँकि बाबू हरिश्चन्द्र की सत्यता पर अदालत को पूर्ण विश्वास है, इससे उनके स्वीकार और अस्वीकार ही के अनुसार डिगरी दी जाती है और अन्य साक्षी की कोई अपेक्षा नहीं।" 'सोऽस्मद्विधानां प्रणयैः कृशी कृतो न तेन कश्चित् विभवैर्विमानिताम्। निदाघकालेष्विवसोदको ह्रदो तृष्णा सतृष्णमपनीय शुष्कवान्॥' आप यद्यपि धीर हैं; इनको कुछ भी मानसिक खेद नहीं परन्तु इनके इस दशा में पड़ने से और स्वस्थ चित्त न रहने से देश की बड़ी हानि हुई। वह सुमधुर शारदा की वीणा की कोमल झंकार अब तादृश कर्णगोचर नहीं होती और वह उत्तमोत्तम लेख अब कवि वचनसुधा को अपने सुधा-प्रवाह से नहीं प्लावित करते।

कारण यह कि एक स्वभाव इनका हमने स्वयं अनुभव किया कि इनका बल हनुमान जी का बल है, कोई उसका परिचालक हो तो चलता है। तो ये तो चिन्ताग्रस्त हुए अब वे बातें कहाँ! अब इस अवस्था पर मेरी प्रार्थना और अभिलाषा है कि इनके योग्य अनुज क्या उस थोड़े से ऋण का जो शेष रहा है, शोधन करने में असमर्थ हैं ......क्या उनके कुटुम्ब द्रव्य से उतना दे दिया जायगा तो वह कुछ न्यून होगा। क्योंकि 'विक्रीते करिणि किमंकुशे विवादः' जब कई लक्ष रुपया दे दिया गया तो इस थोड़े से के वास्ते ऐसे सहृदय और सज्जनता की मूर्ति को कष्ट क्यों हो। यों हमारे भारतवर्ष में विद्यानुरागी अनेक महाराजे हैं, कोई उनको बुला लें और उनकी बुद्धि की सहायता से अपना लाभ उठाये। यही नहीं किन्तु देश का भी उपकार करे। हम नहीं जानते कि वे यह स्वीकार करेंगे कि नहीं किन्तु यह हम कह सकते हैं कि यदि ऐसा योग हो तो हम लोग इनको उसके स्वीकार करने में बाधित करेंगे। तथा श्रीमान् महाराजा काशीनरेश अपने दरबार में ऐसा सुयोग्य पुरुष नहीं चाहते। आपही के पत्र में उन्होंने प्रकाशित किया था कि श्रीमान् हिन्दूपति श्री महाराणा साहिब ने उनकी एक बार सहायता की थी तो क्यों नहीं एक बार पुनः उदयपुराधीश सहायता करके बखेड़ा दूर कर उनको अपने निकट बुला लेते। जहाँ तक हम जानते हैं, आजकल वह अत्यन्त असुविधा में हैं। इससे मेरी लोगों से यही प्रार्थना है कि इसके पूर्व में कि यह अमृतमय तरु कलियुग की प्रचंड दुःख-वायु से कुम्हिला जाय, लोगों को इसका सम्हालना अत्यंत आवश्यक है और इस विषय में क्षणमात्र का अब विलम्ब न हो।

'हरेरिच्छा बलीयसी नान्या क्वापि गरीयसी'—एक सुजनदुःख दुखी।

[सार सुधानिधि, भा० १, अंक १९, सन् १८७९ (मिती ज्येष्ठ सं १९३६)]

पूर्वोक्त उद्धारण में तीन सज्जनों से इनकी सहायता करने के लिए विशेषतः प्रार्थना की गई है। पहले भारतेन्दु जी के भाई हैं, जिन्होंने इस प्रार्थना के पहले तथा बाद दूसरा वसीयतनामा तथा बख्शिशनामा लिखवाया था। इनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। काशिराज बराबर इनकी सहायता करते थे और इनके गुणों पर रीझ कर इन पर पुत्रवत् स्नेह रखते थे। पर ऐसे स्वतंत्रता-प्रिय तथा उदार पुरुष का कहीं रहना या नियमित प्राप्त धन से काम चलाना संभव नहीं था।*

*सन् १८७९ ई० के सितम्बर मास के 'हिन्दी-प्रदीप' में एक नोट इस प्रकार है—'रत्न समागच्छति कांचनेन'। हिन्दी भाषा के एक मात्र आधार

कवि राजा श्यामलदान के लिखे सं० १६३४, ज्येष्ठ कृष्ण ३०, रविवार के पत्र से ज्ञात होता है कि मेवाड़ नरेश भी इनको बराबर सहायता करते थे पर इनके 'अपव्यय', के आगे वह सब सहायता कम ही पड़ती थी।

ऐसी ही दशा में सन् १८७६ ई० में बख्शिशनामा लिखा गया, जिससे ननिहाल से प्राप्त होने वाले धन की भी आशा निराशा में परिणत हो गई।

भारतेन्दु जी इस प्रकार ऋण से दुखित थे और अपनी स्थावर संपत्ति बेंचकर उसका परिशोध करते हुए भी अपने स्वाभाविक कार्यों में कमी नहीं कर रहे थे, इससे स्यात् क्रुद्ध होकर इनके अनुज ने दूसरी बार फिर काशिराज से इनके कार्यों का कुछ उलाहना दिया जिस पर महाराज ने, जब यह रामनगर गए तब, इनसे कहा कि "हरी, गोकुल यहाँ आए थे और तुम्हारे विषय में बहुत कुछ कह रहे थे। अब तो तुम अपनी पुत्री की शादी भी कर चुके हो, यहीं रहा करो। तुम हाथ खर्च के किए २० रुपये रोज ले लिया करो। वहाँ रहोगे तो तुम पर पैतृक-संपत्ति नाश करने का दोष लगता रहेगा।" भारतेन्दु जी यह सब चुपचाप सुनते रहे और और अंत में कहा कि "आप की आज्ञा पर जो मुझे कथन है, वह कल आपको ज्ञात होगा।" यह कह कर वे घर पर लौट आए और अपने लिखने पढ़ने का सामान लेकर पहले अपने एक महाराष्ट्र मित्र के घर दुर्गाघाट चले गए और वहीं कुछ दिन रहे। इस मित्र का नाम अल्ल कुर्डेकर था पर उसका पूरा नाम न ज्ञात हो सका। यहीं से इन्होंने दो पत्र लिखे—एक काशिराज को और दूसरा अपने छोटे भाई साहब को। उन पत्रों का सारांश यही था कि उन्होंने अब अपने पूर्वजों की संपत्ति खाना छोड़ दिया है। इसी काल में यह प्रायः एक पक्ष तक दुर्गाकुंड में केशोराम के बाग में भी रहे थे। इस प्रकार कुछ दिनों तक यह बाहर ही बाहर रहने के अनंतर पुनः अपने पूर्वजों के गृह पर आए थे।

इस प्रकार देश, समाज मातृभाषा आदि की उन्नति तथा अपनी कौटुम्बिक और ऋण आदि की चिंताओं से ग्रस्त होने के कारण इनका शरीर जर्जर हो रहा था। इसी समय मेवाड़पति महाराणा सज्जन सिंह के आग्रह तथा श्रीनाथ जी के दर्शन की लालसा से सन् १८८२ ई० में यह उदयपुर गए। इतनी लम्बी यात्रा के प्रयास को इनका जीर्ण शरीर नहीं सह सका। ये बीमार पड़ गये और स्वास,

---

रसिकशिरोमणि श्रीयुत् बाबू हरिश्चन्द्र को महाराज काशीनरेश ने अपने यहाँ के सरस्वती भंडार (Library) का अधिकारी नियत किया है। सच है 'रत्न कांचन हीं के साथ मेल खाता है।'

खाँसी तथा ज्वर तीनों प्रबल ही उठे। यों ही प्राणभय उपस्थित था, उस पर एकाएक एक दिन हैजा का इन पर कड़ा आक्रमण हुआ। यहाँ तक कि कुल शरीर ऐंठने लगा पर अभी आयुष्य थी, इससे ये बच गए। सं० १९४० चैत शुक्ल पूर्णिमा को लिखे गए नाटक के समर्पण में लिखते हैं—"नाथ! आज एक सप्ताह होता है कि मेरे इस मनुष्य जीवन का अंतिम अंक हो चुकता, किन्तु न जाने क्या सोच कर और किस पर अनुग्रह करके उसकी आज्ञा नहीं हुई। नहीं तो यह ग्रंथ प्रकाश भी न होने पाता। यह भी आप ही का खेल है कि आज इसके प्रकाश का दिन आया।"

अभी यह पूर्णतया स्वस्थ नहीं हुए थे कि शरीर की चिंता छोड़कर अपने लिखने-पढ़ने आदि कार्यों में लग गए। दवा भी कौन करता है, जब रोग प्रबल थे सभी को चिंता थी पर जब वे निर्बल हुए तब अन्य सांसारिक विचारादि प्रबल हो गए। अस्तु, रोग इस प्रकार दब गए थे, पर जड़-मूल से नष्ट नहीं हुए थे। बीच में दो एक बार रोग उभड़ आया था पर शांत होगया था। इधर दो महीने से फिर श्वास चलता था, कभी-कभी ज्वर का आवेश भी हो आता था, औषधि होती रही, शरीर कृशित तो हो चला था पर ऐसा नहीं था कि जिससे किसी काम में हानि होती। श्वास अधिक हो चला, क्षयी के चिह्न पैदा हुए। एकाएक दूसरी जनवरी से बीमारी बढ़ने लगी। दवा इलाज सब कुछ होता था पर रोग बढ़ता ही जाता था। छठवीं तारीख को प्रातःकाल के समय जब ऊपर से हाल पूछने के समय मजदूरनी आई तो आप ने कहा कि "जाकर कह दो कि हमारे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित्य नया छप रहा है पहिले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खाँसी की सीन हो चुकी देखें लास्ट नाइट कब होती है। उसी दिन दोपहर से श्वास वेग से आने लगा कफ में रुधिर आ गया। डाक्टर वैद्य अनेक मौजूद थे और औषधि भी परामर्श के साथ करते थे, परन्तु 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' प्रतिक्षण में बाबू साहब डाक्टर और वैद्यों से नींद आने और कफ के दूर होने की प्रार्थना करते थे, पर करें क्या काल दुष्ट तो सिर पर चढ़ा था, कोई जाने क्या। अन्ततो-गत्वा बात करते ही करते पौने दस बजे रात को भयंकर दृश्य आ उपस्थित हुआ। अन्त तक श्रीकृष्ण का ध्यान बना रहा। देहावसान समय में "श्रीकृष्ण! श्रीराधा-कृष्ण! हे राम! आते हैं मुख दिखलाओ" कहा, और कोई दोहा पढ़ा जिसमें से 'श्रीकृष्ण......सहित स्वामिनी' इतना धीरे स्वर से स्पष्ट सुनाई दिया। देखते ही देखते प्यारे हरिश्चन्द्र जी हम लोगों की आँखों से दूर हो गए। चन्द्रमुख कुम्हला कर चारों ओर अन्धकार हो गया। सारे घर में मातम छा गया, गलीगली में

हाहाकार मचा और सब काशीवासियों का कलेजा फटने लगा। लेखनी अब आगे नहीं बढ़ती। बाबू साहिब की चरणपादुका पर......।

ऐसे लोकप्रिय देश हितैषी के लिये यथायोग्य शोक प्रकाश किया गया था। शोक प्रकाशक तारों और पत्रों के ढेर लग गए थे। कितनी कविताएँ, लेख तथा चरित्र छपे। इनका एक संग्रह शोकावली के नाम से पीछे से प्रकाशित भी हुआ था। इनके स्मारक स्थापित करने की चर्चा बहुत उठी पर अब केवल 'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।' बस, भारत के देश से उसका कोई भी शुभचिंतक ऐसी कहानी से अधिक पुरस्कार में या स्मृति में क्या माँगने की आशा कर सकता है ?

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का देहावसान माघ कृ० ६, सं० १९४१ वि० (६ जनवरी सन् १८८५ ई०) को हुआ था। आप की अवस्था उस समय चौंतीस वर्ष चार महीने की थी। यद्यपि भारतेन्दु को अस्त हुए पचहत्तर वर्ष होते आए पर आज भी उसकी ज्योत्स्ना मंद नहीं हुई है। स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक ने ठीक ही कहा है कि—

जब लौं भारत भूमि मध्य आरजकुल बासा।
जब लौं आरज धर्म माहिं आरज विश्वासा॥
जब लौं गुन आगरी नागरी आरज बानी।
जब लौं आरज बानी के आरज अभिमानी॥
तब लौं यह तुम्हरो नाम थिर चिरजीवी रहिहै अटल।
नित चंद सूर सम सुमिरिहैं हरिचंदहुँ सज्जन सकल॥

संतति तथा स्त्री

भारतेन्दु जी को दो पुत्र और एक पुत्री हुई थी, पर प्रथम दोनों शैशवावस्था में ही जाते रहे। उनकी पुत्री भी अत्यन्त निर्बल थीं और शैशवकाल में सदा रुग्ण रहती थीं, यहाँ तक कि इनका शिर एक ओर लटका-सा रहता था। इन्हें भारतेन्दु जी की एक संतान कहलाने का सौभाग्य प्राप्त था, इससे यह सब रोगों से मुक्त हो गईं। इनकी शिक्षा का भी अच्छा प्रबन्ध हुआ था। यह हिन्दी तथा बंगला अच्छी तरह जानती थीं और संस्कृत का इतना ज्ञान था कि श्रीमद्भागवत आदि का पारायण कर लेती थीं। इनका विवाह सं १९३७ वि० के वैशाख मास (सन् १८८० की मई) में गोलोकवासी बा० बुलाकीदास जी सोनावाले के भाई बा० देवी प्रसाद जी के पुत्र स्वर्गीय बा० बलदेवदास जी से भारतेन्दु जी ने स्वयं

किया था। इन्हीं के विवाह में गाली बन्द की गई थी और पत्तलें परोसकर तब जाति भाइयों को बैठाया गया था। उसके पहले जाति भाइयों को बैठाकर तब पत्तलें परसी जाती थीं, जिस कार्य में प्राय: आध घंटे लग जाते थे। इनमें दो असुविधाएँ थीं। एक तो अच्छी-अच्छी खाद्य वस्तुएँ सामने रहते हुए भी लोग बैठे हुए केवल सुगंधि लिया करते थे और दूसरे उन्हें गाली सुनने का भी अधिक समय तक मजा मिला करता था। उसी समय से गालीगायन कम होता गया और अब प्राय: बन्द-सा हो गया है। यह विवाह बड़े धूमधाम से हुआ था। इनका नाम श्रीमती विद्यावती था। इन्हें पाँच पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ हुई थीं। एक पुत्री विवाह योग्य होकर तथा दो शैशवावस्था ही में कालकवलित हो गईं। पुत्रों के नाम वयानुक्रम से बा० ब्रजरमणदास,[1] ब्रजरत्नदास (नानिहाल का नाम रेवतीरमणदास) ब्रजमोहनदास[2], ब्रजजीवनदास और ब्रज भूषणदास हैं। प्रथम हिन्दी तथा उर्दू का ज्ञान प्राप्त कर कोठी के काम में लग गए और अन्य सभों ने अंग्रेजी की शिक्षा पाई। द्वितीय इस चरित्र का लेखक है। तृतीय तथा पंचम ने एंट्रेंस तक पढ़ कर तथा चतुर्थ ने उत्तीर्ण होकर स्कूल त्याग दिया। अंतिम ने गृह पर ही संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इनमें अन्तिम दो मातृ-भाषा की कुछ सेवा करते रहते हैं।

सं० १९५७ वि० के अगहन कृष्ण २ को श्रीमती विद्यावती का और सं० १९८६ के चैत्र कृष्ण २ को पूज्यपाद बा० बलदेवदास जी का स्वर्गवास हो गया।

भारतेन्दु जी के छोटे भाई बा० गोकुलचन्द्र जी को दो पुत्र और दो पुत्री थीं। पुत्रों का नाम बा० कृष्णचन्द्र तथा ब्रजचन्द्र था। प्रथम के तीन तथा द्वितीय के दो पुत्र वर्तमान हैं। बा० कृष्णचन्द्र के पुत्रों का नाम डा० मोतीचन्द्र, बा० लक्ष्मीचन्द्र तथा बा० नारायणचन्द्र है और बा० ब्रजचन्द्र के पुत्रों का नाम बा० कुमुदचन्द्र और बा० मोहनचन्द्र है।

भारतेन्दु जी की धर्मपत्नी श्रीमती मन्नोदेवी का आषाढ़ कृष्ण ७, स० १९८३ वि० (२६ जुलाई सन् १९२६ ई०) को, बयालीस वर्ष तक वैधव्य भोगकर गंगा-लाभ हुआ था। इनका अपने भतीजों पर बहुत ही स्नेह था। स्वर्गीय बाबू कृष्णचन्द्र जी नित्य ही अर्द्धरात्रि के बाद एक दो बजे बाग से घर लौटते थे और यह बराबर उनकी प्रतीक्षा में बैठी रहती थीं तथा उन्हें भोजन कराकर तब सोतीं

---

[1] सं० १९९४ में देहांत। [2] सं० २००१ में देहांत।

थीं। वे दोनों भाई भी इन्हें बहुत मानते थे और उन लोगों ने अंत तक उसी प्रकार निबाहा भी था। इस लंबे वैधव्य के कारण इन्हें कष्ट भी बहुत उठाना पड़ा। कई वर्ष तक आँखों से न दिखलाई पड़ने के कारण तथा रोग-जर्जरित होने से घरवालों को भी तकलीफ थी। कुछ लोगों के इस कथन पर कि 'अमुक तो अपना सर्वस्व फूँक कर चल दिए और इन्हें हम लोगों के जान का ग्राहक छोड़ गए' इन्हें मानसिक कष्ट विशेष हुआ था तथा इन्होंने एक बार कहा भी था कि "अब हम अधिक न चलेंगे, हमारी क्रिया के लिए विशेष समारोह की जरूरत नहीं है, हमारी उंगली के ये छल्ले हमें फूंकने के लिए बहुत होंगे। समय तू जो न चाहे कर दिखलावे।"

चन्द्र में कलंक

जीवनचरित्रों ही से मनुष्य का सबसे बढ़कर मनोरंजन होता है। उपन्यास, नाटक आदि भी कल्पित मनुष्यों की जीवनियाँ ही हैं। उत्तम जीवनी कभी भी समय के पीछे नहीं पड़ सकती। किसी महान् पुरुष की जीवनी से यही उपदेश प्रधानतः मिलता है कि मनुष्य क्या हो सकता है, कहाँ तक ऊँचे उठ सकता है और मानव समाज के लिये वह कहाँ तक हितकर हो सकता है। इनको पढ़ने से हमें उत्साह मिलता है, हमारा साहस बढ़ता है। महान् व्यक्तियों से, जो अब नहीं रह गए हैं या वर्तमान हैं, हम बराबर नहीं मिल सकते पर उनकी सच्ची जीवनी यदि हमारे पास है तो हम सर्वदा उनसे सत्संग रख सकते हैं। पर मनुष्य तभी मनुष्य रहेगा जब उसके दोष आदि भी प्रकट कर दिए जायँगे। मनुष्य देवता नहीं है, उसमें दोष रहेंगे, किसी में एक है तो किसी में कुछ और है। यदि एक महात्मा की जीवनी से हम दोषों को निकाल देते हैं तो हम ऐसा निर्दोष आदर्श उपस्थित कर देते हैं जिसको अनुगमन करने का लोग साहस छोड़ बैठेंगे। उसे मनुष्योपरि या देवी समझेंगे, जिससे जीवनी-लेखक का परिश्रम निष्फल-सा हो जायगा। तात्पर्य इतना ही है कि जीवनचरित्र में गुणों का विवेचन करते हुए दोषों का भी, यदि हों, तो विश्लेषण अवश्य कर देना चाहिए। सत्य कटु होता है और नीति भी कहती है कि 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यप्रियम्।' पर सच्चे दिल से मृत महात्माओं के विशिष्ट दोषों का उल्लेख अवश्य होना ही चाहिए।

साधारणतः कवि सौंदर्योपासक होता है। सौंदर्य से केवल स्त्री-सुलभ सौंदर्य ही से तात्पर्य नहीं है। गुलाब में सौंदर्य है तो उसकी नई डाल के नये निकले हुए प्याजी रंग के काँटों में भी कुछ न कुछ सौंदर्य रहता है। बड़ों के गुण तथा दोष दोनों ही में कुछ न कुछ सार होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी से भक्तश्रेष्ठ को

भी इसी सौंदर्योपासना ही से भक्ति की दीक्षा मिली थी। भारतेन्दु जी की जीवनी देखने से यह ज्ञात होता है कि 'घर के शुभचिंतकों' ने उन्हें जितना ही 'लायक' बनाने का प्रयत्न किया उतने ही वे मीराबाई के समान 'नालायक' होते गए और दोनों ही पक्ष अंत तक अपने-अपने प्रयास में डटे रहे। फलतः आरम्भ में यह परकीया नायिकाओं के फेर में कुछ दिन पड़ अपने चित्त को सान्त्वना देते रहे पर कुछ ही दिनों बाद इन्होंने अपने को सँभाला और श्रीकृष्ण भगवान के रंग में ऐसे रँग गए कि अंत समय तक 'श्रीकृष्ण सहित स्वामिनी' रटते रह गए। एक बात और पहले ही कह देना चाहिए। इनकी प्रवृत्ति कुछ साधुओं की-सी थी। धन के विषय में तो यह कथन बिल्कुल ही ठीक है। अभी दस बीस हजार आ गया तो दोनों हाथों से लुटाकर बाँट-बूँट सफाचट कर दिया। यह फिक्र नहीं रहती थी कि कल चिट्ठियों के लिये दो रुपये किसी से उधार लेने पड़ेंगे। संचयन की बुद्धि इनमें बिल्कुल थी ही नहीं। शरीर पर के कपड़े तक दूसरों को देकर स्वयं ठंढे में बैठे रह जाना साधु ही का काम था। वेश्या का सहवास इनके लिये आवश्यक ही था। आज इस बहाने तो कल उस बहाने जलसे होते रहते थे। गुणी गायिका अपना गुण अवश्य दिखलाएगी तथा गुण-ग्राही पुरुष उसकी प्रशंसा करेगा ही। इस प्रकार वार्तालाप होते हुए आपस में परिचय होना अनिवार्य था। 'अंधेर नगरी' में उस समय की प्रसिद्ध गानेवाली कई वेश्याओं के नाम दिए गए हैं। ये सभी भारतेन्दु जी के दरबार में आती-जाती थीं। इन्हीं में से किसी के हाव-भाव पर भारतेन्दु जी को कोई नई उक्ति सूझी थीं, जिस पर कविता बनाकर उपस्थित सज्जनों को सुनाते हुए उन्होंने कहा था कि "हम इन सबों का सहवास विशेष कर इसलिये करते हैं। कहिए! यह सच्चा मजमून कैसे प्राप्त हो सकता था।" भाव उनका यही था कि वे उन सब में लिप्त नहीं थे।

एक बार संध्या के अनंतर रामकटोरे के बाग में भारतेन्दु जी बैठे हुए थे, उनके पास ही माधवी तथा एक और सज्जन बैठे थे। कुछ ही देर बातचीत करने के बाद भारतेन्दु जी उठ कर बाग में चले गए और देर तक न लौटे तब उक्त सज्जन माधवी के कहने पर उन्हें ढूंढ़ने गए। वह स्वयं कहते थे कि "उन्होंने बा० हरिश्चन्द्र को बाग के एक कोने में एक वृक्ष की डाल पकड़े हुए चन्द्रमा की ओर देखते हुए देखा और यह भी देखा कि उनकी आँखों से अविरल आँसू टपक रहे हैं तथा वे कुछ मंद-मंद अलाप रहे हैं।" कुछ देर के अनन्तर वे स्वस्थ होकर पुनः अपने जगह पर आकर बैठ गए।

पं० ईश्वरचन्द्र चौधरी प्रसिद्ध होमियोपैथिक डाक्टर थे। इन्होंने अवस्था

बहुत अधिक पाई थी और यह भारतेन्दु जी के समय उनके घर पर दवा करने के लिए बराबर जाते थे। भारतेन्दु जी इन्हें बहुत मानते थे और इन पर स्नेह रखते थे। यह दवा करने जनाने में भी जाते थे। एक बार भारतेन्दु जी की धर्मपत्नी की दवा हो रही थी। होमियोपैथी के अनुसार रोगी की चिंता आदि मानसिक विकारों से भी निदान किया जाता है इसलिए इन्होंने मेरी मातामही को चिंताग्रस्ता पाकर उसका कारण पूछा जिससे मालूम हुआ कि उनके प्रति पति की जो उदासीनता है उसी से वह चिंतित रहती हैं। चौधरी महाशय ने भारतेन्दु जी से सन्मुख बात करना उचित न समझ कर उन्हें इस विषय पर एक पत्र लिखा था जिसका लंबा उत्तर भारतेन्दु जी ने बंगला भाषा में (पर हिन्दी लिपि में) लिखकर भेजा था। उस समग्र पत्र का आशय यही था कि वे अपनी स्त्री को किसी प्रकार का किंचित् भी कष्ट नहीं देते और वह घर पर सब प्रकार से आराम से रहती हैं पर वे स्वयं अपने मन के अधिकारी नहीं हैं, उनका मन घर पर नहीं लगता, इसलिए वह लाचार हैं। यह पत्र अभी तक कुछ दिन हुए उनके पास था और उन्होंने उसे अपने सुशिक्षित पुत्र को उसे सुरक्षित रखने को दे दिया था* पर इन महाशय ने उसे तुच्छ समझ कर नष्ट हो जाने दिया। ऐसा समझने का कारण स्यात् यही था कि भारतेन्दु जी बंगाली नहीं थे। अस्तु, अब माधवी तथा मल्लिका का कुछ परिचय यहाँ दे दिया जाता है।

जगतगंज-निवासी किशुनसिंह की लड़की का नाम माधवी था जिसका दूसरा नाम (उर्फ) अलीजान था। इसने अपना एक मकान, जो बाग सुन्दरदास नामक मुहल्ले में था, आषाढ़ सं० १९३६ (जून १८७९) में बेंचा था। उस बैनामे में बेंचने का कारण यह लिखा है कि "यह मकान बा० गोकुलचन्द के यहाँ पाँच-सौ रुपये पर रेहन था और उसी ऋण को चुकाने के लिये इसे निकाल देना आवश्यक हुआ।" पूर्वोक्त बैनामे की इन बातों से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि माधवी हिन्दू थी पर मुसलमान हो गई थी। ऐसी ही अवस्था में वह ऋण लेने-देने के लिये भारतेन्दु जी के गृह पर उनके भाई के पास आती थी और इस प्रकार इनसे उसका परिचय होगया होगा। माधवी के हिन्दू से मुसलमान हो जाने के कारण उसमें कुछ विशेषता आगई थी और अंत में भारतेन्दु जी ने उसकी शुद्धि करके उसे ग्रहण कर लिया होगा। जिस ऋण के लिये यह मकान सन् १८७९ में बिका था, वह अवश्य पाँच सात वर्ष पहले का अर्थात् सन् १८७२ ई० के लगभग का

*स्व० डाक्टर साहब ही ने यह कुल वृत्त मुझे बतलाया था।

रहा होगा। उस समय भारतेन्दु जी की अवस्था तेईस-चौबीस वर्ष की थी और वे 'घर के शुभचिंतकों' के कारण घर के लिये त्याज्य से हो रहे थे। ऐसी अवस्था तथा दशा में इस प्रकार के प्रणय हृदय की सांत्वना के लिए अनायास हो जाते हैं। भारतेन्दु जी ने इसके लिये सुड़िया मुहल्ले में एक मकान क्रय कर दिया था और उसमें एक ठाकुर जी भी स्थापित किए गए थे तथा कुछ उत्सव मनाए जाते थे। यहाँ वे प्रायः रात्रि व्यतीत करते थे। चित्त-विनोदार्थ क्रय की गई वस्तुओं का भी यहाँ अच्छा संग्रह हो गया था, जिसमें हाथी दाँत पर बने हुए चित्रों का एक ऐलबम भी था। भारतेन्दु जी की मृत्यु पर यह सब सामान बा० गोकुलचंद जी घर लिवा लाए और माधवी के व्यय के लिये दस रुपये मासिक नियत कर दिए थे। यह भी उनकी मृत्यु के बाद बंद हो गया, जिससे वह मकान बेंचकर अन्यत्र चली गई।

मल्लिका नाम की एक बंगदेशीय कुलीन विधवा स्त्री खदेरूमल की गली में आकर बस गई थी या किसी ने जान बूझ कर उसे वहीं लाकर बसाया था, इसका ठीक पता नहीं। आजकल यह गली टकसाली की गली भी कहलाती है। इस घराने के चौखंभा स्थित दीवानखाने वाले मकान के पास पश्चिम ओर सटा हुआ जो इसी वंश का दूसरा मकान है, उसके ठीक पीछे यह गली है। ये दोनों मकान ऊपर हर मंजिल में मिले हुए हैं, केवल सबके नीचे वाली मंजिल अलग है जिसमें से एक गली गई हुई है। खदेरूमल की गली इतनी सकरी है कि उसके दोनों ओर के मकान ऊपर से एक से मालूम होते हैं और लड़के तक एक पर से दूसरे पर सुगमता से जाते-आते हैं। ऐसे स्थान में रहने के कारण भारतेन्दुजी की इस पर प्रायः नजर पड़ती रहती थी और जो अपने घर के सभी प्राणियों से अलग सा था, उस पर ऐसी एकाकिनी पड़ोसिन का प्रभाव बढ़ता गया। यह अपने ही घर में एक प्रकार बिराने से होकर रहते थे, इसलिए इनका मन घर पर नहीं लग रहा था। इनका वही हाल था जैसा किसी ने लिखा है कि "मरों को सारी दुनिया रोवे हम जीतों को रो बैठे। मरे से मुर्दा होते हैं हम जिन्दे मुर्दः हो बैठे।" बड़े घरों के बिगड़े दिल युवकों को ऐसी समय सहायता करने वाले बहुत होते हैं। इन्हें भी इनके घर पर आने जाने वाले एक ऐसे ही महात्मा मिले, जिन्होंने इनकी उस पड़ोसिन से जान पहिचान करा दी। वह इनकी आश्रिता हो गई। यह अत्यंत नम्र, विनयशील तथा सुचरित्र थी पर भाग्य के दोष से वह उस अवस्था को पहुँच गई थी। यह शिक्षिता भी थी और भारतेन्दु जी के समागम से उसने हिन्दी भी अच्छी तरह सीख ली। बँगला में 'चन्द्रिका' उपनाम से बहुत से पद उसने बनाए

हैं और हिन्दी में बंगला से तीन उपन्यासों का अनुवाद भी किया है। इनके नाम राधारानी, सौंदर्यमयी और चन्द्रप्रभा पूर्ण प्रकाश हैं। राधारानी का समर्पण यों लिखा है—

"हमारे आर्य सभ्य शिष्ट समाज की रीति अनुसार मेरे परिचय की सर्व-साधारण में योग्यता नहीं और न इस क्षुद्र ग्रन्थ का अनुवाद कोई ऐसा स्तुत्य कृत्य है, जिसके धन्यवाद संचय करने को मुझे प्रकट होना आवश्यक है। केवल इतना ही कहना बहुत होगा, 'शुकांगना यत्र गिरो गिरंति अवेहि तम्मंडनमिश्रगेहम्।' जिस पूज्य प्राणप्रिय देवतुल्य स्वामी की आज्ञा से इसका अनुवाद मैंने अपनी अबल भाषा में किया है, उन्हीं के कोमल कर-कमलों में यह समर्पित भी है और उन्हीं की प्रसन्नता मात्र इसका फल है।"

प्रेम तरंग में इसके चालीस से अधिक पद संगृहीत हैं। इनमें से एक यहाँ दिया जाता है—

राखो हे प्रानेश ए प्रेम करिया जतन।
तोमाय करेछि समर्पन।
जत दिन रवे प्रान श्री चरने दिओ स्थान।
हरिश्चन्द्र प्रानधन एही अकिंचन।
'चन्द्रिका' हृदय-धन नाहिक तोमा बिहन।
तब करे ते आपोन करेछि जीवन मन॥

पूर्वोद्धृत उद्धरण तथा पद दोनों ही से ज्ञात होता है कि यह कितनी नम्रताशील थी और भारतेन्दु जी पर उसका कितना प्रेम बढ़ गया था। इसी प्रकार भारतेन्दु जी का भी उस पर बहुत स्नेह था। उनका एक पत्र नीचे दिया जाता है, जिससे यह स्पष्ट हो जायगा।

"विदेश से हम लौट कर न आवें तो इस बात का जो हम यहाँ लिखते हैं ध्यान रखना। ध्यान क्या, अपने पर फर्ज समझना। किन्तु हम जल्दी जीते-जागते फिरेंगे। कोई चिंता नहीं है! सिर्फ संयोग के वश होकर लिखा है। यदि ऐसा हो तो दो चार बातों का अवश्य ध्यान रखना। यह तुम जानते हो कि तुम्हारी भाभी की हमको कुछ चिंता नहीं, क्योंकि तुम्हारे ऐसा देवर जिनका वर्तमान है, उसको और क्या चाहिए। दो बात की हमको चिंता है। प्रथम कर्ज, दूसरी मल्लिका की रक्षा। थोड़ी-सी डिगरी जो बच गई हैं उसको चुका देना और जीवन भर दीन-हीन मल्लिका की, जिनको हमने धर्मपूर्वक अपनाया है, रक्षा करना। कृष्ण को

ऊंची शिक्षा संस्कृत, अङ्गरेजी और बंगला की हो। जो ग्रंथ हमारे या बाबू जी के बे-छपे रह जायँ, वे छपें। इस पत्र को हमने कलेजा फाड़ कर चार दिन में अर्थात् अछनेरा से शुरू करके भिलाड़े में खतम किया है। इस पर हँसना मत, दुखी होना, क्योंकि अभी तो अणुमात्र भी मरने की सम्भावना नहीं है। शारीरिक कुशल है, तनिक भी चिंता न करना।"

भारतेन्दु जी को स्वयं अर्थ-संकोच रहता था इसलिये इसके काल-यापन के लिये इन्होंने अपनी प्रकाशित पुस्तकों का कुछ स्टॉक इसे दे दिया था, जिसकी बिक्री से इसका काम चलता था। चौक की सिख संगत के सामने के एक मकान में इसका स्टॉक रहता था और इस कार्यालय का नाम 'मल्लिक चन्द्र एंड कम्पनी' रखा गया था। भारतेन्दु जी की मृत्यु के बहुत दिनों बाद तक यह कार्यालय रहा। बाबू गोकुलचन्द्र जी भी अपने जीवन भर इसकी सहायता करते रहे।

मित्रगण

किसी असाधारण पुरुष की जीवनी में उसके मित्रों का भी परिचय देना आवश्यक होता है, पर इससे यह तात्पर्य नहीं कि उसकी प्रकृति उन मित्रों के कारण परिवर्तित हुई होगी प्रत्युत् इसके विपरीत यही ज्ञात होगा कि जो कोई उसका साथ करता था वह भी उसी के रंग में रंग जाता था। यही बात भारतेन्दु मंडल पर भी घटित होती है, जैसा कि प्रेमघन जी आदि की जीवनी से ज्ञात होगा। चन्द्र की ज्योत्स्ना में नक्षत्रगण का प्रकाश आप ही और भी खिल उठता है। भारतेन्दु जी के मित्रों की संख्या भी बहुत थी, कारण यह कि जो लोग इन्हें हानि पहुँचाते थे या इनसे द्वेष रखते थे, उन्हें भी यह अपना मित्र ही समझते थे। इसीसे इनके मित्रगण ने इन्हें 'अजातशत्रु' तक कहा है।

भरतपुर-नरेश बल्देवसिंह की मृत्यु पर उनके अल्पवयस्क पुत्र बलवन्तसिंह को गद्दी से हटाकर उनके भ्रातृ-पुत्र दुर्जनसाल ने उस पर अधिकार कर लिया। भारत सरकार ने सेना भेज कर बलवन्तसिंह को गद्दी दिला दी और दुर्जनसाल अपने दो पुत्रों के साथ प्रयाग में रहने के लिए भेज दिए गए। इन्हीं के वंशज राव कृष्णदेव शरणसिंह थे, जो 'गोप' उपनाम से कविता करते थे। काशी ही में उस समय वॉर्ड्ज स्कूल था, जिसमें धनाढ्यों तथा राजाओं के पुत्रगण शिक्षा पाते थे। यहीं इन दोनों मित्रों का समागम हुआ और यह गाढ़ी मित्रता अंत तक एकरस रही। यह मित्रता ऐसी थी कि एक रचना 'माधुरी' रूपक को लेकर यह भ्रम लोक में फैल गया था कि यह इन दोनों मित्रों में से वास्तविक रचयिता की न

होकर दूसरे अर्थात् भारतेन्दु जी की प्रणीत है। यह राव साहब ही की रचना है, यह अब निश्चित हो गया है, क्योंकि इसके एक मात्र पद में इनका उपनाम 'गोप' आया है। इस छोटे से रूपक में ब्रजभाषा का भी पुट विशेष है। इन्होंने चन्द्रावली नाटिका का ब्रजभाषा में रूपांतर किया था। हरिश्चन्द्र मैगजीन के तीसरे अंक में इनका 'प्रेम संदेश' छपा है, जिसमें सोलह पद आसावरी और सोलह पद सारंग राग के हैं। चौथी संख्या में 'मानचरित्र' प्रकाशित हुआ है, जो रूपक के समान आलापादि युक्त छोटी-सी रचना है। इसमें पद्य ही अधिक हैं। इसमें भारतेन्दु जी का भी एक पद इन्होंने रखा है। चन्द्रिका में एक दोहावाली भी प्रकाशित हुई है, जिसमें पैंतीस दोहे हैं। यह भी अपने मित्र ही के समान अनन्य कृष्णभक्त थे और तदीय समाज के सभ्य भी थे। यह ऐसे नम्र तथा शीलवान् थे कि एक बार यह उसके किसी अधिवेशन में नहीं आ सके तो उसके लिये विशेष रूप से लिखकर क्षमा प्रार्थना की थी। इन्हें बाग तथा गायन-वादन का बहुत शौक था और उसमें कुशल भी थे। यह हाथ के अच्छे कारीगर थे। इनके हाथ का बनाया एक फौवारा दस सहस्त्र का बिका था। यह भी अपने मित्र के समान उदार थे और इसीलिए ऋणग्रस्त भी थे।

वॉर्ड्स स्कूल के इनके दो-एक अन्य मित्रों का यहाँ उल्लेख कर दिया जाता है। बस्ती के राजा महेश्वर सिंह भी इनके मित्र थे और वह भी कुछ कविता विशेषतः ठुमरियाँ बना लिया करते थे। सरयूपार की यात्रा के विवरण में भारतेन्दु जी ने इनके स्थान का भी उल्लेख किया है। जब इनकी अवस्था अधिक हो गई थी, उस समय धोखे से एक खून कर डालने के कारण इन्हें एक घंटे की सजा मिली थी और उतने समय के लिये इन्हें जेलखाने की हवा खिलाई गई थी। यह इस दंड से दुखित हुए थे और यह पद जोड़ा था—

हे राम राजा रजाय भई तुम्हरी।
रजाय भई तुम्हरी सजाय भई हमरी॥
कहत 'महेस' बस्ती के राजा बूढ़ी उमरि में सजाय भई हमरी॥

जब्बलपुर जिलांतर्गत गढ़ा परगना के ताल्लुकेदार राजा अमानसिंह गोटिया भी कोर्ट ऑव वॉर्ड्स की ओर से काशी ही में पढ़ने आये थे और यहीं छः वर्ष तक विद्याध्ययन कर सन् १८८० ई० में अपने राज्य को लौट गए थे। अपनी एक रचना 'मदनमंजरी नाटक' की भूमिका में वह लिखते हैं कि "श्रीयुत बा० हरिश्चन्द्र भारतेन्दु की बनाई हुई बहुत-सी पुस्तकें देखीं तो मन में उत्पन्न हुआ कि मैं भी बाबू साहब की सहायता से इस पुस्तक को प्रचलित करूँ। इस नाटक

के बनाने में हमारे बा० हरिश्चन्द्र ने बड़ा ही श्रम किया कि इसको शुद्ध करके प्रचलित करा दिया, उनको नमस्कार है।" तात्पर्य यह है कि अपने मित्र भारतेन्दु जी की नाटक रचनाओं को देखकर इन्होंने भी इस नाटक का निर्माण किया था। यह तथा राजकुमार जगमोहनसिंह, दोनों ही नाटक खेलने में भारतेन्दु जी के साथ पार्ट भी लेते थे।

विजयराघव गढ़ के राजकुमार ठा० जगमोहन सिंह कछवाहे क्षत्रिय थे। यह सन् १८६६ ई० में विद्याध्ययन के लिये काशी आए और सन् १८८० ई० तक यहीं रहे। इन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी आदि कई भाषायें सीखीं। भारतेन्दु जी से इनसे बहुत स्नेह हो गया और यह उनके सत्संग से मातृभाषा की सेवा में दत्त-चित्त हो गए। इनकी प्रकृति भारतेन्दु जी से कुछ मिलती-जुलती सी थी। दोनों मित्रों में परस्पर बहुत स्नेह हो गया था और वे बराबर मिलते रहते थे। मेघदूत की प्रस्तावना में यह लिखते हैं कि "मैंने अपने श्री बा० हरिश्चन्द्र जी की भी सहायता इसमें कहीं-कहीं ली है। हरिश्चन्द्र जी विख्यात भारत के कवि और नाटक के कर्त्ता हैं। उनका हृदय भावुक है और सरस कविता बड़ी अनूप होती है। और मैं समझता हूँ कि पश्चिमोत्तर देश क्या भारतवर्षीय कवि मुकुट के अलंकार हैं।" कालिदास के छोटे काव्यों का इन्होंने भी अनुवाद किया है। इन्होंने गद्य-पद्य दोनों ही लिखे हैं। एक प्रेम रस में दूसरा माधुर्य में डूबा हुआ है। विन्ध्याचल के पार्वत्य प्रांत में निवास करने के कारण इनका प्रकृति पर विशेष प्रेम था और इस कारण इनके गद्य-काव्य में प्राकृतिक शोभा का वर्णन बहुत अच्छा हुआ है। प्रेम-मार्ग के यह सच्चे पथिक थे। इनका श्यामा-स्वप्न प्रसिद्ध है। अन्य कई पुस्तकें भी लिखी हैं। इन लोगों के सिवा सूर्यपुराधीश राज राजेश्वर सिंह, बड़हर के राजा केशवशरण सिंह साह, छपरा के बा० देवीप्रसाद 'मसरक' आदि भी भारतेन्दु जी के सहपाठी थे।

देवरिया जिले के अन्तर्गत मझौली के राजा खड्गबहादुर मल विश्वेन वंशीय क्षत्रिय थे। इनका जन्म सं० १९१० वि० में हुआ था। इन्होंने तीव्र मेधाशक्ति के कारण पंद्रह सोलह वर्ष की अवस्था तक हिंदी, संस्कृत, फारसी तथा अंग्रेजी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। भारतेन्दु जी के यह मित्र थे पर अपने को उनका 'प्यारे शिष्य' लिखा है। इनके तथा इनके मडल के प्रभाव से यह हिंदी के प्रेमी तथा साहित्यसेवी हो गए। यह स्वयं गुणी तथा गुणग्राहक भी थे। इन्हीं के नाम से खड्गविलास प्रेस पटना खुला था और इन्हीं के कारण भारतेन्दु जी के ग्रंथ उक्त प्रेस से प्रकाशित होने लगे थे। उसके मालिक रामदीनसिंह जी से इन्हीं

के द्वारा भारतेन्दु जी से परिचय हुआ तथा जो बढ़कर मित्रता में परिणित हो गई। मल्ल जी 'लाल' उपनाम से कविता करते थे और यह अच्छे गद्य-लेखक तथा नाटककार भी थे। इन्होंने भी अवस्था कम पाई थी और छत्तीस वर्ष की अवस्था में मत हो गए। इन्होंने लगभग बीस रचनाएँ प्रस्तुत कीं, जिनमें सात-आठ नाटक हैं। इन्हीं के प्रोत्साहन से 'क्षत्रिय-पत्रिका' कई वर्षों तक निकली थी और इन्होंने कई सज्जनों को हिन्दो सेवा के लिए प्रेरित भी किया था।

मिर्जापुर निवासी पं० बद्रीनारायण उपाध्याय चौधरी (प्रेमघन) जी भी भारतेन्दु जी के अंतरंग मित्रों में से थे। इस मित्रता का आरम्भ सं० १९२९ वि० में हुआ था और इसका अंत तक पूरा निर्वाह भी हुआ। यह पहले उर्दू के प्रेमी तथा लेखक भी थे पर भारतेन्दु जी से परिचय होने पर यह भी मातृभाषा के अनन्य उपासक हो उठे। इनके लेख कविवचन-सुधा में छपने लगे। इन्होंने स्वयं आगे चलकर आनंदकादंबिनी मासिक पत्र तथा नागरीनीरद नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। प्रथम में यह प्राय: अपने ही सब लेख दिया करते थे, जिस पर एक बार भारतेन्दु जी ने इनसे कहा भी था कि "जनाब, यह किताब नहीं है कि जो आप अकेले ही इरक़ाम फर्माया करते हैं बल्कि अखबार है कि जिसमें अनेक जन-लिखित लेख होना आवश्यक है और यह भी जरूरत नहीं है कि सब एक तरह के लिक्खाड़ हों।" प्रेमघन जी अपने लेखों में लंबे-लंबे वाक्यों में पेंचीले मजमून बाँधते थे, जिससे उन्हें अपने लेखों को कई बार दुहराना पड़ता था। भारतेन्दु जी स्वभावत: अपने लेख कभी दुहराते नहीं थे, जिससे प्रेमघन जी उनके इस 'उतावलेपन' पर वहुधा कहा करते थे, कि "बाबू हरिश्चन्द्र अपनी उमंग में जो कुछ लिख जाते थे, उसे यदि एक बार और देखकर परिमार्जित कर लिया करते तो वह और भी सुडौल तथा सुन्दर हो जाता।" इन्होंने भारत सौभाग्य नाटक, हार्दिक हर्षादर्श आदि कई पुस्तकें लिखीं। समालोचना का इन्होंने एक प्रकार हिन्दी में आरम्भ कर बा० गदाधरसिंह की वंगविजेता तथा लाला श्री निवासदास के संयोगिता स्वयंवर नाटक की कठिन अलोचनाएँ लिखी थीं। यह भी अभिनय करने में भारतेन्दु जी का साथ देते थे।

पं० बालकृष्ण भट्ट जब कलकत्ते से लौट आए तब भारतेन्दु जी की पुस्तकें तथा कविवचन-सुधा पढ़ने से इनमें हिन्दी साहित्य सेवा की लगन उत्पन्न हो गई।

---

[1]भारतेन्दु जी के मित्रों के संबंध में इसी लेखक का 'भारतेन्दु-मंडल' देखिए।

इन्होंने कविवचन-सुधा, काशी पत्रिका और विहारबंधु में लेख देना आरम्भ किया। प्रयाग के कुछ विद्यार्थियों ने हिन्दी-वर्द्धिनी-सभा स्थापित की। भारतेन्दु जी ने इसके मेम्बरों के आग्रह से वहाँ जाकर एक व्याख्यान दिया और स्वयं उसके सभ्य हो गए। इसी सभा द्वारा निकाले गए एक प्रसिद्ध पत्र का इन्होंने 'हिन्दीप्रदीप' नामकरण किया और उसका शीर्ष पद (मोटो) भी स्वयं बना दिया था। उसके सहायतार्थ कविवचन-सुधा के ग्राहकों की नामावली भी भेज दी थी। भट्ट जी उस पत्र के संपादक थे और अपने को बा० हरिश्चन्द्र जी का अनुयायी कहते थे तथा उन्हीं की सी शुद्ध हिन्दी लिखने के प्रेमी थे। भारतेन्दु जी को भट्ट जी बहुत सन्मान की दृष्टि से देखते थे और वे भी कहा करते थे कि हमारे बाद दूसरा नंबर भट्ट जी का है। भट्ट जी प्रायः चालीस वर्ष तक हिन्दी की सेवा कर परमधाम को सिधारे थे।

पं० प्रतापनारायण मिश्र कानपुर-निवसी थे और इनमें हिन्दी-प्रेम भारतेन्दु जी की कविवचन-सुधा के लेखों के पढ़ने से अंकुरित हुआ था। यह लेखन-कला में भारतेन्दु जी को अपना आदर्श मानते थे और उन पर इनकी अपूर्व भक्ति थी। जब से बाबू साहब ने इनकी प्रेमपुष्पावली की प्रशंसाकर इनका उत्साह-वर्द्धन किया तबसे यह उन्हें बहुत मानने लगे। उस समय की इनको यह प्रशंसा मिश्र जी के लिये सुकवि और सुलेखक होने की उच्चत्तम सार्टिफिकेट हो गई थी। यह भारतेन्दु जी का बहुत कुछ कीर्तन करते तथा उन्हें आराध्यदेव मानते और पूज्यपाद तक लिखते थें। उनकी मृत्यु पर 'शोकाश्रु' नामक कविता लिखी थी। भारतेन्दु जी को महात्माओं के बराबर विशेषण देने से इनसे कुछ लोग आज तक रंज मानते हैं। ब्राह्मणों को, सरस्वती-क्षेत्र में इतर वर्णों का बढ़ना कभी सह्य नहीं है, यह परम्परा सी चली आती है। विश्वामित्र सहज ही में ब्राह्मण नहीं हुए थे। स्यात् सन् १८८३ ई० की बीमारी से भारतेन्दु जी के अच्छे होने पर इन्होंने तीस शेरों का एक कसीदा कह डाला था, जिसमें से दो-चार यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

बनारस की जमीं नाजाँ[1] है जिसी पाय बोसी[2] पर।
अदब से जिसके आगे चर्ख[3] ने गर्दन झुकाई है॥
वही महताबे[4] हिन्दुस्ताँ वही गैरतदिहे[5] नैयर[6]।
कि जिसने दिल से हर हिन्दू के तारीकी[7] मिटाई है॥

---

[1]आनंदित। [2]पैर चूमना,। [3]आकाश। [4]चन्द्रमा। [5]लज्जाकारक। [6]सितारा। [7]अंधकार।

बहुत लोगों का दावा है वतन की खैरख्वाही का।
कोई पूछे तो इनसे चाल यह किसकी उड़ाई है॥
उसे क्या कोई दिखलाएगा अपने खाम:[१] का जौहर[२]।
रसा[३] है खुद वो उसके जेहन[४] की वाँ तक रसाई है।

लाला श्रीनिवासदास मथुरा के रहने वाले थे पर दिल्ली में सेठ लक्ष्मीचन्द्र की कोठी के मुनीम होकर वहीं रहते थे। इन्होंने हिन्दी, उर्दू, फारसी, संस्कृत तथा अंग्रेजी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। यह बड़े व्यवहार-कुशल भी थे। यह भी छोटी ही अवस्था में मरे पर इसी बीच इन्होंने तप्ता-संवरण, संयोगिता स्वयंवर तथा रणधीर-प्रेम-मोहिनी नामक तीन नाटक और परीक्षागुरु उपन्यास लिखा है। यह मुहावरेदार बोलचाल की भाषा लिखते थे। तप्तासंवरण सन् १८७३ ई० में हरिश्चन्द्र मैगज़ीन में पहली बार छपा था पर उसको भारतेन्दु जी ने पसन्द नहीं किया, तब उसी सतीत्व-माहात्म्य पर सती प्रताप नाटक लिखने लगे थे। इनकी प्रथम रचना एक और थी, जो प्रह्लाद महानाटक नाम से बेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित हुई थी। यह नाटक ऐसा बना था कि यह स्वयं उसे अपनी रचना कहने में संकोच करते थे। यह भारतेन्दु जी ही के समान शीलवान् थे पर व्यवहार-दक्ष होने से इनकी रचनाओं में भी उसकी पूरी छाप है। भाषा बहुत संयत और बोल-चाल की है।

हिन्दी-हित साधन में अलीगढ़ निवासी बा० तोताराम ने भी भारतेन्दु जी का साथ दिया था। ये कायस्थ थे और इन्होंने बी० ए० तक पढ़कर कॉलिज छोड़ दिया था। पहले यह फतहगढ़ स्कूल के हेडमास्टर हुए और फिर काशी चले आए। यहाँ भारतेन्दु जी के सत्संग के कारण इनका हिन्दी-प्रेम बहुत बढ़ा। सन् १८७४ ई० में इनका पहला नाटक 'कीर्ति-केतु' हरिश्चन्द्र मैगज़ीन में क्रमशः प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त केटो कृतांत, स्त्री-सुबोधिनी, व्रजयात्रा आदि पुस्तकें लिखीं। अलीगढ़ में एक भाषा-संवर्द्धिनी सभा तथा लायल लाइब्रेरी स्थापित करने में प्रधान रहे। 'भारतबंधु' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी यह निकालते थे।

माधव संप्रदाय के गोस्वामी पं० राधाचरण जी में हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के लेख पढ़ कर मातृभाषा तथा देश के प्रति अनुराग और समाज-सुधार का भाव पैदा हुआ था। यह पहली बार जब अपने पिता के साथ काशी आए थे, जो

---

[१]लेखनी, कलम। [२]गुण, हुनर। [३]पहुँचा हुआ, सिद्ध। [४]बुद्धि।

पुराने विचारों के अनुगामी थे, उस समय इनका समाज-सुधार की ओर विशेष झुकाव हो रहा था और भारतेन्दु जी भी उस समय तक अंधविश्वासियों द्वारा नास्तिक कहे जाने लगे थे। गोस्वामी जी की भारतेन्दु जी से मिलने की अदमनीय आकांक्षा के मार्ग में उनके पिता विघ्न रूप हो रहे थे। वे यहाँ तक पुरानी रूढ़ि के महापुरुष थे कि यावनी भाषा के शब्द तक मुख से नहीं निकालते थे। आपने कहीं छूटती बंदूक का दृश्य देख लिया था, जिसका वर्णन कैसी अनूठी भाषा में आप करते हैं कि "काहू ने लौह नलिका में श्याम चूर्ण भरिकै अग्नि संस्कार कर दयौ तौ भड़ाम सो शब्द भयौ।" भला वे कैसे भारतेन्दु से प्रसिद्ध 'नास्तिक' से अपने पुत्र को मिलने देते। अंत में गोस्वामी राधाचरण जी ने पिता के शयन करने पर भारतेन्दु जी से मिलने का निश्चय कर उनसे यह संदेश कहलाया कि "कृपया हमारे आने के पहिले ही आप सोने न चले जाइएगा।" भारतेन्दु जी ने उत्तर भेजा कि "आप के पिता जब चाहें शयन करें, पर मैं बिना आप से मिले सो ही नहीं सकता।"*

वहाँ से लौट कर वे ज्यों ही कपड़े उतार कर सोने को उद्यत हुए कि इनके पिता ने जगकर और इन्हें पलंग पर न देख कर पूछा कि 'लल्ला किते गयो।' यह तुरन्त बोल उठे कि 'हम यहाँ बैठे हैं'। इस अभिसार की कथा स्वयं गोस्वामी

---

*विशाल भारत में श्री वियोगी हरि जी ने गोस्वामी राधाचरण जी के कुछ संस्मरण प्रकाशित किए हैं जिसमें से कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

"पिता जी के सो जाने पर रात को एक बजे एक दरवान को घूस देकर मिला लिया और एक जासूस के रूप में, खिड़की के राह घर से निकल भागा। उधर सहृदय हरिश्चन्द्र जी प्रतीक्षा कर रहे थे। हम दोनों बड़े प्रेम से मिले और लगभग डेढ़ घंटे तक साहित्य और समाज पर जी खोलकर बातें करते रहे।"

"उस रात की दो-एक बात तो याद होगी ही!" मैंने बीच में टोंक कर पूछा।

"हाँ, सुनो, एक बात याद है। बाबू साहब ने कहा कि ब्राह्म-समाज ने आर्य-संस्कृति पर आक्रमण अवश्य किया है, पर हमारे लुप्तप्राय प्राचीन साहित्य का प्रकाश भी उसने हमें दिया है। उसके प्रवर्तक राजा राममोहन राय निस्सन्देह एक असाधारण पुरुष थे। हमें ब्राह्म समाज से घृणा न करना

जी कहते थे। सं० १९३२ वि० में इन्होंने कवि-कुल-कौमुदी नामक एक सभा स्थापित की। इनमें ब्राह्म-धर्म की ओर रुचि हो चली थी और वे उस धर्म के पक्ष में लेख भी लिखने लगे थे। परन्तु भारतेन्दु जी के पत्र द्वारा विषय पर कटाक्ष करने से यह उस धर्म की ओर से विमुख हो गए। यह भारतेन्दु जी को 'दिव्यभगवत्विभूति' मानते थे और साहित्य क्षेत्र में इन्हें अपना गुरु स्वीकार किया है। भारतेन्दु जी भी अपने पत्रों में इन्हें बड़े आदर से साष्टांग दंडवत, प्रणाम आदि लिखते थे। एक पत्र का चित्र दिया भी गया है। लाहौर से गोस्वामी श्री ज्वालादत्तप्रसाद ने बा०हरिश्चन्द्र के उपनाम पर एक पत्र 'भारतेन्दु' सं०१९३८ वि० म निकाला था पर वह शीघ्र ही बन्द हो गया। उसी पत्र को गोस्वामी श्री राधाचरण जी ने बाद को वृन्दावन से प्रकाशित करना आरम्भ किया। इन्होंने बहुत सी पुस्तकें और लेख लिखे हैं।

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या शिक्षा पाने के लिए काशी आए। इनके पिता भारतेन्दु जी की कोठी में आया-जाया करते थे और उनके साथ यह भी कभी-कभी आते थे। समवयस्क होने से कुछ ही दिनों मे आपस में मित्रता हो गई और यह बराबर उनके यहाँ रहने लगे। पंड्या जी कहते थे कि हिन्दी भाषा के विद्वान् तथा रामायणी पं० बेचनराम जी प्राय: भारतेन्दु जी के यहाँ आते थे और हम लोगों को हिन्दी भाषा के तत्व बतलाते थे। अपने पिता की मृत्यु पर यह काशी छोड़ कर पहले बड़ौदा कमीशन में क्लर्क होकर गए और फिर उदयपुर में नौकर हुए। इसके अनंतर कृष्णगढ़ में दीवान भी हुए थे। इन्होंने अपने नाम

चाहिए। इसी प्रकार आर्यसमाज के द्वारा भी बहुत कुछ सामाजिक सुधार होने की हमें आशा है। आर्यसमाज ही अप्रत्यक्ष-रीति से सनातन-धर्म की रक्षा करेगा।"

"तब तो भारतेन्दु जी के बड़े उदार विचार थे।"

"फिर भी ए, वे अनन्य वैष्णव थे। बड़े ऊँचे भावुक और कृष्णभक्त थे।" यह कहते हुए गोस्वामी जी की आँखें डबडबा आईं।

"हरी जी, यह तो आप ने सुना ही होगा कि एक समय मैं पूरे तौर से ब्राह्म-समाज की ओर झुक गया था, भारतेन्दु जी ने ही मद्विषयक व्यंग्य-पूर्ण पत्र छपा-छपाकर मेरे ब्राह्म-समाज सम्बन्धी अन्ध-विश्वासों में परिवर्तन कराया था। हरिश्चन्द्र हरिश्चन्द्र थे, उनके स्थान की पूर्ति करने वाला मुझे तो अब तक कोई दिखाई नही दिया।"

पर 'मोहन चन्द्रिका' नामक पत्र निकालना चाहा और इसके विषय में भारतेन्दु जी को लिखा। भारतेन्दु जी ने अपनी पत्रिका उन्हें सौंप दी जिससे 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' पीछे से कुछ दिनों तक मोहन चन्द्रिका में सम्मिलित होकर निकलती थी। इन्होंने पृथ्वीराजरासो के दो समय का संपादन किया था तथा उसको असल सिद्ध करने के लिये 'रासो संरक्षा' हिन्दी और अंग्रेजी में लिखा था। यह हिन्दी तथा उर्दू दोनों ही में कुछ कविता भी करते थे।

काशी निवासी पं० सुधाकर द्विवेदी का जन्म सं० १९१७ को हुआ था। यह ज्योतिष तथा गणित के प्रसिद्ध विद्वान् थे। यह संस्कृत विद्यालय (क्वीन्स कालेज) में इन्हीं विषयों के अध्यापक हो गए। इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि भी मिली थी। यह भारतेन्दु जी के यहाँ बराबर आया करते थे और उनसे मित्रता भी हो गई। इस जीवनी में इनके सम्बन्ध में अनेक बार उल्लेख हो चुका है। यह कवि भी थे और हिन्दी की अच्छी सेवा की है। गणित सम्बन्धी कई ग्रन्थ इन्होंने हिन्दी में लिखा है तथा कई ग्रन्थों का संपादन भी किया है। नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापन में इनका सहयोग था और यह कई वर्षों तक उसके उपसभापति तथा सभापति रहे। दादूदयाल की बानियों का संपादन कर सभा से दो भागों में उसे प्रकाशित कराया था। इनकी मृत्यु सं० १९६७ में हो गई।

पं० दामोदर शास्त्री सप्रे पूना से काशी आए और यहीं इनके पिता, माता, स्त्री तथा पुत्र सभी का कैलाशवास हो गया। यह जीविका रहित हो रहे थे कि उसी समय श्री हरिदया से एक दिन पं० ढुंढिराज शास्त्री धर्माधिकारी मेरे मित्र ने मुझे एक नौकरी का हाल कहा और दूसरे दिन काशी-रत्न हिन्दी के एक मात्र आश्रय भारतभूषण भारतेन्दु श्रीयुत् बा० हरिश्चन्द्र के यहाँ मुझे ले गए और उनसे कहा। ढुंढिराज शास्त्री का यह वाक्य सुन प्रथम ही बाबू साहब ने मुझे कहा, "क्यों जी, हम जिधर झख मारते जाँयगे उधर सदा आपको भी हमारे साथ रहना पड़ेगा।" इस प्रकार यह डेढ़ वर्ष तक इनके यहाँ नौकर रहे। इसी बीच इन्होंने दूसरा विवाह किया, विवाह होने से व्यय बढ़ा, जिससे यह चिन्ता में रहते। बाबू साहब भी ऐसी ही चिन्ता में रहने लगे। अंततः बिहार के एक स्कूल में पंडित होकर सन् १८७४ ई० में वहाँ गए। इसके अनंतर बिहारबंधु के संपादक हुए पर वहाँ जब नहीं पटी तब पुनः भारतेन्दु जी के यहाँ लौट आए। यहाँ से पुष्कर होते श्रीनाथ जी गए और कई वर्ष वहीं सुखपूर्वक व्यतीत किया। इन्होंने यात्रा खूब की थी और उस विषय की कई पुस्तकें भी लिखीं। 'विद्यार्थी' पत्र भी संस्कृत में निकाला था जो बाद को मोहनचन्द्रिका में मिला लिया गया।

'मैं वही हूँ' नामक चौंसठ पृष्ठ की पुस्तक में इन्होंने अपना वृत्तांत लिखा है,जिसका एक उद्धरण ऊपर दिया गया है। इन्होंने मराठी तथा हिन्दी में भी कुछ पद लिखे हैं। इन्होंने लिखा है कि "मुझे बहुत-सा सांसारिक ज्ञान तथा अनुभव बाबू साहब के सत्संग ही से प्राप्त हुआ था।" भारतेन्दु जी की सम्मति से इन्होंने काशी में एक नाटक मडली खोली और कई नाटक तैयार किए थे। हरिश्चन्द्र मैगजीन में एक नोट इन्होंने लिखा है कि एक दिन पंजाब यूनिवर्सिटी के अध्यापक श्री पं० गुरुप्रसाद जी शिवकुमार जी को लेकर आए और बड़ी प्रशंसा की कि यह काव्य बहुत शीघ्र करते हैं। यह सुनकर 'चंद्रावली चुम्बति' यह समस्या बाबू साहब ने दिया और पं० शिवकुमार जी ने नीचे लिखे श्लोक बनाए—

चूतं वामलता निशा च शशिनं सिन्ध्वीश्वरं सिन्धुगाः।
स्वर्णाद्रिं वसुधा गिरीश मधुना योग हिताप्यम्बिका॥
आश्लिष्टेति विचिन्त्य पूर्व निखिलं सन्त्यज्य कान्तान्तरं।
प्रोन्मज्जन्मदनार्त्तिमहस्ति वहनी चन्द्रावली चुम्बति॥
आलोक्याद्य गृहे विभूषणचयैः सम्भूषिताङ्गीमिमां।
कन्या दिव्यविभूतिगर्व्वदमिनीं धातुः कृतो ख्यायिनीम्॥
प्रेम्णा स्वाङ्कगतां विधाय नितरां तृप्तिं नयान्तीचिरात्।
कामम्प्राप्यमिषेण हीनपतिका चन्द्रावली चुम्बति॥

और श्री बाबू हरिश्चन्द्र ने भी झटपट उसी समय एक श्लोक बनाया, वह भी पाठकों के आनन्दार्थ नीचे लिखते हैं :—

चन्द्रालोकमये चतुष्पथचये गन्धावहे मारुते।
चंचच्चालितचंचरीकनिचये चारु प्रमोदोदये॥
कूजत्कोकिल काकली कलकले कालिन्दिकाकूलके।
कुंजे केलि कलाऽकुलं प्रियतमं चन्द्रावली चुम्बति॥

डाक्टर राजा राजेन्द्रलाल मित्र (सन् १८२४-९१ ई०) प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता थे। यह पहले बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के सहायक कार्याध्यक्ष तथा पुस्तकाध्यक्ष नियत हुए और वहीं से इनमें पुरातत्वानुसंधान अंकुरित होकर पूर्ण विकास को पहुँचा। यह सन् १८५८ ई० में वॉर्ड्स इंस्टिट्यूट के डाइरेक्टर नियत हुए और उसके टूटने पर सन् १८७० ई० में इन्हें पेंशन मिली। इन्हें डी० एल०,सी० आई० ई० तथा राजा की पदवियाँ मिलीं। यह जब काशी आते थे तब बराबर भारतेन्दु जी से मिलते रहते थे। पहली वार जब यह इनके यहाँ आए तब इन्होंने

भारतेन्दु जी को दो-तीन बार उठकर भीतर जाते और कपड़े बदल कर आते देखा तो इनकी उन पर कुछ अश्रद्धा हो गई थी पर जब पुरातत्व पर बातचीत होने लगी और प्राचीन ग्रन्थों के इनके संग्रह को देखा तब वे इनके परम मित्र हो गए। पंड्या जी को उसी समय इन्होंने पुरावृत्तशिक्षा दी थी। श्रीमद्भागवत की प्राचीन हस्तलिखित प्रति को एशियाटिक सोसाइटी में ले जाकर भागवत के रचना-काल की प्राचीनता इन्हीं नें सिद्ध की थी। एक सौ अट्ठाइस जिल्दों में संगृहीत इनके लेखों ही से इनकी विद्वत्ता, परिश्रम तथा मननशीलता जानी जा सकती है। इन्हीं के द्वारा भारतेन्दु जी को उनके पुस्तकालय का एक लक्ष मूल्य भारत सरकार से मिल रहा था, पर जिसे उन्होंने नहीं दिया।

पं० गौरीदत्त व्यास के पुत्र पं० रामशंकर व्यास इनके अंतरंग मित्रों में से थे। यह एक योग्य विद्वान् तथा कार्यदक्ष पुरुष थे। यह हिन्दी के अच्छे लेखक तथा संस्कृत, फारसी, बंगला और गुजराती के अच्छे ज्ञाता थे। यह कुछ दिन कविवचन-सुधा के संपादक भी रहे और कई पत्रों में लेख दिया करते थे। यह स्वभाव ही से बड़े हास्यप्रिय थे। भारतेन्दु जी के यहाँ इनका बराबर आना-जाना था और उनके स्थापित सभी सभाओं के यह सभासद रहे। इन्होंने 'सारसुधानिधि' में बा० हरिश्चन्द्र जी को भारतेन्दु की पदवी प्रदान करने का प्रस्ताव किया था, जिसका हिन्दी जगत् ने बड़े आदर से समर्थन किया था। भारतेन्दु जी की मृत्यु पर इन्होंने 'चंद्रास्त' लिखा था, जिससे ज्ञात होता है कि उन्होंने अंत तक मित्रता निबाही थी।

रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर' का जन्म सं० १९१६ में काशी में हुआ था। इन्होंने बी० ए० तक की शिक्षा प्राप्त की थी पर उत्तीर्ण नहीं हुए थे। संस्कृत में इनका अच्छा ज्ञान था। भारतेन्दु जी से इनकी घनिष्ठता थी और इनके प्रेस तथा पत्र का भारत जीवन नामकरण उन्होंने किया था। इस प्रेस ने हिन्दी की उस समय बहुत सेवा की थी। शतरंज तथा ताश के खेलों में यह बड़े कुशल थे। यह अत्यन्त सभाचतुर थे तथा अनेक रजवाड़ों में इनका आना-जाना था। कवि समाजों में यह प्रायः जाते तथा अपनी कविता सुनाते थे। भारतेन्दु मंडल के प्रायः सभी लोगों से इनका परिचय था। सं० १९६३ में इनकी मृत्यु हुई। इन्होंने कई कविता-पुस्तकें लिखी हैं और कई नाटकों का बँगला से अनुवाद किया है। ठग वृत्तांतमाला तथा अकबर का अंग्रेजी से और अमलावृत्तांतमाला तथा संसारदर्पण का उर्दू से अनुवाद किया है। सोमदेव के कथासरित्सागर के दस भाग का इन्होंने अनुवाद किया था

पर इसे पूरा नही कर सके। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और कविता भी बड़ी सुन्दर करते थे।

पं० रामेश्वरदत्त सरयूपारीण ब्राह्मण थे। यह क्वीन्स कालेज में अध्यापक थे। यह भारतेन्दु जी के यहाँ बराबर आते-जाते थे और उनके परम मित्र थे। उनके साथ यह यात्रादि में भी जाते थे। एक बार जब भारतेन्दु जी कलकत्ते जा रहे थे, तब वह इन्हें क्वीन्स कॉलिज के प्रधानाध्यापक श्रीयुत प्रमदादास मित्र से कहकर स्टेशन तक साथ चलने के लिए वहाँ से लिवा गए। वहाँ पहुँचने पर उन्हें भी कलकत्ते साथ चलने के लिए बाध्य किया। वहाँ इन दोनों सज्जनों के पास जो कुछ नगद था, वह व्यय हो गया। दत्तजी के कलकत्ते में बहुतेरे शिष्य थे और उन लोगों से जो कुछ प्राप्त हुआ था, वह भी भारतेन्दु जी ने लेकर व्यय कर डाला। पंडित जी कलकत्ते ही में भारतेन्दु जी के मित्र एक जौहरी के यहाँ ठहर गए और जो कुछ वस्त्रादि उन्हें दान में मिले थे, उसे उन्होंने भारतेन्दु जी को अपने घर भेजवा देने के लिये दे दिया था पर यह सब भी मार्ग ही में विनरित हो गया। जब प० रामेश्वर दत्त जी कलकत्ते से लौटे तब बाबू साहब उनको लेने के लिए स्टेशन गए और उन्हें अपने यहाँ लिवा लाए। वे जो कुछ और वहाँ से लाए थे, वह भी यहाँ बट गया और इस प्रकार इनके ढाई तीन सौ रुपये के सामान इन्होंने व्यय कर डाले। प्रायः एक वर्ष बाद इन पंडित जी के सामने ही कहीं से कई सहस्र रुपये आए थे, जिसमें से दो सहस्र के नोट भारतेन्दु जी ने इनके खलीते में रख दिए। जब इन्होंने घर पर जाकर उन्हें देखा तब इनके पास आकर उन नोटों के विषय में पूछने लगे। भारतेन्दु जी ने उत्तर दिया कि कलकत्ते की यात्रा का जो कुछ बाकी था, वही यह है।

भारतेन्दु जी के पिता सभासद तथा भारतेन्दु जी के शिक्षक पं० ईश्वरीप्रसाद जी तिवारी के पुत्र पं० शीतलाप्रसाद जी त्रिपाठी प्रसिद्ध पंडित तथा संस्कृत कालेज में साहित्य के प्रधान अध्यापक थे। इन्होंने जानकी-मंगल नाटक बनाया था। सावित्री-चरित्र नामक एक पुस्तक भी गद्यमय लिखी है। हिन्दी व्याकरण के यह अच्छे ज्ञाता थे। प्राचीन लिपियाँ पढ़ने में भी यह अधिक कुशल थे। भारतेन्दु जी ने यह विद्या इन्हीं के सत्संग से सीखी थी और इन्हें साथ लेकर पाँच-छः मास में काशी के मंदिरों, घाटों आदि के बहुत से लेख पढ़े और संग्रह किए थे।

मिस्टर फ्रेडरिक पिन्कॉट का जन्म सन् १८३६ ई० में हुआ था। इन्होंने भारतीय भाषाओं में सबसे पहले संस्कृत बाद में उर्दू, गुजराती, बँगला, तमिल, तैलंगी, मलायलम और कन्नड़ भाषाओं के सीखने पर हिन्दी का अध्ययन किया था

पर इसकी ओर इनका ऐसा अनुराग बढ़ा कि वे इस भाषा के पाठक, लेखक तथा कवि तक हो गए। इनकी मृत्यु, फरवरी सन् १८९८ ई० में हुई। यह उत्तम हिन्दी पुस्तकों की समालोचना अंग्रेजी पत्रों में देते थे। भारत के यह शुभचिंतक थे और अनेक भारतीय विद्वानों से इनकी मित्रता थी। भारतेन्दु जी से इनका बहुत स्नेह था और उनसे बराबर पत्र व्यवहार रहा करता था। भारतेन्दु जी के स्वर्गवास होने पर यह भारतवर्ष में आए और यहीं लखनऊ में इनका देहान्त हुआ। इन्होंने भारतेन्दु जी की प्रशंसा में जो एक छंद बनाकर उनके पास भेजा था वह यहाँ पर प्रकाशित किया जाता है। "जिससे हमारे देशीय लोग देखकर लज्जा करें कि अंग्रेज हो कर लोग हिन्दी भाषा में इतना अनुराग रखते हैं और इस देश के लोग प्राय: इस भाषा से विरक्त रहते हैं।"

वैस वंस अवतंस, श्री बाबू हरिचन्द जू।
छीर नीर कलहंस, टुक उत्तर लिख देव मोहि॥

पर उपकार में उदार अवनी में एक, भाषत अनेक यह राजा हरिचन्द है।
विभव बड़ाई बपुबसन बिलास लखि, कहत यहाँ के लोग बाबू हरिचन्द है॥
चन्द वैसो अमित अनन्दकर भारत को, कहत कविन्द यह भारत को चन्द है।
कैसे अब देखैं, कोबतावै, कहाँ पावैं, हाथ कैसे वहाँ आवैं हम कोई मतिमन्द है॥

श्रीयुत सकल कविंद कुल, नुत बाबू हरिचन्द।
भारत हृदय सतार नभ, उदव रहो जनु चन्द॥

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का जन्म सन् १८२० ई० में हुआ था। सन् १८४० ई० में परीक्षाएँ पास कर यह विद्यासागर उपाधि से विभूषित हुए। अध्यापनकार्य में उन्नति करते हुए यह पाँच सौ मासिक वेतन पाने लगे थे, पर सन् १८५७ ई० में डाइरेक्टर से मनमुटाव होने के कारण इन्होंने वह कार्य त्याग दिया और स्व-भाषा तथा विद्या-प्रचार में दत्तचित्त हो गए। भाषा के लिए इन्होंने इतना कार्य किया था कि वे बंगला साहित्य तथा साधु भाषा के गुरु कहलाए। २९ जुलाई सन् १८९१ ई० में इनकी मृत्यु हुई और इनके स्मारक में मेट्रोपॉलिटन कालेज बनवाया गया। इनके तथा भारतेन्दु जी के बीच अधिक स्नेह था और दोनों ही एक पथ के पथिक थे। एक दूसरे की विलक्षण प्रतिभा, मान, भाषा-भक्ति तथा देश-हित कार्य को अच्छी प्रकार जानते थे। दोनों ही सज्जन अपनी-अपनी आधुनिक भाषाओं के जन्मदाता थे। विद्यासागर के काशी आने और भारतेन्दु जी से भेंट करने का उल्लेख हो चुका है। इनकी माता भी काशीवास करने के लिये

साथ आई थीं और विद्यासागर जी उन्हें भारतेन्दु जी ही की संरक्षा में यहाँ छोड़ गए थे। एक बार जब विद्यासागर एक मंदिर में दर्शन करने गए और वहाँ के पंडे इनसे प्राप्त धन से संतुष्ट न होकर इन्हें कोसने लगे कि "तुमने हमारी सेवा नहीं की इससे तुम्हारी यात्रा सुफल न होगी और देवता तुमसे असंतुष्ट रहेंगे" तब विद्यासागर जी ने शांति से उत्तर दिया था कि "भाई, तुम्हारी सेवा से माता-पिता की सेवा बढ़कर है और यदि देवादिदेव इनकी सेवा से प्रसन्न न होंगे, तो तुम्हारी सेवा से नहीं हो सकते।" विद्यासागर के कलकत्ते जाने के बाद एक दिन भारतेन्दु जी उनकी माता को देखने गए और उनके हाथ में चाँदी की चूड़ी देख कर उनसे कहा कि "माता, विद्यासागर से दानवीर महान् आत्मा की माता के हाथ में सोने की जगह ये चाँदी की चूड़ियाँ नहीं शोभा पातीं।" माता ने यही उत्तर दिया कि "पुत्र, हाथों की शोभा सोने की चूड़ियों से नहीं है, दीन दरिद्रों को भोजन बनाकर खिलाने से है।" विद्यासागर के दौहित्र तथा 'साहित्य' के सम्पादक स्वर्गीय पं० सुरेशचन्द्र समाजपति स्वभाषा के प्रसिद्ध समालोचक और साहित्यमर्मज्ञ थे। वे कहते थे कि उनके मातामह अपनी रचित 'शकुन्तला' को भारतेन्दु जी को समर्पित करने ही के लिए काशी गए थे। विद्यासागर जी भी 'शकुन्तला' की भूमिका में भारतेन्दु जी के विषय में उतना लिखकर नहीं रह गए प्रत्युत् उस ग्रन्थ को उन्होंने भारतेन्दु जी को समर्पित भी किया था। यह समर्पण उसके प्रथम संस्करण में मौजूद है। बाद के संस्करणों में प्रांतीयता की बू के कारण प्रकाशकों ने उसे नहीं रहने दिया।

निजामाबाद (आजमगढ़) निवासी तथा सिक्ख सम्प्रदाय के तीसरे गुरु के वंशज बाबा सुमेरसिंह साहिबजादे काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे और धर्म के तत्वों के भी अच्छे ज्ञाता थे। सन् १८८५ ई० में यह पटना के हरिमंदिर के महन्त बनाए गए, जिसका इन्होंने बहुत कुछ जीर्णोद्धार कराया था। यह सन् १६०३ ई० में स्वर्गवासी हुए। भारतेन्दु जी से इनसे बनी मित्रता थी। मिलने पर इन दोनों सज्जनों में धर्म तथा काव्य पर ही विशेष वार्तालाप होती थी। भारतेन्दु जी स्वभावानुसार अपनी प्रायः सभी रचनाएँ इनके पास भेजते थे और उन्हें पढ़कर उधरवाले कितने सज्जन हिन्दी-प्रेमी हो गए।

मुंशी ज्वालाप्रसाद वकील भी इनके घनिष्ट मित्रों में से थे। इनके पितामह कुंजबिहारी लाल आरे से काशी आकर बस गए। इनके पुत्र लाला मानराय थे। इन्होंने अपने परिश्रम से कुछ पढ़कर फौजदारी में मुख्तारी करना शुरू किया और

बा० हर्षचंद्र के यहाँ नौकरी भी कर ली। बाद को इन्होंने वकालत पास किया और मुन्सिफ होगए। सन् १८५३ ई० में सदर गए। थोड़े दिनों बाद सरकारी वकील हो कर यहाँ लौटे और बहुत धन उपार्जन कर मकान तथा गाँव खरीदा। यह बड़े उदार थे। सन् १८७१ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इनके पुत्र लाला ज्वालाप्रसाद भी प्रसिद्ध वकील थे। भारतेन्दु जी कभी-कभी इनके यहाँ सुबह जाया करते थे और प्रायः दिन भर व्यतीत कर शाम को घर लौटते थे। लाला साहब यद्यपि नामी वकील थे और मुवक्किल उन्हें घेरे रहते थे पर इनके पहुँचने पर वे सब काम छोड़कर इन्हीं से बातचीत करने में लग जाते थे। यहाँ तक कि वे कचहरी भी न जाते थे। इन्हीं मुंशी जी ने स्यात् 'कलिराज की सभा' लिखी थी।

इनके अग्रवाल मित्रों में बा०बालेश्वर प्रसाद बी०ए०, बा० जगन्नाथ दास जी 'रत्नाकर' बी० ए० के पिता बा० पुरुषोत्तमदास, बा० केशोराम, बा० माधोदास आदि प्रधान थे। इन मित्रों की गोष्ठी प्रायः बा० बालेश्वर प्रसाद के निवास-स्थान नार्मल स्कूल में या बा० केशोराम के दुर्गाकुंड-स्थित बाग में हुआ करती थी। ये लोग प्रायः समवयस्क थे और इस प्रकार की बैठकों में इन लोगों में आपस में खूब हँसी-मजाक होता था।

बा० बालेश्वर प्रसाद पहले नार्मल स्कूल के हेडमास्टर थे। बाद को डिप्टी कलक्टर और फिर काशीनरेश के दीवान नियुक्त हुए। यहाँ से प्रयाग के बोर्ड ऑव रेवेन्यु के सेक्रेटरी नियुक्त हुए, जो पद उस समय तक अंग्रेजों ही के लिये निश्चित था। इन्होंने 'काशीपत्रिका' नामक समाचार पत्र भी निकाला था, जो शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत हुआ था। इन्होंने 'वेनिस का सौदागर' नाम से शेक्सपिअर के 'मर्चेंट ऑव वेनिस' का अनुवाद कर अपनी पत्रिका में छापा था। इन्हीं के कहने पर भारतेन्दु जी ने 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक की रचना की थी। बा० पुरुषोत्तमदास जी के विषय में उनके पुत्र 'रत्नाकर' जी का उल्लेख कर देना ही जिस प्रकार अलं है, उसी प्रकार बा० माधोदास जी के संबंध में इतना ही लिख देना बहुत है कि उन्हीं के पुत्रगण बा० गोविंददास जी, भारतरत्न डा० भगवानदास जी एम० ए०, डी० लिट्, बा० राधेचरण जी और बा० सीताराम जी हैं। बाबू केशोराम जी शिवाले महल्ला के रईस थे और भारतेन्दु जी से इनकी कितनी घनिष्ट मित्रता थी, इसके उदाहरण-स्वरूप इनके पास एक एलबम है जिसमें भारतेन्दु जी की विभिन्न अवस्थाओं तथा अनेक प्रकार के वस्त्र आदि से विभूषित प्रायः पैंतीस फोटोग्राफ हैं। इनके चित्रों का ऐसा सुन्दर संग्रह और कहीं नहीं है।

बा० केशोराम के पौत्र बा० राधाकृष्णदास जी बी० ए० की कृपा ही से वे चित्र आज पाठकों को देखने के लिये मिले हैं।

सब के अंत में बा० राधाकृष्णदास जी का परिचय दिया जाता है, जो भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई और सदा साथ रहने वालों में से थे। एक बार भारतेन्दु जी के पिता बा० गोपालचन्द्र जी को इनके पिता बा० कल्याणदास जी ने गंगा जी में एकाएक डूबने से बचाया था, जिससे दोनों में गहरी मित्रता हो गई थी। सन् १८६५ ई० में बा० राधाकृष्णदास जी का जन्म हुआ। दूसरे ही वर्ष इनके पिता की मृत्यु हो गई और यह अपनी माता जी के साथ भारतेन्दु जी के गृह ही में रहने लगे। भारतेन्दु जी का इन पर वात्सल्य स्नेह था और वह इन्हें बच्चा कह कर पुकारते थे, जिससे इनका दूसरा नाम 'बच्चा बाबू' हो गया था। इन्हें शिक्षा देने का भारतेन्दु जी स्वयं ध्यान रखते थे। भारतेन्दु जी की कन्या श्रीमती विद्यावती, जो इस जीवनी-लेखक की माता थीं, इनसे बहुत हिली-मिली थीं। ये लोग एक-दूसरे को कभी-कभी चिढ़ाया भी करते थे। इस कार्य के भी भारतेन्दु जी ही उत्तेजक थे। उन्होंने इन लोगों को परस्पर चिढ़ाने के लिये दोहे बना दिये थे। बा० राधाकृष्णदास स्वर्गीया विद्यावती देवीको यह कह कर चिढ़ाते थे—

विद्या तुम्हरे नाम पै, मूरखता की खानि।
पढ़त लिखत कुछ नाहिं तुम, निज सरूप पहिचानि॥
विद्या विद्या नहिं पढ़े, तो झूठो है नाम।
तासों तोहि पढ़नो उचित, छोड़ि और सब काम॥
सरस्वती की ह्वै बहिन, विद्या नाम कहाइ।
पढ़ति नहीं खेलत फिरत, नीचे ऊपर धाइ॥
विद्या तुम धूमिन भई, खात बहुत हौ पान।
जात नहीं इस्कूल को, बात लेति नहिं मान॥

उत्तर में ये भी उन्हें यह कह कर चिढ़ातीं—

कक्का तुम इतने बड़े, ढोढक भये सयान।
पै कुछ भी अक्किल तुम्हें, आई नहीं सुजान॥
हिन्दी की चिन्दी करी, अँग्रेजी की धूर।
लगे पढ़न अब फारसी, आयो कछु न सहूर॥

भारतेन्दु जी के सत्संग से इनमें हिंदी-प्रेम जागृत हुआ और उनकी रुचि के अनुकूल ही इनमें भी इतिहास, नाटक, साहित्य आदि के प्रति विशेष प्रेम होगया। "बा० हरिश्चन्द्र के सुयश-सौरभ के प्रसार का इनको बड़ा ध्यान रहता

था। वास्तव में यदि ये उदय काल ही से वायु के समान चंचल होकर समय-समय पर भ्रमरूपी मेघों को न छाँटते रहते तो भारतेन्दु की शीतल किरणें बहुतेरे अंधकारमग्न हृदयों में न पहुँचतीं।" वही दशा अब आज-कल कुछ-कुछ हो रही है। कुछ सज्जन स्वयं 'भारतेन्दु' बनने की इच्छा से अपने तिमिराच्छादित हृदय की कालिमा लगाकर इन्हें सकलंक करना चाहते हैं और कुछ अपनी कविता ही की प्रशंसा करने में इतने मग्न रहते हैं कि दूसरों के गुणों को स्वीकार करना दूर, उन पर आक्षेप करना ही उनका धर्म हो गया है। जो कुछ हो, भारतेन्दु जी की मृत्यु को पचहत्तर वर्ष होते आए पर अभी तक हिन्दी साहित्य का दसवाँ रत्न नहीं उत्पन्न हुआ है।

दान की स्फुट वार्त्ता

भारतेन्दु जी की बहिन श्रीमती मुकुन्दी बीबी अपने पति की मृत्यु पर तथा उस वंश में किसी के न रहने के कारण अपने पितृ-गृह में चली आई थीं। इसके कुछ दिनों अनन्तर एक भारी जायदाद ठठेरी बजार का ठाकुरद्वारा श्री माधो जी के वंश वालों ने क्रय किया था। इस क्रय-विक्रय के मध्यस्थ भारतेन्दु जी ही थे और जब इसका कमीशन, जो सात सहस्र के लगभग था, मिला तो उसे उन्होंने अपने एक जाति-भाई बा० झब्बू लाल को दे डाला जो उस समय कुछ अर्थ-कष्ट में थे और जिन पर भारतेन्दु जी की कृपा रहती थी।

नन्दकिशोर लाल रोड़ा नामक एक युवक सज्जन ने जब भारतेन्दु जी के यहाँ पहले-पहल आना शुरू किया तब एक दिन इन्होंने उनसे कहा कि यदि तुम हमारे यहाँ आना-जाना बनाए रखना चाहते हो तो कविता किया करो। दूसरे दिन इन्होंने प्रयत्न करके एक दोहा-सा तैयार किया और ले जाकर इन्हें सुनाया। उनका उत्साह बढ़ाने के लिए भारतेन्दु जी ने उन्हें कुछ रुपये पुरस्कार दिए तथा प्रशंसा कर इसी प्रकार प्रयास करते रहने के लिए उत्साहित किया।

मैनपुरी-निवासी पं० काशीनाथ चतुर्वेदी नामक एक सज्जन, जिन्हें सहस्रों कवित्त कंठाग्र थे, कुछ दिन काशीवास करने के लिये यहाँ आए थे। यह भारतेन्दु जी के यहाँ, जब तक काशी में रहे, आश्रित होकर रहे थे। साधारण कविता भी करते थे पर इनकी विशेषता यही थी कि अच्छे-अच्छे सुकवियों की चुनी हुई कविताएँ पढ़ कर श्रोताओं का मनोरंजन करते थे। जब तक यह इनके यहाँ रहे, इनका कुल व्यय भारतेन्दु जी अपने पास ही से देते रहे।

एक दिन भारतेन्दु जी के यहाँ कवि-सभा लगी हुई थी। किसी ने समस्या रूप में एक मिसरा पढ़ कर उसकी पूर्ति चाही। मिसरा यों है:—

"कपड़ा जला के अपना लगा आग तापने।"

भारतेन्दु जी ने उपस्थित सज्जनों की ओर देखा। उनमें एक अल्पवयस्क विद्यार्थी भी था, जिसने उसे पूरा करने की आज्ञा माँगी। आज्ञा मिलने पर उसने कहा कि:—

ऐसा भी चूतिया कहीं देखा है आपने।
कपड़ा जला के अपना लगा आग तापने॥

भारतेन्दु जी उस बालक पर अति प्रसन्न हुए और दस रुपये पुरस्कार देकर कहा कि "तुम में कवित्व शक्ति का बीज है, धीरे धीरे अभ्यास करते रहो, कभी सुकवि हो जाओगे।"

एक वृद्ध सज्जन, जो भारतेन्दु जी के यहाँ बहुत आते-जाते थे, कह रहे थे कि एक बार उनके एक नौकर ने भाजी लाने के लिये हमसे चार आने पैसे माँगे। इसका कारण पूछने पर उसने उत्तर दिया कि बाबू साहब के पास इस समय पैसे नहीं है। उक्त सज्जन को न मालूम क्या सूझी कि यह भारतेन्दु जी के पास पहुँचे और उनसे कहने लगे कि "इस प्रकार की बातों से हुजूर की बड़ी बदनामी होती है। यदि हुकुम हो तो हम रोज पूरा सामान हुजूर की खिदमत में भेज दिया करें, जिसमें किसी को कुछ मालूम न हो।" भारतेन्दु जी इन पर यह सुनते ही बहुत बिगड़े और जो न कहने को था वह भी कह डाला। यह बेचारे खैरख्वाही दिखलाने गए थे, अपना-सा मुँह लेकर लौट आए। दो दिन बाद भारतेन्दु जी ने इनको पत्र लिख कर बुलवाया और उन्हें दस सहस्र नोट दिखला कर कहा कि "तुम बड़े लालची आदमी हो, इससे हम इसे तुम्हें दे रहे हैं, आज ही अभी यह आया है, तुम झटपट इसे ले जाओ, नहीं तो बचेगा नहीं।" उक्त सज्जन ने शर्मा कर उसे ले जाने से इन्कार कर दिया, तब उन्होने कहा कि "अच्छा, जाओ भैया से कह दो कि कुछ रुपया आया है, लेना हो तो ले जायँ, उन्हें भी रुपये की जरूरत रहती है।" उक्त सज्जन बाबू गोकुलचन्द्र जी के पास खबर देने गए, जो स्नानादि से निपट कर पूजा ध्यान कर रहे थे। यह सुन कर तथा संध्या पूजा निपटा कर बा० गोकुलचन्द्र जी जब बड़े भाई के पास पहुँचे, तो उस समय तक साढ़े छः सहस्र के नोट बचे थे जिसे वे ले आए। उतने ही बीच में साढ़े तीन सहस्र स्वाहा हो चुका था।

"बा० हरिश्चन्द्र के प्रयत्न से फ़ांस की दुखियाओं के हेतु एक चंदा हुआ है, निश्चय है कि हमारे ग्राहक लोग भी यथाशक्ति इच्छानुसार इस चंदे में सहायता करेंगे। यह चन्दा प्रोफेसर गार्साँ द तासी द्वारा फ्रांस भेजा जायगा।" यह सूचना

तत्कालीन एक पत्रिका से यहाँ उद्धृत को गई है जिससे यह ज्ञात होता है कि भारतेन्दु जी अन्य देश के निवासियों के कष्ट-निवारण का भी प्रयत्न करते रहते थे।

बा० रामकृष्ण वर्मा कहा करते थे कि एक बार एक सज्जन भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी के यहाँ आए और अपने को कवि बतलाते हुए उनसे कुछ आर्थिक सहायता चाही। यह कहने पर कि अपनी कुछ कविता सुनाइए, आप ने निम्न-लिखित तीन पंक्तियाँ कह डालीं:—

१—कोऊ एक पापी हर नाम न जापी, सो मग्गह में मर गयी।

२—गंगाजी की बालू बरबस उड़ी बयार ताके कोटानि कोटपाप तरि गयो।

३—मुख सुन्दरी खिलावे पान गुण के निधान सो विमान चले जाते हैं।

भारतेन्दु जी यह सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और उस अर्थी को सौ रुपए पुरस्कार देकर बिदा किया।

एक बार कहीं मजलिस में भारतेन्दु जी बैठे हुए थे और शीतला के दागों से युक्त कोई वेश्या गान कर रही थी। किसी उपस्थित सज्जन ने भारतेन्दु जी से वेश्या को लक्ष्य करके कहा कि हुजूर इस चेचक-रूप पर कुछ कविताएं बनाएं तो अत्युत्तम हो। भारतेन्दु जी ने कहा कि "भाई, अभी तो एक शेर बन गया है, उसे सुन लो, कवित्त सवैया फिर बनेगी" यह कह कर निम्नलिखित शेर पढ़ा:—

रुखे आईना वश पर दिल तो जा-जा कर फिसलता है।
खुदाई दाग चेचक से जरा ठहराव मिलता है।।

एक सज्जन अपने पिता के पुराने ख्यालात के कारण अंग्रेजी न पढ़ कर फारसी ही का अध्ययन किया करते थे। एक दिन भारतेन्दु जी के सामने किसी अन्य सज्जन ने उनसे कहा कि तुम अंग्रेजी क्यों नहीं पढ़ते, फारसी पढ़ कर क्या करोगे? भारतेन्दु जी ने उत्तर दिया कि "इनके उम्र वाले पुरुष के लिये अब एक ही विषय में योग्यता प्राप्त कर लेना उचित है, कई विषयों का अपूर्ण ज्ञान रखना अच्छा नहीं" यह कहकर उन्होंने फारसी का एक शेर पढ़ा:—

कस्बे कमाल कुन कि अजीजे जहाँ शवी।
कस्बे कमाल हेच न अर्जद अजील मन।।

(अर्थ—किसी हुनर को पूर्ण रूप से प्राप्त करो जिससे लोकप्रिय हो। ऐ मेरे प्रिय! अपूर्ण विद्यावाला कुछ भी नहीं कमा सकता।)

एक दिन भारतेन्दु जी के छोटे भाई गोकुलचन्द जी ने इनसे कहा कि दीवानखाने का बड़ा शीशा, जो कॉरनिस पर रक्खा हुआ है, उसके नीचे का अंश कुछ दूर तक न मालूम कैसे चटक गया है। भारतेन्दु जी ने उत्तर दिया कि कॉरनिस पर किसी नौकर ने जलती बत्ती रख दी होगी, जिसकी गर्मी पाकर शीशा चटक गया होगा। यह सुन कर बा० गोकुलचन्द जी ने कहा कि नौकरों पर अवश्य जुर्माना करूँगा, ये सब इसी तरह चीजें नष्ट कर देते हैं। भारतेन्दु जी ने कहा कि भाई, इससे क्या फायदा होगा। हर एक वस्तु का नाश अवश्यंभावी है, इसमें किसी का दोष क्या? इसके अनन्तर उन्होंने वाल्मीकीय रामायण का एक श्लोक पढ़ा था, जिसका आशय यह है कि जो वर्तमान है उसका अवश्य नाश होगा।[1]

एक बार भारतेन्दु जी ने दो मनुष्यों की उदारता तथा उच्चाशयता का वर्णन किया था, जिसमें एक तो मुसलमान कवि ख्वाजा वजीर थे और दूसरे पटना के कोई कमिश्नर साहब थे। वे कहते थे कि ख्वाजा वजीर जब अपना दीवान अपने उस्ताद 'नासिख' को दिखलाने के लिये ले गए, तब उसे देखने के अनन्तर उनके मुख से अनायास ही एक आह निकल गई, जिससे ख्वाजा साहब ठक्क से हो गए। उन्होंने उस्ताद से इस ठंडी साँस लेने का कारण पूछा, जिस पर उन्होंने उत्तर दिया कि तुम्हारा दीवान इतना उत्तम बना है कि शायद ही अब कोई मेरे दीवान को देखेगा। ख्वाजा ने उस दीवान को अपने उस्ताद के हाथ से लेकर यह कहते हुए फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर डाला कि जिस चीज से उस्ताद को रंज पहुँचे उसे मैं नहीं रख सकता। ख्वाजा की मृत्यु पर उनके मित्रों तथा शिष्यों ने उनके गजलों का संग्रह कर उसे 'दफ्तरे-फ्साहत' नाम से प्रकाशित किया था। दूसरे सज्जन पटना के कमिश्नर थे, जिनके एक मित्र और कृपापात्र उसी जिले के एक बड़े रईस थे। एक दिन वह कमिश्नर साहब से मिलने आए। यह बैठे ही हुए थे कि कुछ देर के बाद कमिश्नर यह कहकर दूसरे कमरे में चले गए कि मैं अभी आता हूँ। वहीं टेबुल पर एक बहुत कीमती जेबी घड़ी रक्खी हुई थी, जो समय पर अलार्म भी देती थी। होनहार वश बाबू साहब ने वह घड़ी चुपके से उठा कर अपने जेब में रख ली और साहब से बिदा होकर बाहर निकले। जब वे ड्योढ़ी पर पहुँचे तब

---

१. सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
—अयोध्याकांड सर्ग १०५ श्लोक १६

दैवात् एकाएक उस घड़ी का अलार्म बजने लगा। इससे पहरेवालों को शक हुआ और उन लोगों ने जब इनकी तलाशी ली तब यह निकल आई। इधर यह शोर-गुल सुन कर साहब बाहर निकल आए और कुल वृत्तांत सुन कर नौकरों पर बेतरह बिगड़े कि "इस प्रकार सज्जनों के साथ दुर्व्यवहार करना होता है, यह घड़ी तो मैंने खुद बाबू साहब को भेंट दी थी, उसे झट उन्हें लौटा दो।" उन सबों को इस प्रकार डाँट कर बाबू साहब से कहने लगे कि "आप ने पहले ही इन सब उजड्डों से क्यों नहीं कह दिया कि मुझे यह घड़ी भेंट में मिली है।"

किसी हिन्दी प्रेमी धनाधीश ने एक विद्वान् पंडित से यह कहा कि यदि आप हिन्दी व्याकरण प्रस्तुत कर दें तो हम आपको पाँच सौ रुपए पुरस्कार देंगे। उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया और व्याकरण लिख कर उनके पास ले गए। उक्त सज्जन ने उसे देखकर कहा कि यदि भारतेन्दु जी इसे पसंद कर लेंगे तो हम तुरंत आपको पुरस्कार दे देंगे क्योंकि हम इस विषय के ज्ञाता नहीं हैं। पंडित जी ने भी इसे स्वीकार कर लिया और उनके साथ भारतेन्दु जी के यहाँ गए। वहाँ दरबार लगा था और ये दोनों भी प्रणाम-नमस्कार के अनंतर एक ओर बैठ गए। उक्त सज्जन ने अपने आने का तात्पर्य बतलाया तथा व्याकरण की पांडुलिपि उनके सामने रख दी। भारतेन्दु जी ने उस प्रति को उठाकर इधर-उधर देखा और दूसरों से बात करने लगे। कुछ देर के अनंतर उक्त रईस ने पुनः भारतेन्दु जी से पुस्तक के संबंध में पूछा पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। तीसरी बार कहने पर भारतेन्दु जी इनकी ओर घूम पड़े और बोले—"जिन विद्वान् के चरणों के पास बैठकर मैंने कुछ हिन्दी सीखी है, उनकी कृतियों के संबंध में मुझसे आप सम्मति लेने आए हैं, यह अत्यंत लज्जा की बात है। इस व्याकरण से हम से अनेक लोग बहुत लाभ उठा सकेंगे।" इतना कहकर उन्होंने वह प्रति लौटा दी और पंडित जी को प्रणाम किया। ये दोनों उठकर बाहर आए और बाहर आते ही पंडित जी ने उन रईस से कहा कि भारतेन्दु बाबू ने जो आज मुझे पुरस्कार दिया है वह कोई क्या देगा। व्याकरण लिखने का मेरा परिश्रम आज सार्थक हो गया, अब मैं चला। यह कहकर वह चल दिए।

भारतेन्दु जी जब कलकत्ते जाते थे तब वे प्रायः एक जौहरी के यहाँ ठहरते थे, जिनका नाम स्यात् छन्नू जी था। एक बार उन्हीं जौहरी के एक बंगाली मित्र कलकत्ते से कहीं बाहर जा रहे थे। उन्हें स्टेशन तक पहुँचाने के लिये वह जौहरी महाशय, भारतेन्दु जी तथा राय लल्लन जी तथा भी साथ आए थे। जब ट्रेन चलने को हुई तब उक्त बंगाली की एक रक्षिता, जो उन्हें पहुँचाने ही के लिए

साथ आई थी, उनके गले में हाथ डाल कर बिदा होने लगी; पर वह इस प्रकार इतने देर तक बिदा होती रही कि रेलगाड़ी स्टेशन से बाहर निकल गई और उक्त महाशय को लौट आना पड़ा। इस पर भारतेन्दु जी ने एक सवैया पढ़ा था जो इस प्रकार है:—

बाल सों लाल बिदेस के हेतु हरे हँसि कै बतियाँ कछु कीनी।
सो सुनि बाल गिरीं मुरझाय धरी हरि धाय गरे गहि लीनी॥
मोहन प्रेम-पयोधि भयो जुरि दीठि दुहूँ की भई रस भीनी।
माँगै बिदा औ बिदा को करै मिलि दोऊ बिदा को बिदा करि दीनी॥

एक बार भारतेन्दु जी पटने गए और जब वे बा० रामदीन सिंह के गृह पर पहुँचे उस समय कुछ रात्रि बाकी थी। नौकर ने फाटक खुलवाने के लिए बहुत आवाज दी पर पहरे के सिपाही ने नहीं खोला। इस पर भारतेन्दु जी ने फाटक के बाहर के कोने में, उस स्थान पर जहाँ दो एक सिपाहियों के बैठने-उठने की जगह बनी हुई थी, बिछौना बिछवा कर सो रहे। सुबह होने पर जब बा० रामदीन सिंह को खबर मिली तब वे दौड़े हुये आए और नौकरों पर बिगड़ने लगे। भारतेन्दु जी ने उनसे कहा कि "इन नौकरों ने हमें न पहिचानने के कारण फाटक न खोल कर अपना धर्म ही निबाहा है, इसलिए इन पर खफा होना उचित नहीं है और हमें भी शरीर को आराम देना था इसलिए यहीं सो रहे।"

बा० राधाकृष्णदास जी के विवाहोपलक्ष में तिलक की महफिल जमी हुई थी और महन्त वाली जानकी की लड़की मलका वजीर की एक गजल गा रही थी, जिसका पहला मिसरा था 'वस्ल में रफ्तारे माशूकाना दिखलाती है नींद'। बाबू पुरुषोत्तम दास जी भारतेन्दु जी के पास ही बैठे हुए थे, और गाने तथा गजल दोनों की खूब प्रशंसा कर रहे थे। भारतेन्दु जी ने गजल समाप्त होने पर इनसे घूमकर पूछा कि "आप अर्थ भी अच्छी तरह समझते हैं या योंही वाह-वाह करते हैं।" इसके अनंतर उन्होंने 'गालिब' का एक शेर पढ़ कर उसका आशय पूछा। शेर यों है:—

मिलना तुम्हारा गर नहीं आसाँ तो सहल है।
दुश्वार तो यही है कि दुश्वर भी नहीं॥

इस पर जब उक्त सज्जन ने कहा कि शायद इसका भाव यह है कि नामुमकिन है, तब वह इन पर बहुत प्रसन्न हुए।

एक बार किसी सज्जन ने यह प्रश्न उठाया कि नीबू के रस की खटास का असर हड्डी पर नहीं होता पर न मालूम क्यों उससे दाँत, जो हड्डी ही हैं, किटकिटा

जाते हैं। अन्य उपस्थित लोगों के इस प्रश्न के न हल कर सकने पर भारतेन्दु जी ने उसका इस प्रकार समाधान किया कि दाँत जन्म के अनंतर दूध पीते-पीते निकलते हैं अर्थात् वे दूध के बने हैं और इस कारण कि नीबू का रस दूध का शत्रु है, इसके लगने से दाँत भी खट्टे हो जाते हैं।

बंदन पाठक प्रसिद्ध रामायणी हो गए हैं। एक बार रामायण का अर्थ करते समय इन्होंने कहा कि गोस्वामी जी यह अच्छी तरह से जानते थे कि हमारे बाद रामायण का ठीक-ठीक अर्थ करने वाला केवल एक बंदन पाठक ही होगा और ऐसा उन्होंने बालकांड में गुप्त रूप से लिखा है। भारतेन्दु जी भी वहाँ उपस्थित थे और पाठक जी की यह गर्वोक्ति सुन रहे थे। कुछ देर बाद उन्होंने पाठक जी से अपनी तीन शंकाओं का समाधान चाहा। वे तीन शंकाएँ इस प्रकार हैं :—

१—सरोवर के सोपान बराबर होते हैं, पर रामचरित मानस के कुछ सोपान बहुत बड़े और कुछ बहुत छोटे हैं।

२—मानस भर में श्री शत्रुघ्न जी के मुख से एक भी उक्ति क्यों नहीं कहलाई गई?

३—जिस समय श्री रामचन्द्र जी सीताहरण हो जाने पर बन में विलाप कर रहे थे, उसी समय सती जी ने सीता रूप धारण कर उनकी परीक्षा ली थी। इस पर महादेवजी कैलाश लौट आए और "लागि समाधि अपारा...। बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि शंभु अविनाशी॥" इसी बीच कुछ महीने बाद रावण के मर जाने पर लंका में "पुलकित तन गदगद गिरा विनय करत त्रिपुरारि॥" कैसे कहा गया है?

पाठक जी इन तीनों शंकाओं का कुछ भी समाधान नहीं कर सके तब अंत में भारतेन्दु जी ने इन सबका समाधान किया। पर जिन सज्जनों ने यह वार्ता मुझे बतलाई उनमें से कोई भी इन समाधानों को न जानता था जिससे वे यहाँ नहीं लिखे जा सके।

पं० प्रयागदत्त जी, भारतेन्दु जी के मुख्य दरबारियों में से थे। इनकी दो शादियाँ हो चुकी थीं और अवस्था भी अधिक थी पर एक भी सन्तान नहीं हुई थी। इससे यह बड़े दुखी रहते थे। एक दिन भारतेन्दु जी ने इनसे कहा कि "मेरी अन्तरात्मा कहती है यदि आप तीसरा विवाह करें तो अवश्य आप को पुत्र होंगे।" इसके अनन्तर उन्हें दो सौ रुपये विवाह करने के लिये दिए। अंत में किसी प्रकार इनका विवाह हो गया और सन् १९२८ में इन्हें एक पुत्र हुआ। इस पर भारतेन्दु जी ने बड़ी प्रसन्नता मनाई और लोगों के पूछने पर कहा कि "ब्राह्मण का आशीर्वाद

हम को फलना चाहिए, सो न होकर हमारा आशीर्वाद एक ब्राह्मण को फला, इससे बढ़कर खुशी का दिन और कौन होगा ?" इसके बाद इन पंडित जी को एक पुत्र और हुआ। ये दोनों ही पुत्र उसी कोठी के बहुत दिनों तक आश्रित रहे। बड़े पुत्र का नाम गणेशदत्त था और यह लड़कपन में बंदन पाठक जी की रामायण की कथा की नकल उतारते थे। एक बार यह भारतेन्दु जी के सामने रामायण गा रहे थे कि वह सोने का पान का खाली डिब्बा हाथ में उठा कर झांझ की तरह बजाने लगे। लड़के ने वह झाँझ बजाने को माँगा और पिता के मना करने पर भी हठ करने लगा तब भारतेन्दु जी ने उसे वह दे दिया। यह इधर झाँझ बजा रहा था कि वे भोजन करने उठकर ऊपर चले गए। लड़के के पिता जी ने वह डिब्बा पहरेदार के पास जमा कर दिया और घर चले गए। कई दिनों के अनंतर एक दिन भारतेन्दु जी ने लड़के से पूछा कि "क्यों जी घर पर झाँझ बजा कर खूब आनंद से रामायण गाते हो न ?" लड़के ने कहा कि बाबू साहब वह झाँझ तो पिता जी ने पहरेदार को सौंप दिया। मेरे पास कहाँ है कि गाऊँ बजाऊँ। अंत में भारतेन्दु जी ने वह डिब्बा जो दस तोले का था, उस लड़के को दिलवा दिया। पंडित जी ने घर पहुँच कर ब्राह्मणी के लिये उसके गहने बनवा दिए और लड़के को एक जोड़ झाँझ खरीद दिया।

एक दक्षिणी ब्राह्मण इनके दरबार में नित्य आने लगे। वे किसी से कुछ कहते न सुनते और दो-तीन घण्टे बैठ कर अपने घर चले जाते। इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर एक दिन भारतेन्दु जी ने उनसे पूछा कि "महाराज ! हमारे यहाँ नित्य आते हैं पर अपना अभिप्राय कुछ नहीं बतलाते, इसका क्या कारण है ? आप के संकोच से मुझे बहुत कष्ट होता है। यथाशक्ति आपकी इच्छा पूरी की जायगी, आप कहिए अवश्य।" ब्राह्मण ने बड़ी नम्रता तथा लज्जा से कहना शुरू किया कि "बाबू साहब, मैं एक निर्धन ब्राह्मण हूँ और हमें दो कन्याओं की शादी करनी है। कन्या मेरी है और एक मेरे बड़े भाई की है। दो वर्ष हुए कि भाई गत हो गए अब दोनों हमारे ही माथे की बोझ हैं। इसी दुःख में काशी आया और दाता की खोज में था कि एक ब्राह्मण से यह पता पाकर कि राजा हरिश्चन्द्र, बलि, कर्ण के समान महादानी एक अग्रवाल-कुल -भूषण बाबू हरिश्चन्द्र हैं, जिनके यहाँ से अभी तक कोई विमुख नहीं फिरा है, मैं आप के दरबार में आने लगा। आप की भव्य मूर्त्ति, प्रसन्न मुख, स्नेह, विद्वत्ता तथा विद्वानों और कवियों का जमघट देख कर मुझे विक्रम और भोज याद आते हैं। घर से मैं आप से अपनी इच्छा निवेदन करने ही आता हूँ पर आप के सदय हृदय को अपना कष्ट कह कर कैसे दुखी करूं, यही

विचार कर रह जाता हूँ। यदि आज आप न पूछते तो रोज की तरह आज भी मैं चला जाता।" इतना कहते-कहते वह ब्राह्मण रोने लगा। भारतेन्दु जी ने दयार्द्र होकर अपनी उँगली से एक हीरे की अंगूठी उतारकर उसे देते हुए कहा कि "महाराज, मैं दौलत फूँकने वाला और फकीर हूँ। मेरे यहाँ आप ही धन का अभाव है। यह अंगूठी आप ही के भाग्य से बच रही थी, इसे लीजिए। यह एक सहस्र से कम में न जायगी। इतने में आप का काम भी चल जायगा। इसका आप पर कुछ एहसान नहीं।"

बा० शिवनन्दन सहाय जी (भारतेन्दु जीवनी, पृष्ठ ३२०) लिखते हैं कि "इनके द्रव्याभाव, दातव्य तथा ऋण का हाल जानकर और यह देख कर कि इनके स्वर्गगमन के समय किसी की एक फूटी चित्ती भी इनके जिम्मे नहीं निकली, लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उस आनन्द में श्रीमान् काशी-नरेश ने यह दोहा कहा था—

> **यद्यपि आप दरिद्र सम, जान परत त्रिपुरारि।**
> **दीन दुखी के हेतु सोइ. दानी परम उदार॥"**

पर मेरे पास एक कागज है जिस पर दो दोहे इस प्रकार लिखे हैं—

> **यद्यपि आप दरिद्र सम, जान परत त्रिपुरारि।**
> **दीन दुखी के हेतु सोइ, दानी परम उदार॥**
> **काल्हि जो माँगे आपुने, आज जात हैं तीस।**
> **सात दिना में सत मिलै, सत्य करहिं जगदीस॥**

इस कागज के पीछे उर्दू में लिखा है कि "मार्फत माधो सिंह हरकारा सरकार मुबलिग पचीस रुपया पहुँचा ६ सितंबर सन् १८८० ई०।" हो सकता है कि भारतेन्दु जी ने किसी को सहायतार्थ ये रुपये महाराज काशिराज को लिख कर दिलवाए हों और उसमें अपने द्रव्याभाव का उल्लेख किया हो, जिस पर महाराज ने ये दोहे लिखवा कर रुपयों के साथ भेजे हों।

रचनाएँ

नाटक

हिन्दी में नाट्य-साहित्य का एक प्रकार अभाव देखकर ही भारतेन्दु जी ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था और प्रायः इनकी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ इनके नाटक ही हैं। हिन्दी में इनके समय तक देवकृत देवमाया-प्रपंच, नेवाज का शकुंतला

नाटक, हृदयराम का हनुमन्नाटक, ब्रजवासी दास कृत प्रबोध चन्द्रोदय नाटक आदि लिखे जा चुके थे पर उनका नाममात्र ही नाटक था और वे नाटक की कोटि में नहीं परिगणित हो सकते थे। प्रभावती (प्रद्युम्न-विजय) और आनंद रघुनन्दन किसी प्रकार नाटक कहे भी जा सकते हैं। भारतेन्दु जी के पिता का नहुष नाटक भी नाट्य-शास्त्रानुकूल है। ये तीनों नाटक पूर्णतः पद्यमय तथा ब्रजभाषा मिश्रित हैं। राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुंतला नाटक का अनुवाद बहुत ही सुन्दर हुआ है, पर वह अनुवाद-मात्र है। इस प्रकार भारतेन्दु जी की मौलिक तथा अनुवादित रचनाओं ही से हिन्दी नाट्य-सहित्य का वास्तविक आरंभ कहा जा सकता है। इन्होंने लगभग डेढ़ दर्जन के मौलिक और अनुवादित नाटक लिखे, जिनमें कई खेले भी जा चुके हैं।

सं० १९२५ वि० के आरम्भ में भारतेन्दु जी ने नाटक लिखने में हाथ लगाया और पहले-पहल एक मौलिक ग्रंथ 'प्रवास नाटक' लिखना आरम्भ किया। वह कुछ ही लिखा जाकर रह गया। इसका केवल एक पृष्ठ एक सज्जन को देखने मात्र को मिल गया था पर वह भी अब नहीं मिलता। इसके अनन्तर 'शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़नेवालों को आनन्द देने वाली है, इस हेतु मैंने पहले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है।' यह नाटिका सुप्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष-कृत है। इस नाटिका की प्रस्तावना तथा विष्कंभक ही का केवल अनुवाद मात्र मिलता है और इसके बाद का कुछ भी अंश प्राप्त नहीं है। स्यात् अनुवाद ही अधूरा रहा हो पर भूमिका के शब्दों से तो यही ज्ञात होता है कि अनुवाद पूरा हो गया था। जो कुछ हो, अब वह अनुवाद नहीं मिलता। इन्हीं के समय में पं० देवदत्त ने, जो बरेली में संस्कृत के प्रोफेसर थे, इस नाटिका का अनुवाद किया था। इस अनुवाद की भारतेन्दु जी ने 'नाटक' में कठोर आलोचना भी की है, जो वास्तव में बहुत ही भ्रष्ट हुआ था।

इसी वर्ष भारतेन्दु जी ने विद्यासुन्दर नाटक की रचना की। इसका मूल संस्कृत का विद्यासुन्दर तथा चौरपंचाशिका छोटे-छोटे काव्य हैं, जिसका रचयिता स्यात् यही सुन्दर है। इस काव्य की राजकुमारी का नाम भी विद्या ही है। इसी के आधार पर बंगला भाषा में रामप्रसाद सेन तथा भारतचन्द्र राय गुणाकर ने दो काव्य तथा महाराज जोगेन्द्रनाथ ठाकुर ने एक नाटक निर्मित किया था। गुणाकर के काव्य के आधार पर हिन्दी में भारतेन्दु जी ने इस नाटक को लिखा। बंगला नाटक के आधार पर मिर्जापुर प्रवासी जोगेन्द्रनाथ बसु ने उर्दू में भी एक नाटक

लिखा है। भारतेन्दु जी कृत 'विद्यासुन्दर' तीन अंक में विभाजित एक छोटा-सा नाटक है जो रचयिता के अठारहवें वर्ष की रचना है। यह कृति साधारणतः अच्छी है। पद्य दस ही बारह दिए गए हैं पर अच्छे हैं। भाषा अति सरल है। इसकी पहली आवृत्ति शीघ्र ही निकल गई। दूसरी संशोधित आवृत्ति के प्रकाशन की सूचना सं० १९३३ वि० ही में 'श्रीहरिश्चन्द्र अभिनव किरणावली' में निकल गई थी पर वह सं० १९३९ वि० में प्रकाशित हुई। इसकी एक सवैया यहाँ उद्धृत की जाती है, जिसकी सरल भाषा में कही गई सरल बातें हृदय पर कैसा असर डालती हैं।

> **धिक है यह देह औ गेह सखी जेहि के बस नेह को टूटनो है।**
> **उन प्रानपियारे बिना यह जीवहि राखि कहा सुख लूटनो है॥**
> **'हरिचन्द जू' बात ठनी सो ठनी नित की कलिकानि ते छूटनो है।**
> **तजि और उपाय अनेक सखी अब तो हमको विष घूटनो है॥**

सं० १९२९ वि० में कृष्ण मिश्र कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक के तीसरे अंक का 'पाखंड-विडम्बन' के नाम से अनुवाद हुआ। यह छोटी-सी गद्य-पद्यमय रचना है। इसमें इन्द्रिय-जनित सुख के लोभ से किस प्रकार लोग सात्विक श्रद्धा से विमुख हो जाते हैं, यही दिखलाया गया है। इस नाटक में बौद्ध, जैन तथा कापालिक का वर्णन है, पर यह किसी धार्मिक-विद्वेष से नहीं अनूदित हुआ है। इसका उल्लेख कवि ने समर्पण में कर दिया है, जो उसी वर्ष के फाल्गुन शुक्ल १४ को लिखा गया था। इसकी भाषा विद्यासुन्दर से अधिक प्रौढ़ है और कविता भी अच्छी है। नाटक के अंत में दिखलाया गया है कि सात्विक श्रद्धा—

> **नहिं जल थल पाताल में गिरिवरहू में नाहिं।**
> **कृष्ण-भक्ति के संग वह बसत साधु-चित माहिं॥**

सं० १९३० वि० में 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' नामक प्रहसन रचा गया। इसमें चार अंक हैं और शुद्ध कवि-कल्पना-प्रसूत है। पहले अंक में मांस-भक्षण तथा विधवा-विवाह का समर्थन कराया गया है। दूसरे अंक में वेदांती, शैव और वैष्णव आते हैं और पाखंडियों के कुतर्क से उकता कर चले जाते हैं। तीसरे में मांस-भक्षण और मदिरापायियों द्वारा पुनः वैदिकी-हिंसा का धर्मानुमोदित होना पुष्ट कराया गया है। इसके लिए शास्त्रों के बहुत से खंड-उद्धरण भी दिए गए हैं। चौथे अंक में यमराज द्वारा इन हिंसकों को दंड दिलाया गया है। इस प्रहसन में भारतेन्दु जी ने मतमतांतर होने के कारण तत्कालीन अनेक विद्वानों और

प्रसिद्ध पुरुषों पर आक्षेप करते हुए उनकी इस नए हास्य-पूर्ण चाल से समालोचना की है। एक सज्जन 'जिनके घर में मुसलमानी स्त्री है उनकी तो कुछ बात ही नहीं, आजाद हैं', को उद्धृत कर लिखते हैं "नहीं कह सकते कि भारतेन्दु जी का यह कटाक्ष स्वयं अपने ऊपर है या किसी दूसरे पर--"। सत्य ही आप ने इतना लिखकर अपने से अधिक अनजानों के हृदय में यह शंका उत्पन्न कर दी कि भारतेन्दु जी स्यात् मांस-मदिरा के भक्त थे। एक हिन्दू केवल मुसलमानी रखने से मांस-मदिरा का भक्त हो ही जायगा, यह अनिश्चित है और शब्दावली भी स्पष्ट है कि मुसलमानी रखनेवाला मांस-मदिरा सेवन करने के लिये स्वतन्त्र है, वह सेवन करे या न करे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। अस्तु, यह आक्षेप भारतेन्दु जी ने किसी ऐसे सज्जन पर किया होगा जो मुसलमानी रखने तथा मांस-मदिरादि सेवन के साथ-साथ बाद में मुसलमान हो गए होंगे। भारतेन्दु जी ने जिस मुसलमानी को रखा था, वह हिन्दू थी और मुसलमान हो गई थी, इसका उल्लेख अलग हो चुका है।

यह प्रहसन जिस उद्देश्य से लिखा गया है, उसे वह पूर्ण रूप से चरितार्थ कर रहा है। प्रत्येक पात्र का उपयुक्त चित्रण भी हुआ है और भाषा सरल तथा बोल-चाल की रखी गई है।

इसी वर्ष के अंत में कवि कांचन-कृत 'धनंजय-विजय' व्यायोग का अनुवाद पूरा हुआ। इस व्यायोग का एक अनुवाद इसी समय काश्मीर-नरेश महाराज रणधीरसिंह की आज्ञा से पं० छन्नूलाल द्वारा किया गया था। यह सं० १९३२ में काश्मीर में मूल, पद्यानुवाद तथा शेखर कृत वार्तिक सहित लीथो में प्रकाशित हुआ था और प्राय: प्रति पृष्ठ में एक-एक साधारण चित्र भी लीथो ही में दिए गए थे। इसकी भाषा अति भ्रष्ट तथा पद्य शिथिल हैं और स्यात् मूल की इस दुर्दशा को देखकर ही भारतेन्दु जी ने यह अनुवाद किया होगा। इस व्यायोग में पद्य भाग अधिक है। इसकी कथा इतनी ही है कि पांडवों के, राजा विराट को सभा में अज्ञातवास करने के अन्तिम दिन, कौरवों ने उक्त राजा का गोधन हरण कर लिया और अकेले अर्जुन उन सब को परास्त कर गायों को लौटा लाए। अनुवाद बहुत अच्छा हुआ है। पद्य में दोहे अधिक हैं। सन् १८७३ ई० में यह पहले पहल हरिश्चन्द्र मैगजीन में छपा था।

सं० १९३२ वि० में भारतेन्दु जी ने 'प्रेम-योगिनी' नामक नाटिका लिखना आरम्भ किया था पर इसके केवल चार गर्भांक ही लिखे गए और यह ग्रंथ अपूर्ण रह गया। इन चार दृश्यों में काशी की वास्तविक दशा ही का वर्णन किया गया

है और आज भी कुछ कमी-बेशी के साथ ठीक वही दशा दिखला रही है। इस प्रकार के अनेक दृश्य दिखलाए जाने योग्य बच गए थे पर स्यात् स्वतः या किसी के दबाव में पड़कर वे चित्रित नहीं किए गए। भारतेन्दु जी ने कुछ 'आप बीती' का भी इसमें वर्णन किया है और यदि यह ग्रन्थ पूर्ण हो जाता तो कवि के मानसिक कष्ट तथा सुख पर विशेष प्रकाश पड़ता। यह चार अंक ही इनकी निरीक्षण तथा व्यक्तीकरण शक्ति का उत्कृष्ट नमूना है। इसके प्रथम दो गर्भांक पहले 'काशी के छाया-चित्र या दो भले-बुरे फोटोग्राफ' के नाम से एक बार प्रकाशित हो चुके थे और बाद में दो गर्भांक लिखे जाने पर नए नाम से यह प्रकाशित हुआ।

'सत्यहरिश्चन्द्र' भारतेन्दु जी की सर्वोत्कृष्ट मौलिक रचना कही जाती है। क्षेमीश्वर का चंडकौशिक तथा रामचन्द्र का सत्यहरिश्चन्द्रम् और इस सत्यहरिश्चन्द्र तीनों ही का मूल आधार एक ही पौराणिक कथा है पर सभी रचनाएँ एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। चंडकौशिक से अवश्य कुछ श्लोक इसमें उद्धृत किए गए हैं पर और सब कुछ भारतेन्दु जी की निज की कल्पना है। स्वप्न में दान की हुई वस्तु को जागृत होने पर सत्य मान कर दे देना, अयोध्या-नरेश क्षत्रिय वीर महाराज हरिश्चन्द्र के सत्प्रतिज्ञ होने की पराकाष्ठा है तथा सत्य-प्रतिज्ञ कवि के योग्य है। साधारण पुरुष के ध्यान में यह बात नहीं आ सकती और वे इसे केवल राजा हरिश्चन्द्र के मस्तिष्क का विकार-मात्र समझेंगे, पर है यह आदर्श बहुत ऊँचा। विश्वामित्र के आने पर समग्र पृथ्वी उन्हें सौंपना तथा दक्षिणा के लिए पुत्र-कलत्र के साथ काशी में बिकने जाना, उनके सत्य विचारों का ध्रुव सत्य होना दिखलाता है। काशी तथा गंगा का वर्णन करते हुए वहीं स्त्री-पुरुष का बिक कर दक्षिणा चुकाना और अपने कामों को, जो उनके योग्य कभी भी न थे, सत्यप्रतिज्ञ होने ही के कारण निबाहना उनके चरित्र तथा आत्मबल को उज्ज्वलतर करता है। ऐसे कष्टमय समय में पुत्र की सर्पदंशन से मृत्यु का होना, शव को लेकर रानी शैव्या का स्मशान पहुँचना और राजा हरिश्चन्द्र का अपना धर्म समझकर पुत्र के अधखुले शव के आधे कफन के माँगने पर उसे देने को उद्यत होना, इन पति-पत्नी के सत्यविचार का कठोरतम देवोपम परीक्षा में उत्तीर्ण होना है। यह आख्यानक ही करुणरस का स्त्रोत है और उस पर कुशल कवि के हाथ में पड़ने पर यह इस रस का अभूतपूर्व आदर्श हो गया है। मेरे विचार से संस्कृत के भी दोनों नाटक इसके पीछे पड़ गए हैं।

इस नाटक में 'बैर अकारण सब काहू सो' और 'देखि न सकहि पराइ विभूती'' के अच्छे जीते-जागते चित्र तैयार किए गए हैं। शैव्या का विलाप, कुछ

लोगों की राय में, आवश्यकता से अधिक है पर यदि वे ही पुत्रशोकग्रस्ता किसी स्त्री के विलाप को देखें तो स्यात् कम ही ज्ञात होगा। साथ ही शैव्या को रोते-रोते इतनी बातें भी तो अनजान में कह डालनी थीं जिसमें राजा हरिश्चन्द्र अपनी स्त्री को न पहिचानते हुए उसे सुनकर ही सब वृत्तांत जान जाँय। जो कुछ हो, यह विलाप अस्वाभाविक कभी नहीं होने पाया है। एक सज्जन ने इस नाटक को 'नाट्यशास्त्र' के किसी मापक-यंत्र से नाप जोखकर दिखलाया है कि नाट्यकला की दृष्टि से सदोष है, पर यहां इतना ही कहना अलम् है कि आपने यह सब व्यर्थ ही का प्रयास किया है। इसकी विशद विवेचना स्वसंपादित सत्यहरिश्चन्द्र में कर दी गई है।

इस नाटक में करुण तथा वीर रस का सम्मिश्रण है। राजा हरिश्चन्द्र सत्यवीर हैं और आरम्भ से अंत तक हर प्रकार के प्रलोभनों को दूर करते हुए अपने सत्य पथ पर बराबर अग्रसर होते रहे हैं। इतने पर भी इन्हें 'अकर्मण्य' कहनेवालों को इस प्रकार के पौराणिक नाटकों की समालोचना में स्वयं अकर्मण्य रहना चाहिए। रानी शैव्या में कवि ने पत्नी का उत्तम आदर्श स्थापित किया है। अपने हृदय की बात कहते हुए भी पति की आज्ञा को शिरोधार्य करते रहना, कष्ट-सहिष्णु होना आदि हिन्दू ललनाओं के अनुकरणीय गुण हैं। इस नाटक की भाषा संस्कृत-मिश्रित होते हुए भी सरल है। इसके पद्य भी उत्तम बने हैं और शृङ्गारिक वर्णनों के न होने से यह नाटक अतीव बालकोपयोगी ही नहीं, स्त्रियों के लिये भी पठनीय हो गया है। यह नाटक सन् १८७५ ई० के अंत में निर्मित होकर उसके दूसरे वर्ष क्रमशः काशी पत्रिका में छपता रहा था।

सन् १८७६ ई० में कवि राजशेखर-कृत कर्पूरमंजरी सट्टक का अनुवाद हुआ। यह शुद्ध प्राकृत में निर्मित हुआ था और रूपक के सट्टक भेद का यही एक उदाहरण प्राप्त है। इसकी कथा, बस केवल इतनी ही है कि एक राजा के यहाँ एक योगी जी आते हैं और अपना चमत्कार दिखलाने को तैयार होते हैं। लंपट राजा एक सुंदरी स्त्री को उनके मंत्र द्वारा बुलवाता है, जो उसके रानी की मौसेरी बहिन निकलती है। राजा इससे प्रेम करते हैं और अंत में दोनों का विवाह होता है। सट्टक शृङ्गार-रस से परिपूर्ण है तथा विदूषक और विचक्षणा के विनोदपूर्ण बातों से उसमें हास्य का भी पुट मिला हुआ है। अनुवाद बहुत ही अच्छा हुआ है और भाषा बहुत सुगम रखी गई है। अनुवाद को पढ़ने से मूल का आनंद आता है और यह स्वतः एक मौलिक ग्रंथ-सा ज्ञात होता है। मूल-ग्रंथ से इसमें पद्यों का

आधिक्य है और बहुतेरे स्वतंत्र हैं। पद्माकर आदि के भी कुछ पद इसमें उद्धृत किए गए हैं।

बड़ौदा-नरेश मल्हारराव गायकवाड़ सन् १८७० ई० में गद्दी पर बैठे और तीन ही वर्ष के राज्य में इनके कुप्रबन्ध से वहाँ ऐसी अशांति मची कि भारत सरकार ने एक कमीशन तत्संबंधी रिपोर्ट करने के लिए भेजा और गायकवाड़ को प्रबन्ध ठीक करने के लिये एक वर्ष का समय दिया। इस बीच बड़ौदा के रेजिडेन्ट कर्नल रौबर्ट फेयर को, जिन्होंने उस कुप्रबन्ध की गवर्नमेंट को सूचना दी थी, विष देने का प्रयत्न किया गया। सन् १८७५ ई० में गायकवाड़ इसी कुप्रबन्ध के कारण गद्दी से उतारे गए और उनके स्थान पर सयाजीराव गद्दी पर बिठाए गए। इसी घटना पर उसी वर्ष 'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण लिखा गया। इसमें भंडाचार्य्य जी का व्याख्यान है, जो पठनीय है। स्वदेशी राज्यों के कर्णधार ही जब अपनी प्रजा के साथ कुत्सित व्यवहार कर बैठते हैं और उनकी उस दुष्टता तथा नीचता का जब विदेशीय सरकार द्वारा उन्हें दंड मिलता है तब हृदय से सच्चे स्वदेशभक्त के जो उद्गार होंगे, उसी का इसमें कुछ दिग्दर्शन हो जाता है। 'अँगरेजन को राज ईस इत चिर करि थापै' उस देशप्रेमी का रुदन है, बधावे बजवाना नहीं है। वह कह रहा है कि जब हमारे छोटे-छोटे देशीय राजे इस शक्तिशाली साम्राज्य के निरीक्षण में ऐसा अत्याचार करते हैं, तो इस शक्ति के हट जाने पर वे क्या न कर डालेंगे? समग्र भारत की प्रजा को अंध देश-भक्ति का ढोंग रचकर इस गायकवाड़ ऐसे उछृङ्खल अत्याचारियों के हाथ में दे देने के विचार को भी सच्चा देश-भक्त हृदय में न लावेगा, ढोंगियों की तो निराली ही कथा है।

उक्त समालोचक को इसके दो एक छन्द में अश्लीलता, वह भी निंदनीय अश्लीलता, दिखलाई पड़ी है और इसी से आपने भारतेन्दु जी पर व्यक्तिगत आक्षेप किया है कि "फिर जिसका चरित्र स्वयं आदर्श रूप न हो वह दूसरे की चरित्रहीनता पर बधावे बजवावे—यह यदि विचित्र बात नहीं तो आश्चर्य-जनक अवश्य है।" यह कथन सत्य ही विचित्र न होते हुए भी आश्चर्य उत्पन्न अवश्य कर रहा है। इस वाक्य के लेखक ही नाटकों के समालोचक हो सकते हैं। सहृदय पुरुषों का यह साधारण नियम है कि वे मृत पुरुषों के चरित्र पर कटाक्ष करना सज्जनोचित नहीं समझते। भारतेन्दु जी ने मल्हारराव की जीवितावस्था में उनके अत्याचार तथा उनकी दुर्दशा को आदर्श बनाकर उपदेश दिया है कि ऐसे स्वदेशी राजों से ईश्वर उनके देशवासियों की रक्षा करे और अन्य राजे उससे शिक्षा ग्रहण करें, पर वाह री आलोचना, तू जो न चाहे अर्थ लगा

ले। इस रचना से भारतेन्दु जी रत्ती भर भी नीचे नहीं खिसके पर उन पर धूल फेंकने वाले के प्रयास का फल अवश्य जैसा होना चाहिए था वैसा ही हुआ।

सं० १६३३ वि० में श्री चन्द्रावली नाटिका की रचना हुई। यह नाटिका अनन्य प्रेम रस से प्लावित है और भारतेन्दु जी की उत्कृष्ट रचनाओं में से एक है। एक शुद्ध विष्कंभक देकर श्री शुकदेव जी तथा नारद जी से परम भक्तों के वार्तालाप-द्वारा ब्रजभूमि के अनन्य-प्रेम की सूचना दिलाकर यह नाटिका आरम्भ की गई है। ये दोनों पात्र केवल 'कथांशानां निदर्शक: संक्षेपार्थ:' लाए गए हैं और इनसे नाटिका की मुख्य कथा-वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी से कवि ने इन दोनों के आने-जाने, होने का कुछ पता नहीं दिया है। इसमें वीणा पर उत्प्रेक्षाओं की एक माला ही पिरो डाली गई है। पहले अंक में चन्द्रावली जी तथा उनकी सखी के कथोपकथन से उनका श्रीकृष्ण पर प्रेम प्रकट होता है। दूसरे अंक में श्री चन्द्रावली जी अपना विरह वर्णन कर रही हैं और उपवन में कई सखियों से वार्तालाप भी होता है। विरहोन्माद में प्रिय के अन्वेषणार्थ जो प्रलाप कराया गया है, वह यदि अभिनय की दृष्टि से कुछ अधिक लम्बा कहा जाय तो कह सकते है, पर अस्वाभाविक रत्ती भर भी नहीं होने पाया है। कोई भी सहृदय उसे पढ़कर उकता नहीं सकता। तीसरे अंक का अंकावतार गुप्त पत्र भेजने का रहस्य बतलाता है। उसके अनंतर कई सखियों के साथ चन्द्रावली जी आती हैं और वार्तालाप करते हुए कार्य-साधन का उपाय निश्चित होता है। इसमें भी विरह-कातरा रमणी का कथन नीरसों के लिए आवश्यकता से अधिक हो गया है पर विरहिणी को आवश्यक अनावश्यक समझने की बुद्धि नहीं रह जाती। महाकवि कालिदास ने भी लिखा है कि 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।'

इन अंकों में वर्षा वर्णन आया है और उसका विरहिणी के हृदय पर जो असर पड़ेगा, वह पूर्ण रूप से दिखलाया गया है। वहाँ इन प्राकृतिक दृश्यों को चन्द्रावली के मानव-जीवन का अंग बना कर दिखलाना मूर्खता मात्र होती। चौथे अंक में पहले श्रीकृष्ण जी योगिन बनकर आते हैं और फिर ललिता तथा चन्द्रावली जी आती हैं। अन्त में युगल प्रेमियों का मिलन होता है। इसमें यमुना जी की शोभा का नौ छप्पयों में उसी प्रकार अच्छा वर्णन हुआ है जिस प्रकार सत्य हरिश्चन्द्र में गंगा का। इसकी एक बात पर उक्त समालोचक लिखते हैं कि "एक विचित्र आदर्श भी उपस्थित कर दिया गया है। कहाँ तो चन्द्रावली की माता उसका बाहर आना जाना बन्द कर देती हैं और कहाँ योगिनी का वेष धारण किए हुए श्रीकृष्ण चन्द्र के आने तथा अपना वास्तविक रूप प्रकट करने पर ठीक उसी समय माता

का यह संदेशा भी आ जाता है कि 'स्वामिनी ने आज्ञा दई है कि प्यारे सों कही दै चन्द्रावली की कुंज में सुखेन पधारौ।' न जाने किस आदर्श को सामने रखकर इस नाटिका के पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया है।" धन्य है, बलिहारी है, इस समझ की। सत्य ही जो अधिकारी नहीं हैं उनको समझ हो में न आवेगा। हिन्दी साहित्य की ब्रजभाषा की कविता का साधारण ज्ञाता भी यह जानता होगा कि ब्रजलीला की स्वामिनी श्री राधिका जी हैं। वहाँ किसी की माता, दादी या नानी स्वामी नहीं कहलाती थीं। ब्रज की गोपियों के लिए श्रीकृष्ण स्वामी तथा श्रीराधा ही स्वामिनी थीं। चन्द्रावली जी को माता अवश्य वृद्धा रही होंगी और उनका श्रीकृष्ण जी को 'प्यारे सों' शब्दों में संबोधित करना, जिसे वे स्यात् अपना दामाद बना रही थीं, कहीं अधिक विचित्र बतलाया जा सकता था पर समालोचक महोदय की दृष्टि उधर नहीं पड़ी नहीं तो इसे भी वे अवश्य लिखते। जिसने यह संदेश कहा था उसी की बात कुछ ही पंक्ति बाद आप पढ़ लेते तो इस शब्द से किससे प्रयोजन है यह स्पष्ट हो जाता। वह कहती है, "तो मैं और स्वामिनी में कछू भेद नहीं है ताहू में तू रस की पोषक ठैरी।" और तीसरे अंक में दोनों के मिलाने का जो उपाय निर्धारित हुआ था उसमें प्रिया जी अर्थात् श्री राधिका जी से आज्ञा प्राप्त करने की और "याके घर केन सों याकी सफाई करावै" की दो बातें तै हुई थीं। वही आज्ञा समय पर मिली, क्योंकि यदि यही आज्ञा पहले ही मिली होती तो श्रीकृष्ण जी के गुप्त रूप से आने की आवश्यकता न रह जाती!

इस नाटिका की कविताएँ विशेष रूप से हृदयग्राहिणी हैं। मार्मिक बातें ऐसी सरलता-पूर्वक कह दी गई हैं कि हृदय पर चोट करती हैं। भाषा अत्यन्त मधुर और प्रौढ़ है। निस्पृह दैवी प्रेम का मनोमुग्धकारी उज्ज्वलतम सुन्दर जीता-जागता चित्र खड़ा कर दिया गया है। क्यों न हो, यह सच्चे प्रेमी भक्त के निज हृदय का प्रतिबिंब है। इस नाटिका का संस्कृत अनुवाद सं० १९३३ की हरिश्चन्द्रचन्द्रिका तथा मोहनचन्द्रिका में क्रमशः छपा है। यह अनुवाद पं० गोपाल शास्त्री ने किया था जो बहुत अच्छा है। भरतपुर के राज्यच्युत महाराज के राजकुमार राव कृष्णदेव शरण सिंह ने इसका व्रजभाषा में रूपान्तर किया है। भारतेन्दु जी इसका अभिनय कराना चाहते थे पर उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी।

'भारत-दुर्दशा' भारतेन्दु जी की निज कल्पना से सं० १९३३ वि० में प्रादुर्भूत हुआ था। यह छोटा-सा रूपक छः अंकों में विभक्त है। इसमें नाटककार ने भारत के प्राचीन गौरव का ओजस्वनी भाषा में वर्णन कर वर्तमान समय की दुरवस्था पर आँसू बहाए हैं। इसके पाठकों तथा दर्शकों पर इस दुःखांत रूपक

का स्थायी प्रभाव पड़ता है और केवल करुणरस में निमग्न होकर ही वे नहीं रह सकते। इसी नैराश्य में भारत की अवनति के मूल कारणों के उच्छेदन करने की ईप्सा उनमें जागृत हो जाती है। इसके कुछ पदों में देश की दुरवस्था पर जो कुछ कहा गया है, वह ऐसा करुण है कि उन्हें पढ़कर स्वदेश-प्रेमियों के मन स्वतः उद्वेलित हो जाते हैं और क्यों न हों वे एक सच्चे देशभक्त के हृदय के रक्त से सिंचित हैं। इसी नाटक में पहले पहल राष्ट्रीयता की पुकार उठाई गई है और सभी प्रांतों तथा वहाँ के निवासियों को एक मंच पर एकमत होकर सम्मिलित रूप में देश के उत्कर्ष पर विचार करने को आमंत्रित किया गया है। उक्त रचना के बहत्तर वर्ष तथा अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना के तिरसठ वर्ष बाद भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई है पर अभी तक देश उतनी उन्नत नहीं कर सका है, जैसा कि सभी देश प्रेमियों को वांछनीय है। इस नाटक में भारतेन्दु जी तत्कालीन देश-दशा के चित्रण में पूर्णतया सफल हुए हैं और अब भी यह नाटक सभी देश प्रेमियों के लिए पठनीय है।

नीलदेवी सन् १८८१ ई० के अन्त में लिखी गई है। यह एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें एक क्षत्रिय राजा को सम्मुख युद्ध में परास्त न कर सकने पर मुसल्मान सेनापति ने रात्रि-आक्रमण कर उसे कैद कर लिया था। मुसल्मान होना अस्वीकार करने पर वह मार डाला गया। रानी नीलदेवी पति का बदला लेने को, शत्रु को प्रबल समझकर, षड्यंत्र रचती है और गणिका का छद्मवेश धारण कर, अवसर पाकर नहीं प्रत्युत् अवसर बनाकर, उस मुसल्मान सेनापति को मार डालती है और पति के शव के साथ सती हो जाती है। इस नाटक में वीर तथा करुण-रस के साथ हास्य-रस का भी अच्छा समावेश हुआ है। कादरों की डींगें तथा पागल की बड़बड़ाहट पढ़कर हँसी बरबस आती है। वीरों की बातचीत सुन-कर जिस प्रकार चित्त उत्तेजित होता है, उसी प्रकार देवता का गाना सुनकर रुलाई आने लगती है। भाषा, पात्रों के अनकूल ही सर्वत्र रखी गई है। यह नाटक रंगमंच पर भी सफलतापूर्वक खेला जा चुका है और पठनीय है। इसमें देशहितैषिता का भाव भरा हुआ है और जिस आदर्श को लेकर इसकी रचना हुई है उसकी इससे पूर्णरूपेण सिद्धि होती है। जिस समय नीलदेवी का पहली बार अभिनय हुआ था, उस समय जब और कोई पागल का पार्ट लेने को तैयार नहीं हुआ तब भारतेन्दु जी ने स्वयं बड़ी सफलता से उसका पार्ट किया था।

'अंधेर नगरी चौपट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा' प्रहसन की सं० १९३८ में रचना हुई। कहा जाता है कि विहार प्रांत के किसी जमींदार के

अन्यायों को लक्ष्य करके उसे सुधारने के लिए तथा किसी स्थानिक 'नेशनल थिएटर' में अभिनीत किए जाने के लिए इसकी एक ही दिन रचना हुई थी। इस कहानी को लेकर पहले भी खेल होते थे पर वे इतने सुव्यवस्थित नहीं थे। इस प्रहसन की भाषा तथा पद्य साधारण हैं पर अनेक प्रकार के लोगों पर हँसी-हँसी में आक्षेप किया गया है। इस नाटक का उक्त सज्जन पर अच्छा प्रभाव पड़ा था और बाद को उन्होंने हिन्दी प्रचारार्थ भारतेन्दु जी की सहायता ग्रंथ छपवाने में भी की थी।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस का अनुवाद क्रमशः सं० १९३१ के फाल्गुन मास की बालाबोधिनी की संख्या से छपना आरम्भ हुआ और प्रायः तीन वर्ष तक निकलता रहा। बाद को यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। यह नाटक राजनीतिक षड्यंत्रों से पूर्ण है। इसका प्रधान रस वीर है और कर्म-वीरत्व के उपदेश से परिपूर्ण है। इस नाटक की कथा-वस्तु का आधार मौर्य साम्राज्य के संस्थापन के इतिहास से लिया गया है। इस नाटक का अनुवाद बहुत ही अच्छा हुआ है, भाषा प्रौढ़ तथा प्रांजल है। अनुवादक ने इस पर विशेष समय तथा मन लगाया था और यह उनकी नाट्य-रचनाओं में सबसे बड़ी भी है। इसकी भूमिका लिखने में भी अनुवादक महोदय ने बहुत कुछ अनुसंधान किया है तथा देशीय और यूरोपीय भाषाओं के ग्रन्थों से सहायता ली है। तात्पर्य यह कि यह अनुवाद करके भारतेन्दु जी ने इस ग्रंथ की प्रसिद्धि द्विगुणित से भी अधिक कर दी है और यह चिरस्थायी ग्रंथ अब अमर हो गया है। इसका एक अनुवाद भारतेन्दु जी के समय ही में श्रद्धेय पं० मदनमोहन मालवीय के पितृव्य पं० गदाधर मालवीय ने भी किया था पर इस अनुवाद को देखकर उन्होंने अपना अनुवाद नहीं प्रकाशित किया।

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर के सुखान्त नाटक 'मर्चेंट ऑव वेनिस' का भारतेन्दु जी ने 'दुर्लभ बंधु' (अर्थात् वंशपुर का महाजन, के नाम से अनुवाद किया था। सं० १८३७ वि० ज्येष्ठ शुक्ल की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चंद्रिका में इसका प्रथम दृश्य छपा है, जिसमें केवल इतना लिखा है कि "निजबंधु बा० बालेश्वर प्रसाद, बी० ए० की सहायता से और बंगला पुस्तक सुरलता की छाया से हरिश्चन्द्र ने लिखा।" इस पत्रिका के संपादक भारतेन्दु जी के घनिष्ठ मित्र पं० विष्णुलाल मोहनलाल पंड्या थे। यह अनुवाद अपूर्ण था, जिसे पण्डित रामशंकर व्यास तथा बाबू राधाकृष्ण दास जी ने पूरा किया था। कुछ लोगों का कथन है कि यह अनुवाद भारतेन्दु जी का नहीं है प्रत्युत बा० बालेश्वर

प्रसाद, बी० ए० कृत है, पर वे भूलते हैं। उक्त सज्जन का अनुवाद काशी पत्रिका खंड १ में 'वेनिस का सौदागर' के नाम से प्रकाशित हुआ था। भारतेन्दु जी ने 'नाटक' में इसका उल्लेख किया है। वह स्यात् उर्दू भाषा मिश्रित था। भारतेन्दु जी के अनुवाद में यूरोपीय नामों को भी सुन्दर हिंदी रूप दिया गया है, जैसे ऐन्टानियो का अनंत, पोर्शिया का पुरश्री आदि। इस अनुवाद में उक्त दोनों सज्जनों से भारतेन्दु जी ने सहायता अवश्य ली थी तथा बंगला की सुरलता से भी कुछ मदद लिया था, जिसे अनुवादक महोदय ने स्वयं स्वीकार किया है।

सती प्रताप गीतिरूपक सावित्री-सत्यवान के पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है। यह भी अपूर्ण रह गया था जिसे स्व० बा० राधाकृष्ण दास जी ने बाद को पूरा किया था। इसमें सात दृश्य हैं जिनमें चार भारतेन्दु जी के लिखे हैं और अंतिम तीन बा० राधाकृष्ण दास जी के। यह उपाख्यान स्त्रियोपयोगी है और इसमें उन्हीं सावित्री का चरित्र-चित्रण हुआ है, जिनका वे प्रतिवर्ष वट-सावित्री के दिन पूजन करती हैं। पहले दृश्य में अप्सराएँ पातिव्रत्य की प्रशंसा करती हैं, दूसरे में सावित्री-सत्यवान का प्रथम मिलन होता है, तीसरे में सावित्री का प्रेम दिखलाया जाता है और चौथे में नारदजी के समझाने से सत्यवान के पिता द्युमत्सेन अपने पुत्र का सावित्री से विवाह करना स्वीकार करते हैं। इसमें मनसा पतिवरण कर लेने पर दूसरे से न विवाह करने का प्रण करके भी माता-पिता की आज्ञा पर ही इच्छा-पूर्ति को छोड़ देने ही ने सावित्री शब्द को सती का पर्यायवाची आज तक बना रखा है। कहा जाता है कि लाला श्री निवासदास के तप्तासंवरण के प्रकाशित होने पर उसे पसंद न करके भारतेन्दु जी ने इसे लिखना आरम्भ किया था।

भारतजननी बँगला की भारतमाता के आधार पर लिखी गई है। यह पहले पहल सन् १८७७ ई० के हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका में प्रकाशित हुई थी। सन् १८७८ ई० के कवि-वचन-सुधा में एक विज्ञापन भारतेन्दु जी ने निकाला था, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसके अनुवादक इनके कोई मित्र थे और इसे उन्होंने शोधकर प्रकाशित किया है। इसमें 'भारत में मची है होरी' पद जून सन् १८८० ई० के प्रकाशित 'मधुमुकुल' में छपा है जिसमें उनके पिता की तथा उनकी ही रचनाएँ संकलित हैं। 'नाटक' में भी भारतेन्दु जी ने इसे स्वरचित लिखा है। सन् १८८१ ई० के १० अक्तूबर की कवि-वचन-सुधा में संपादकीय टिप्पणी इसी नाटक पर यों है कि "इस आशय की प्रशंसा करने में कुछ ईश्वरांश हुए बिना किसी की सामर्थ्य है कि वह हिन्दी भाषा के परमाचार्य कविवर श्री बा० हरिश्चन्द्र की

प्रशंसा करे।" ३१ दि० सन् १८८१ ई० के उचित वक्ता में बा० राधाकृष्ण दास ने विज्ञापन देते हुए इसे भारतेन्दु रचित लिखा है। हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका तथा मोहन-चन्द्रिका (कला ६ किरण ८, सं० १९३८ भाद्रपद) में भी यह भारतेन्दु रचित लिखा गया है। अस्तु, संशोधन कार्य से भारतेन्दु जी ने इस रूपक को बहुत कुछ अपना कर लिया है और मूल तीसरे ही का है। इसलिए उक्त अनुवादक का नाम न ज्ञात होना ही समीचीन है। यह भारतेन्दु जी के सामने ही कई बार खेला जा चुका था और डुमराँव के दीवान राय जयप्रकाश लाल ने इन्हें लिखा था कि आपका नाटक 'भारत जननी' यहाँ खेला गया था।

माधुरी रूपक राव कृष्णदेवशरण सिंह की कृति है, जो भरतपुर-नरेश राजा दुर्जन साल के वंशज तथा भारतेन्दु जी के अंतरंग मित्र थे। यह कविता में अपना "गोप" उपनाम रखते थे। इस रूपक के एक पद का 'गोपराज' शब्द उन्हीं का द्योतक है। इनके सिवा बा० राधाकृष्ण दास जी ने नवमल्लिका तथा मृच्छकटिक दो नाटकों का भी नाम लिखा है पर वे अप्राप्य तथा अपूर्ण हैं। इस प्रकार डेढ़ दर्जन के लगभग छोटे-बड़े नाटक लिखकर भारतेन्दु जी ने हिन्दी साहित्य के इस अंग के अभाव की कुछ पूर्ति कर जो नाट्य-परंपरा चलाई थी वह उनके बाद मंद पड़ गई थी। पर इधर कई सज्जनों ने वर्तमान रंगमंच के अनकूल नाटक लिखना आरंभ कर उस परंपरा को विशेष गति से चला दिया है। भारतेन्दु जी ने नाटकों के इतिहास तथा नाटक रचना पर भी एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम उन्होंने 'नाटक' ही रखा है। मुद्राराक्षस की भूमिका में लिखते हैं कि "नाटकों के वर्णन का विषय भी इसके साथ दिया जाय किन्तु मित्रों के अनुरोध से यह विषय स्वतंत्र पुस्तकाकार मुद्रित हुआ।" इस पुस्तक की रचना में संस्कृत के नाट्य-शास्त्र, दशरूपक आदि तथा अंग्रेजी की हिन्दू थिएटर्स आदि पुस्तकों से सहायता ली गई थी। इसमें नाटक के भेद तथा उसके अंग-प्रत्यंग का वर्णन दिया गया है। साथ ही संस्कृत तथा हिन्दी नाट्यकला का इतिहास संक्षेप में दे दिया गया है। यह पुस्तक भी परिश्रम के साथ लिखी गई है। इनके समय तक प्राप्त संस्कृत तथा हिन्दी नाटकों की तालिका भी इसमें दे दी गई है, जिससे इस ग्रंथ का महत्त्व बढ़ गया है। भारतेन्दु जी की इन रचनाओं की भूमिकाओं, समर्पणों तथा प्रस्तावनाओं से समय-समय पर उनकी मानसिक अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है' जिनका उपयोग कवि की जीवनी में किया गया है।

राजभक्ति-विषयक

भारतेन्दु जी ने स्वयं राजभक्ति पूर्ण अनेक रचनाएँ की हैं तथा अन्य लोगों से

भी पुरस्कारादि देकर एवं लिखाकर उनमें संकलित किया है। इन कृतियों के रहते हुए भी जिन लोगों ने उनपर राजद्रोही होने का दोष लगाया था और जिन लोगों ने उस कथन पर विश्वास किया था, उन सभी के हृदयों की आँखों पर पक्षपात का पर्दा पड़ा हुआ था। भारतेन्दु जी का रचनाकाल सं० १६२४ से सं० १६४१ तक था और यह वह समय था जब भारतवर्ष में पूर्ण शांति नहीं स्थापित हो चुकी थी। उनके जन्मस्थान काशी ही में उन्हीं के समय संध्या के बाद किसी अमीर आदमी का आगे-पीछे दस पाँच सिपाही साथ लिए बिना निकलना कठिन था। ऐसे समय शांति-स्थापक अंग्रेजी राज्य को 'ईस इत थिर करि थापै' कहना ही देशप्रेम था। साथ ही अंग्रेजी राज्य के दोषों का कथन, उनके निवारणार्थ प्रार्थना करना आदि 'राजद्रोह' नहीं कहा जा सकता था। वे अंग्रेजी राज्य को उसके दूषणों से रहित देखना ही देशप्रेम समझते थे और वही उस समय के लिए उचित भी था। भारत से उस समय अंग्रेजी राज्य के निर्वासन का कथन कोरा देशद्रोह होता। कुछ लोगों ने उनकी निर्भीक स्पष्टवादिता को राजद्रोह बनाकर द्वेष के वशीभूत हो सरकारी कर्मचारियों में उन्हें 'राजद्रोही' घोषित कर दिया था और इनमें भारतेन्दु जी के गुरु स्वर्गीय राजा शिवप्रसाद सरीखे महापुरुष भी सम्मिलित थे। इन गुरु-शिष्य में हिन्दी के भाषा-भेद ही को लेकर कुछ मनोमालिन्य पैदा हुआ था। भारतेन्दु जी को शुद्ध हिन्दी तथा राजा शिवप्रसाद को खिचड़ी हिन्दी पसंद थी। शिष्य की शैली सब को पसंद आई और वही हिन्दी साहित्य की प्रधान भाषा बन गई। इस मनोमालिन्य के कारण राजा साहेब ने कवि-वचन-सुधा के 'लेवी प्राण लेवी' तथा 'मर्सिया' नामक दो लेखों का सरकारी कर्मचारियों को ऐसा उल्टा अर्थ सुझाया कि वे उनके फेर में आ गए और भारतेन्दु जी पर कुपित हो गए। इनकी जो पत्रिकाएं ली जाती थीं, वे किसी बहाने बन्द कर दी गईं। पर इन्होंने इसका कुछ विचार न किया और अपने व्रत से न डिगे। देश-प्रेम के कारण ही यह भारत-सरकार के पूर्ण शुभचिंतक थे और इसलिए वे वैसे ही अंत तक बने रहे।

सन् १८६६ ई० में सम्राज्ञी विक्टोरिया के द्वितीय पुत्र ड्यूक आव एडिम्बरा भारत आए थे। उस समय उनके काशी पधारने पर इन्होंने अपने घर पर भारी उत्सव मनाया था। काशी में उनका जो कुछ स्वागत हुआ था, उस सब में इन्हीं की सहायता प्रधान थी। यह बराबर ड्यूक के साथ रहते थे और इन्हीं को उन्हें काशी दिखलाने का भार सौंपा गया था। इनकी तथा इनके गृह के सजावट की स्वयं ड्यूक ने प्रशंसा की थी। भारतेन्दु जी ने काशी के पंडितों की, २० जनवरी सन् १८७० ई० को, सभा की थी, जिसमें ड्यूक की प्रशंसात्मक रचनाएँ पढ़ी

गई थीं। ये ही सुमनोऽञ्जलि पुस्तक में संगृहीत की जाकर ड्यूक को बाद को समर्पित की गई थीं। इसमें संस्कृत का अंश ही अधिक है, हिन्दी के केवल सात ही पद हैं। ड्यूक महोदय सं० १९२६ की कार्तिक-पूर्णिमा को काशी आये थे, जिस दिन चन्द्रग्रहण था। भारतेन्दु जी ने इसी को लेकर निम्नलिखित कवित्त बनाया था—

वाको जन्म जल याको रानी-कोख-सागर तें,
वह सकलंकी यामें छींटहू न आई है।
वह नित घटै यह बाढ़ै दिन-दिन, वह
बिरही-दुखद यह जन-सुखदाई है॥
जानि अधिकाई सब भाँति राजपुत्र हीं की,
गहन के मिस यह मति उपजाई है।
देखि आज उदित प्रकाशमान भूमि-चंद,
नभ-ससि लाज मुख कालिमा लगाई है॥

इस संग्रह तथा इनकी राजभक्ति से प्रसन्न हो कर रींवा-नरेश ने दो सहस्र तथा विजयनगर की राजकुमारी ने ढाई सौ रुपये पारितोषिक भेजे थे—जिसे भारतेन्दु जी ने सुकवि पंडितों में वितरण कर दिया था। इन विद्वानों ने अपनी कृतज्ञता-प्रकट करने के लिये भारतेन्दु जी को संस्कृत में एक मानपत्र दिया था जिसके एक श्लोक का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार हुआ है—

सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचन्द।
जिमि स्वभाव दिन रैन को कारन इक हरि चन्द॥

सन् १८७१ ई० में प्रिंस ऑव वेल्स के अस्वस्थ होने पर उनकी आरोग्य-कामना के लिए भारतेन्दु जी ने नौ दोहों में ईश्वर से प्रार्थना किया था, जिसका अंतिम दोहा इस प्रकार है—

बेग सुनैं हम कान सों, प्रिंस भए सानंद।
परम दीन ह्वै जोरि कर, यह विनवत हरिचन्द॥

युवराज की स्वास्थ्य-प्राप्ति पर आनन्दोत्सव भी मनाया था। वही युवराज सन् १८७५ ई० के नवम्बर महीने में भारत में पधारे थे। भारतेन्दु जी ने विज्ञापन देकर संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, बँगला, गुजराती, तामिल, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं की कविताएँ आमंत्रित कीं और उनसे 'मानसोपायन' नामक संग्रह तैयार किया था। यह संग्रह सन् १८७७ ई० के आरम्भ में प्रकाशित होकर

इंग्लैंडेश्वरी के भारत-सम्राज्ञी की पदवी ग्रहण करने के समय युवराज को भेंट किया गया था। श्री राजकुमार के शुभागमन के अवसर पर जो स्वागतपत्र लिखा था, उसका आरंभ यों है—

स्वागत स्वागत धन्य तुम, भावी राजधिराज।
भई सनाथा भूमि यह, परसि चरन तुव आज॥

अंत में आशीर्वादात्मक ग्यारह दोहे दिए हैं, जिसका अंतिम दोहा यों है—

भ्रात मात सह सुतन युत, प्रिया सहित युवराज।
जियो जियो जुग जुग जियो, भोगो सब सुख साज॥

युवराज के काशी आने पर उस अवसर के लिये इन्होंने अपने सभी स्थानों को सजवाया था, परन्तु रामकटोरा वाले बाग का वह भाग जो छावनी से शहर जानेवाले मार्ग पर है, बड़े व्यय से खूब सजाया गया था। ताश आदि कीमती कपड़ों के झंडे तथा झंडियाँ फहरा रही थीं। 'भावी भूप चिरंजीव' आदि सी वाक्यावली जगह-जगह पर जड़ाव का काम कर रही थी। गुलाब की पत्तियाँ, बादले तथा कागज की चिटें, जिन पर स्वागत, वेलकम आदि शब्द लिखे थे, उड़ाई गई थी। इसी अवसर पर इन्होंने 'भारतभिक्षा' लिखकर युवराज से देश की माँग की थी, जो ग्यारह पृष्ठों में समाप्त हुआ था।

सन् १८७६ ई० में लार्ड बेकन्सफील्ड के आग्रह से 'इम्पीरियल टाइटिल्स एक्ट' पास हुआ, जिससे क्वीन विक्टोरिया ने भारतसम्राज्ञी की पदवी धारण की और १ जनवरी सन् १८७७ ई० को दिल्ली- दरबार में इसकी बड़े समारोह से घोषणा की गई। काशी में भी उस दिन परेड पर इस घोषणापत्र को सुनाने के लिए दरबार हुआ था। उस समय इनकी ओर से भी तैयारी हुई थी। इनका बनाया तारीखी गजल भी गाया गया था, जिसका फ्रेंच भाषा तक में अनुवाद हुआ था। 'मनोमुकुलमाला' भी इसी अवसर पर रच कर भारतेश्वरी को अर्पित हुई थी। इसकी एक कविता अंगरेजी तथा फारसी अक्षरों से और एक कविता अंकों से चित्रित है। इसी दिल्ली-दरबार का वर्णन 'दिल्ली-दरबार दर्पण' में हुआ है।

२१ नवम्बर सन् १८७८ ई० को द्वितीय अफगान युद्ध आरंभ हुआ और २६ मई सन् १८७९ ई० को गंदमक की संधि हुई, पर तीन महीने बाद ही ब्रिटिश राजदूत के मारे जाने पर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ और इसका सन् १८८१ ई० में अब्दुर्रहमान के अमीर होने पर अंत हुआ। संधि के बाद का युद्ध तृतीय अफगान युद्ध के नाम से भी इतिहासों में पाया जाता है। इस युद्ध के आरम्भ होने का

समाचार पाते ही भारतेन्दु जी ने 'भारतवीरत्व' नामक छोटा-सा काव्य लिख कर हिन्दुस्तानी नरेशों से ब्रिटिश सेना को सहायता देने के लिये प्रार्थना की थी। लिखा था कि—

जिन जवनन तुव धरम नारि धन तीनहुँ लीनो।
तिनहू के हित आरज-गन निज असु तजि दीनो॥
तौ इनके हित क्यों न उठहु सब बीर बहादुर।
पकरि पकरि तरवार करहु बनि युद्ध चक्रधुर॥

इसके अन्तर इसी अफगान युद्ध में विजय प्राप्त होने पर 'विजयवल्लरी' बनी। इन दोनों में ब्रिटिश राज्य के सुख की मुसल्मानी राज्यकाल से तुलना की गई है।

सन् १८८० ई० में मारक्विस ऑव रिपन भारत के बड़े लाट नियत हुए और इस पद पर सन् १८८४ ई० के अंत तक रहे। भारतवासियों में इन बड़े लाट के प्रति अत्यंत श्रद्धा थी और यह बड़े प्रजाप्रिय हो गए थे। इनके किसी पूर्वाधिकारी के भाग्य में ऐसी प्रसिद्धि नहीं लिखी थी। भारतेन्दु जी ने एक अष्टक इनके नाम पर लिखा था जिसका एक छप्पय यों है—

जदपि बाहुबल क्लाइव जीत्यो सगरो भारत।
जदपि और लाटनहू को जन नाम उचारत॥
जदपि हेस्टिंग आदि साथ धन लैगे भारी॥
जदपि लिटन दरबार कियो सजि बड़ी तयारी॥
पै हम हिन्दुन के हीय कीं, भक्ति न काहू सँग गई।
सो केवल तुमरे सँग रिपन, छाया सी साथिन भई॥

सन् १८८२ ई० में भारतेश्वरी क्वीन विक्टोरिया के एक घातक की गोली से बच जाने पर भारतेन्दु जी ने चौकाघाट पर स्थित अपने बाल्यकाल के हितैषी मित्र बा० गोकुलचन्द खत्री के बाग में उत्सव मनाया था। अपने स्कूल के बालकों द्वारा मङ्गलगान कराया तथा उसके बाद कविताएँ पढ़ी गईं। एक प्रहसन का अभिनय तथा गान हुआ था। इसकी सूचना पर क्वीन तथा बड़े लाट ने प्रसन्नता प्रकट की थी। एक समाचार-पत्र ने लिखा था कि "बनारस में श्रीमान् भैया बाबू सभी लायल सब्जेक्ट हैं पर ऐसे अवसरों में जैसा कुछ बाबू साहब से बनता है, दूसरे को नहीं सूझता।"

मिश्र देश में विदेशी सत्ता का विरोध करने के लिये अरबी पाशा ने मंत्रि-मंडल में अपना एक स्वतंत्र देशभक्त दल बना लिया था, जिसने बाद को सभी

यूरोपीय कृति के विरुद्ध घृणा का रूप धारण कर लिया। जून सन् १८८२ ई० में यह विरोध विद्रोह में परणित हो गया और विद्रोहियों ने अलेक्जेंड्रिया के कुल ईसाइयों को निकाल बाहर किया। इंग्लैंड ने सभी यूरोपीय शक्तियों तथा तुर्की के सुल्तान को उसे दमन करने में सहयोगी बनने के लिये लिखा पर किसी के स्वीकार न करने पर उसने अकेले युद्ध आरम्भ कर दिया। भारतीय सेना भी युद्ध के लिये भेजी गई थी। तेलेल् कबीर के युद्ध में भारतीय सेना बाईं ओर से जेनरल मैकफरसन के अधीन लड़ी थी। भारतीय सेना ने शत्रु का पीछा कर उसी दिन दोपहर को जिगजिग ले लिया और उसके अनन्तर संध्या को बेलवैस पहुँच गई। चौबीस घंटे बाद कैरो लेने में भी इस सेना ने योग दिया, जहाँ अरबी पाशा के ससैन्य शस्त्र रख देने से यह युद्ध समाप्त हो गया। इसी युद्ध की विजय-वार्ता पर 'विजयिनी विजय वैजयंती' बनी। २२ सितम्बर सन् १८८२ ई० को संध्या समय टाउन हाल में उत्सव मनाने के लिए सभा हुई। राजा शिवप्रसाद सभापति बनाए गए। इसी अवसर पर यह कविता पढ़ी गई थी। पहले ग्यारह दोहों में प्रश्न है कि क्यों यहाँ चारों ओर प्रसन्नता छाई है और उसके बाद सात रोलाओं में, उसके उत्तर में, मिश्र-विजय का समाचार है। इसके अनन्तर कवि भारत के प्राचीन गौरव का उल्लेख कर उसकी अर्वाचीन परतन्त्रावस्था पर रोता है, और तब भारतीय सेना के मिश्र जाकर विजय प्राप्त करने का वर्णन करता है। प्रायः दो सौ पंक्तियों का यह छोटा-सा काव्य प्रत्येक देशप्रेमी के लिये नित्य पठनीय है।

सन् १८८३ ई० में इंग्लैंड में एक जातीय संगीत सभा (नैशनल ऐंथेम सोसाइटी) स्थापित हुई, जिसका उद्देश्य प्रायः सभी प्रचलित हिन्दुस्तानी भाषाओं में नैशनल ऐन्थेम का अनुवाद कर वहाँ की सभाओं में गाने योग्य बनाने का था। भारतेन्दु जी ने इसके लिये काशी में विद्वानों की एक सभा कर उसकी ओर से आशीर्वाद तथा हिन्दी अनुवाद भेजवाया था। इन्होंने इसके पहले भी एक अनुवाद विलायत भेजा था। इस विषय में इनसे कई बार पत्रोत्तर भी हुए थे। उस ऐन्थेम के प्रथम पद का अनुवाद इस प्रकार हुआ है:—

प्रभु रच्छहु दयाल महरानी।
बहु दिन जिए प्रजा सुखदानी।
हे प्रभु रच्छहु श्री महरानी।

सब दिस में तिनकी जय होई।
रहै प्रसन्न सकल भय खोई।

राज करै बहु दिन लौं सोई।
हे प्रभु रच्छहु श्री महरानी॥

१८८४ ई० के अप्रैल में क्वीन विक्टोरिया के चतुर्थ पुत्र ड्यूक ऑव ऐलबनी की मृत्यु होने पर भारतेन्दु जी ने शोक प्रकट करने के लिये १२ अप्रैल, शनिवार, को सायंकाल के समय ५ बजे सभा निमन्त्रित की थी। सभा के अधिवेशन के लिए काशी के मैजिस्ट्रेट से टाउनहाल पहले ही माँगा गया था और उन्होंने सहर्ष उसे देना स्वीकार भी कर लिया था पर ठीक सभा के दिन उन्होंने हॉल नहीं दिया, जिससे अनेक संभ्रान्त लोग आ-आकर लौट गए। अतः दूसरे दिन कालेज में कुछ सज्जनों ने मीटिंग कर वहीं शोक-सभा करना निश्चित किया। मैजिस्ट्रेट ने यह सुन-कर अपनी भूल स्वीकार की और आग्रह कर १५ अप्रैल को टाउनहाल ही में सभा कराई। बा० प्रमदादास मित्र सभापति बनाए गए। भारतेन्दु जी ने सम्राज्ञी विक्टोरिया के दया आदि गुण का वर्णन कर यह भी प्रस्ताव किया था कि शोक-प्रकाशक प्रस्ताव ड्यूक ऑव कनौट के पास भी भेजा जाय। दोनों ही तार के लिए सभा के सभापति के नाम धन्यवाद आया था। भारतेश्वरी की आज्ञा से वाइसराय की ओर से उन्हीं मैजिस्ट्रेट द्वारा यह धन्यवाद आया था, पर व्यर्थ ही उन्होंने किसी के बहकाने से ऐसे कार्य में बाधा डाली थी।

कहा जाता है कि राजा शिवप्रसाद, सी० एस० आई० ने ही इस सभा को राजद्रोह-मूलक बतलाकर रोकना चाहा था। यह स्वयं सभा में पधारे थे और कुछ कहना भी चाहते थे पर उपस्थित सज्जनों ने इन्हें बोलने की आज्ञा नहीं दी। इस पर यह भारतेन्दु जी ही पर विशेष कुढ़े और काशिराज के यहाँ जाकर इन्हें ही अपने अपमान का कारण बतलाया। महाराज ने भारतेन्दु जी को पत्र लिखा कि 'राजा साहब का क्यों अपमान किया गया? उनका अपमान करना मानो दरबार का अपमान करना है।'

इस पत्र को देखकर भारतेन्दु जी ने पत्रोत्तर न देकर केवल मौखिक संदेशा कहला भेजा कि काशिराज के लिये हम दोनों समान हैं। पर महाराज ने हमारे अपमान का कुछ न ध्यान कर राजा साहिब के अपमान से अपना अपमान समझा तो अब हम भी महाराज के दरबार में न आएँगे।

पूर्वोक्त बातों के सिवा साधारणतः यह सम्राज्ञी के प्रत्येक वर्षगाँठ पर अपने स्कूल में उत्सव मनाया करते थे ड्यूक ऑव एडिम्बरा का नववधू के लिए २० दोहों में 'मुँह-दिखावनी' लिखी थी। इस प्रकार देखा जाता है कि यह भारत

सरकार की कृपा तथा कोप दोनों ही की परवाह न कर अथ से अंत तक महारानी के सुख में सुख तथा दुख में दुख मनाते रहे। ऐसा करते हुए भी यदि कुछ लोग उन्हें राजद्रोही समझते रहे हों, तो उसकी यह सर्वदा उपेक्षा करते थे। यह हृदय से पूर्ण राजभक्त थे। हाँ, राजकर्मचारी-भक्त या चापलूस न थे। यह स्पष्टवादी थे अत: गुणानुकीर्तन करते हुए दोष भी कह डालते थे, जिन्हें—

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।।

में राजद्रोह दिखलाई पड़े, वे ही सच्चे राजद्रोही हैं। सच्चे राजभक्तों की कमी तथा खुशामदियों के आधिक्य ही से कितने मुसल्मानी राज्य गारत हो गए। भारतेन्दु जी ने स्वयं 'मानमोपायन' के समर्पण में लिखा है कि "हम सब स्वभाव-सिद्ध राजभक्त हैं। विचारे छोटे पद के अंग्रेजों को हमारे चित्त की क्या खबर है, ये अपनी ही तीन छटांक पकाना जानते हैं।" इनमें राजभक्ति तथा देश-प्रेम, दोनों पूर्णरूप से वर्तमान था और दोनों ही के लिये इनका हार्दिक उद्गार गद्य-पद्य के रूप में समय-समय पर निकला करता था। ऐसी अवस्था में भारतेन्दु जी के प्रति साधारण पुरुष गण कभी एक को कभी दूसरे को लेकर अपनी द्वेषपूर्ण कुवृत्तियों को चरितार्थ कर सकते हैं। उन्हें देशद्रोही तथा राजद्रोही उन्हीं की रचनाओं से साबित कर देना सहज हो गया है। पर ऐसा करना मनुष्यत्व से परे है। ये भारतीय दुर्गुणों को दिखलाकर उनको दूर करने, उसकी अवनति तथा दुर्दशा पर रुदन करने तथा उन्नति मार्ग दिखलाने को जिस प्रकार देशप्रेम समझते थे उसी, प्रकार राजा या उसके कर्मचारियों द्वारा जान या अनजान में प्रजा को जिस कार्य से कष्ट पहुँचा हो, उसको राजा के कर्णगोचर कराना राजभक्ति समझते थे। वे एक साँस में दोनों को यों कह डालते थे—

स्वागत स्वागत धन्य प्रभु, श्री सर विलियम म्योर।
टिकस छुड़ावहु सबन को विनय करत कर जोर।।

देखिए इसमें देशद्रोह तथा राजद्रोह दोनों का कैसा अनूठा जोड़ है, पर है यह सच्चे निर्भीक हृदय का गंभीर कथन। इनके बाद के बहुत पढ़े-लिखे समग्र भारत के गण्यमान्य लोग भी ऐसा कहने में हिचकते थे। वे दो में से एक बनते थे। वे अपने को पक्का देशभक्त दिखलाने के लिए अंग्रेजों के गुणों को भी दोष-रूप में दिखलाते या पूरे अंग्रेज-भक्त बनकर उनके दुर्गुण भी छिपाते थे।

पूर्वोक्त दोहा उस अवसर पर बना था जब पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर विलिअम म्योर काशी आए थे और उनके स्वागत में गंगातट पर खूब

रोशनी हुई थी। उसी उत्सव में एक नाव पर 'ओह टैक्स' और दूसरी पर यह दोहा लिखवाकर इस प्रकार उन्हें रखवाया था कि लाट साहब की उनपर अवश्य दृष्टि पड़े। लॉर्ड नार्थब्रुक के समय इनकम टैक्स छूटने की गप्प उड़ी थी और उसके लिए भारतेन्दु जी ने उत्सव मनाने के लिए सभा की थी तथा बड़े लाट के पास धन्यवाद-पत्र भी मोती टँके हुए खरीते में भेजा था पर वह अपव्यय मात्र था, क्योंकि वह बुरी बला आज भी कमासुतों के, निठल्लुओं के नहीं, पीछे पड़ी हुई है।

धर्म-ग्रंथ

सांसारिक सुखों में लिप्त ज्ञान होते हुए भी भारतेन्दु जी ने स्वधर्म-विषयक जितना ज्ञानोपार्जन किया था और जितनी इनकी धर्म-सम्बन्धी रचनाएँ प्राप्त हैं, उनसे यह स्पष्टतः मालूम हो जाता है कि यह कितने धर्मभीरु तथा सच्चे कृष्णभक्त थे। इनकी अनन्य भक्ति तथा प्रेम का दिग्दर्शन इन्हीं की रचनाओं द्वारा आगे कराया जायगा। इनकी इन रचनाओं को पढ़ कर इनकी दृढ़भक्ति तथा परम-वैष्णवता में किसी को शंका नहीं रह सकती। बाल्यावस्था ही से इनमें धर्म-तत्व-विषयक शंकाएँ उठाकर उन्हें समझने का शौक था और 'जल में छाया' न्यायेन विषय-भोग में लिप्त होते हुए भी यह उनसे परे रहे। इन्होंने लगभग तीस पुस्तिकाएँ इस विषय पर लिखी हैं।

'भक्त-सर्वस्व' में लगभग चार सौ दोहे हैं। इनमें श्रीकृष्ण जी, श्री स्वामिनी राधिका जी, श्री रामचन्द्र जी तथा महाप्रभु आचार्य जी के चरण-चिह्नों पर कवि ने अनेक प्रकार से उक्तियाँ कही हैं। प्रथम दो पर विशेष हैं। एक-एक चिह्न पर आठ-आठ दस-दस भाव तक कहे गए हैं, जिनसे भक्तिरस उमड़ा पड़ता है। इसका प्रथम संस्करण सन् १८७० ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका एक संस्करण गुजराती लिपि में भी सन् १८७३ ई० में छपा था। 'वैष्णव-सर्वस्व' में वैष्णव मत के चारों संप्रदायों—विष्णुस्वामी, रामानुज, माधवाचार्य तथा निम्बादित्य की परंपरा—तथा आचार्यों के संक्षिप्त परिचय दिए गए हैं। चारों उप-संप्रदायों—श्री चैतन्य महाप्रभु, नंद, प्रकाश तथा स्वरूप—का भी उल्लेख किया गया है। 'वल्लभीय सर्वस्व' छोटा-सा ग्रन्थ है, जिसमें केवल श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु के विषय में कुछ विस्तार से लिखा गया है। इसमें उनकी जीवनी तथा उनके स्वमत-प्रचार का वृत्तांत दोनों दिया गया है।

'तदीय सर्वस्व' श्री नारदीय भक्तिसूत्र का व्याख्या-युक्त अनुवाद है। पहले यह 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' की पाँचवीं संख्या में सन् १८७४ ई० की फरवरी में मूल तथा

अर्थ सहित प्रकाशित हुआ था। उनके अनंतर प्रत्येक सूत्र की विस्तृत व्याख्या लिख कर यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया। ग्रन्थकार ने परमेश्वर-प्राप्ति के परम साधन प्रेममार्ग दिखाने के लिए ही यह ग्रन्थ लिखा है। "सारी सृष्टि के एकस्रष्टा का भिन्न-भिन्न नाम रख कर जो मत-मतान्तर तथा विद्वेष फैला हुआ है, विषमता को दूर करने को इस ग्रन्थ का आविर्भाव है।"

'भक्तिसूत्र-वैजयंती' पहले हरिश्चन्द्र मैगजीन की अक्तूबर, नवम्बर तथा जनवरी की संख्याओं में प्रकाशित हुई थी। श्रुतियों के बाद मूल सूत्रों का बहुत आदर है। भक्तिशास्त्र पर श्री नारद तथा शांडिल्य ऋषि के सूत्र सर्वमान्य हैं। इन्हीं में दूसरे का व्याख्या-युक्त अनुवाद ही यह ग्रन्थ है। इसमें सौ सूत्र हैं और भक्ति की महत्ता दिखलाई गई है। ग्रन्थ के अंत मे 'दैन्य-प्रलाप' नाम से आठ पद भी इसमें दिए गए हैं।

'सर्वोत्तम स्तोत्र भाषा' में श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु के एक सौ आठ नाम दिए गए हैं। यह गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथ जी रचित स्तोत्र का अनुवाद है। 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में एक सौ इकतालीस छप्पय तथा सत्तर दोहे हैं। अंत में एक श्लोक भी दिया है। प्रियादास तथा नाभादास जी के भक्तमाल की रचना के बाद हुए भक्तों तथा पहले समय के भी छूटे हुए भक्तों का वृत्तांत इसमें भारतेन्दु जी ने संगृहीत किया है। इसकी रचना--

उनइस सै तैंतीस वर, संवत् भादो मास।
पूनों शुभ ससि दिन कियो, भक्तचरित्र प्रकास॥

इस ग्रन्थ को इन्होंने पहले चन्द्रिका में प्रकाशित किया था। कवि ने पहले आचार्य-परम्परा की वन्दना की है और तब ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य बतलाते हुए स्ववंश-वर्णन दिया है। मूल-ग्रन्थ के अन्त में विनम्र-निवेदन करते हुए अपने सबंध में लिखा है:--

जगत जाल में नित बँध्यों, परयो नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित, झूठो कवि हरिचन्द॥

वर्ष भर के उत्सवों तथा संक्षेप सेवा-श्रृङ्गारादि वर्णन में एक छोटी-सी पुस्तिका 'उत्सवावली' बनाई थी। इसमें एकादशी व्रत दान आदि का भी वर्णन दिया है। 'वैष्णवता और भारतवर्ष' में यह समर्थन विशेष रूप से किया गया है कि भारत में वैष्णवमत बहुत प्राचीन है और विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण तथा श्रीराम की भक्ति तथा उपासना यहाँ बहुत दिनों से तथा दृढ़ता से प्रचलित है। हिन्दू मात्र

किसी न किसी रूप में इन्हीं की पूजा करते हैं पर आपस के मतमतांतर के कारण झगड़ते रहते हैं। अंत में लेखक ने देश में फैली हुई आपस की फूट को दूर कर 'सब आर्यमात्र एक रहो' यही उपदेश दिया है, जो आज भी वांछनीय है।

'अष्टादशपुराणोपक्रमणिका' में व्यासकृत अठारह पुराणों की श्लोकसंख्याओं तथा उनके प्रत्येक के स्कंध आदि विभागों के कथानकों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। "इससे पाठकों को यह लाभ है कि वे किस पुराण में अथवा उसके किस अंश में क्या कथा भाग है, इसे झट जान सकेंगे।"--सहज में लोग जान जायँगे कि चार लाख श्लोक समूह के अठारह टुकड़ों में क्या-क्या विषय सन्निविष्ट हैं।" यह पहले-पहल सन् १८७५ ई० की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में प्रकाशित हुई थी।

तिरानबे दोहों में 'वैशाख-माहात्म्य' दिखलाया गया है। इस मास में श्रद्धालुओं को क्या करना चाहिए, यह बतलाया गया है। कार्तिक कर्मविधि में इस महीने की पुराणानुमोदित नित्यक्रियाएँ वर्णित हुई हैं। खान, पान, दान, स्नान आदि सभी का शास्त्र के वचनों सहित विवरण दिया गया है। 'कार्तिक नैमित्तिक-कृत्य' में महीने के तीसों दिन का अलग-अलग कृत्य बतलाया गया है। 'कार्तिक स्नान' में बीस दोहे और पचीस पद हैं। इसमें श्रीकृष्ण के अनन्य प्रेम तथा दीपदान-लीला का वर्णन है। कहा जाता है कि किसी वर्ष बीमारी के कारण यह गंगा-स्नान को न जा सके थे, इस लिये ये पद बनाए थे। 'मासानांमार्गशीर्षोऽहम्' से पवित्र महीने की महिमा वर्णन में 'मार्गशीर्ष महिमा' लिखी गई। इसमें भी महीने भर के नित्य-कर्म की विधि दी है। अंत में माघ-स्नान-विधि भी संक्षेप में दे दी गई है। 'वृहन्नारदीयपुराण' से संकलित कर 'पुरुषोत्तम मास विधान' लिखा गया। इसमें स्नान-दान की विधि लिखी है। अंत में पाँच पद 'पुरुषोत्तम पंचक' नाम से दिए गए हैं।

काव्य

राजभक्ति-पूर्ण तथा धर्म-सम्बन्धी पद्य-रचनाओं का अलग उल्लेख हो चुका है। इसमें भारतेन्दु जी की अन्य-पद्य रचनाओं का वर्णन दिया जायगा। इन्होंने प्रबन्ध-काव्य लिखने का प्रयास ही नहीं किया है और स्वरचित मुक्तक छन्दों के ही संग्रह अनेक नामों से संकलित किए हैं। गाने योग्य पदों की संख्या अधिक है और छंदों में सवैया, कवित्त, दोहे आदि ही इन्हें विशेष प्रिय थे, इससे इनकी रचना में इन्हीं का आधिक्य है। इनकी कविता में रसों में शृङ्गार तथा भक्ति ही प्रधान हैं, और शृङ्गाररस भी प्रेममयलीलासम्बन्धिनी ही विशेष कर होने से पाठकों के

हृदय में किसी प्रकार से कुरुचि-उत्पादक नहीं है। हरिश्चन्द्रकला के काव्य-खंड में अट्ठाइस पुस्तकें संगृहीत की गई हैं, जिनमें से कई एक पृष्ठ तक की हैं। सात काव्य-संग्रह शुद्ध प्रेम पर बने हैं, जिनके नाम प्रेम-फुलवारी, प्रेम-प्रलाप, प्रेमाश्रुवर्षण, प्रेम-माधुरी, प्रेम-मालिका प्रेम-तरंग और प्रेम-सरोवर हैं। नवोदिता चंद्रिका में एक अन्य प्रेम-प्रलाप के २४ पृष्ठ छपे हैं, जिनमें ५१ पद हैं। इनमें कवित्त, सवैये तथा गाने योग्य पद हैं। प्रेम-फुलवारी में "जगत पावन करन" प्रेम का वर्णन है। इस ग्रंथ को कवि ने भूमि, वृक्ष, मूल तथा फल चार भाग में बाँटा है। प्रथम में तेरह, दूसरे में छियालिस, तीसरे में आठ और चौथे में तेरह पद हैं। अंत में तेरह पद श्री स्वामिनी जी की स्तुति में हैं। इसके सभी पद सुन्दर हैं और इस प्रेम के फल-स्वरूप भक्त के हृदय में कैसा युगल-ध्यान प्रस्फुटित होता है, उसे कवि यों कहता है—

मन करु नित-नित यह ध्यान।
सुन्दर रूप गौर-श्यामल छबि जो नहिं होत बखान॥
मुकुट सीस चन्द्रिका बनी कनफूल सुकुण्डल कान।
कटि काछिनि सारी पग नूपुर बिछिया अनवट पान॥
कर कंकन चूरी दोउ भुज पै बाजू सोभा देत।
केसर खौर बिंदु सेंधुर को देखत मन हरि लेत॥
मुख पै अलक पीठ पै बेनी नागिनि सी लहराति।
चटकीली पट निपट मनोहर नील पीत फहराति॥
मधुर मधुर बंसी अधरन धुनि तैसी हीं मुस्कानि।
दोउ नैननि रस भीनीं चितवनि परम दया की खानि॥
ऐसो अद्भुत भेष बिलोकत चकित होत सब आय।
'हरीचन्द' बिनु जुगल-कृपा यह लख्यौ कौन पै जाय॥

प्रेम-प्रलाप में सत्तर पद संगृहीत हैं, जिनमें संस्कृत की एक अष्टपदी है और दो पद गुजराती भाषा के हैं। इसके अधिकांश पदों में प्रेमजनित उन्माद के भाव भरे हुए हैं। "खुटाई पोरहि पोर भरी", "अनीतै कहौ कहाँ लौं सहिए", "जनन सों कबहूँ नाहिं चलीं" आदि पद भक्तों के प्रलाप ही हैं। प्रेमाश्रुवर्षण में छिआलिस पद हैं और सभी वर्षाऋतु की क्रीड़ा के हैं। वर्षा हो रही है और उसी में हिंडोले पर झूलने, भींजते हुए कुंजों में छिपने, वर्षा के अनन्तर भ्रमण करते हुए तथा दृश्यावली को देखते हुए आपस के कथोपकथन आदि का वर्णन है। एक पद में प्रेमाश्रुवर्षण है। एक पद में प्रेमाश्रुवर्षण से नदी ही बहा कर स्वयं डूबती हुई की रक्षा करने की महाबाहु से प्रार्थना की गई है, देखिए—

हमारे नैन बहीं नदियाँ ।

बीती जान औधि सब पिय की जे हम सों बदियाँ ॥
अवगाह्यौ इन सकल अंग ब्रज अंजन को धोयो ।
लोक-वेद-कुल-कानि बहायों सुख न रह्यो खोयो ॥
डूबत हौं अकुलाइ अथाहन यहै रीति कैसी ।
'हरीचंद' पिय महाबाहु तुम आछत गति ऐसी ॥

भारतेन्दु जी ने प्रेम की सारी माधुरी प्रेम-माधुरी के दो दोहों तथा एक सौ बाईस सवैयों में भर दी है । वाग्जाल तथा अलंकार आदि से लदी-फदी कविता के अन्वेषकों को इनमें उनका मनोनीत आस्वादन चाहे न मिले, पर स्वच्छ स्वाभाविक निर्मल वाग्धारा के प्रेमियों को इनमें वह स्वाद तथा मधुरिमा मिलेगी जो सर्वदा उनके जिह्वाग्र पर रहा करेगी । भारतेन्दु जी को अपनी काव्य-रचनाओं में यह सब से अधिक प्रिय थी और यह इस योग्य है । जैसी स्वच्छ भाषा है, वैसे ही उमड़ते हुए भाव भी व्यक्त किए गए हैं जिन्हें समझने में टीका, कोष आदि किसी की सहायता वांछनीय नहीं है । सभी सवैये एक से एक बढ़ कर हैं । पहली ही सवैया लीजिये —

राखति नैननि मैं हिय मैं भरि दूर भएँ छिन होत अचेत है ।
सौतिन की कहै कौन कथा तसवीर हू सों सतराति सहेत है ॥
लाग भरी अनुराग भरी 'हरिचंद' सबै रस आपुहि लेत है ।
रूप-सुधा इकली हीं पियै पिय हू कों न आरसी देखन देत है ॥

प्रीतम कठिन प्रेम के पाले पड़ गया है । प्रेमिका के अनन्य प्रेम का बहुत ही अच्छा वर्णन है । क्षण मात्र के वियोग की असह्यता भी दिखला दी गई है । पति पर ऐसा प्रेम है कि उसे आँखों तथा हृदय में रख छोड़ा है और केवल अकेले रूप-सुधा बैठ कर पीते हुए भी नहीं अघाती । प्रेमावेश के कारण वह अपनी चीज किसी को देखने नहीं देती, दूसरे की कौन कहे पति राम आप भी अपना मुख नहीं देख सकते । क्यों, कहीं अपने ही ऊपर न रीझ जायं । सारा रूप-रस अपने ही चखना चाहती है । दूसरी वहाँ कब फटक सकती थी जब अन्य रमणी के चित्र को वहाँ देख कर वह कुपित होती थी । सत्य ही प्रेम अंधा है, वह अपनी स्वार्थान्धता के आगे दूसरे का कुछ भी विचार नहीं रखता ।

प्रेममालिका में निन्यानबे पद संगृहीत हुए हैं । इसमें एक तो लीला-सम्बन्धी, दूसरे दैन्य भाव के और तीसरे परम प्रेममय पवित्र अनुभव के हैं । ये सभी पद

अत्यंत सरल भाषा में हैं और प्रेम से परिप्लुत हैं। उपालंभ, कटूक्ति, विनय सभी अनूठे हैं। प्रेमतरंग बड़ा संग्रह है। इसमें एक सौ अड़तालिस पद हैं। इसके प्रायः सभी पद साधारण सांसारिक प्रेम के हैं, कुछ कृष्णलीला सम्बन्धी भी हैं। इनमें दो-एक पंजाबी भाषा के भी पद हैं। एक बारहमासा तथा कई लावनियाँ और ग़ज़ल भी संगृहीत हैं। छियालिस बंगाली पद हैं, जिनमें 'चन्द्रिका' उपनाम दिया हुआ है। एकतालिस दोहों का 'प्रेम सरोवर' अनूठा पर छोटा संग्रह है। इसकी भूमिका, जो सं० १९३० की अक्षय तृतीया को लिखी गई थी, प्रेमरस से लबालब भरी है। इसकी रचना 'प्राननाथ के न्हान हित' हुई है, इसलिये वहाँ तक पहुँचने के प्रेम-मार्ग की दुरूहता चौदह दोहों में बतलाई गई है। इसके अनंतर जलाशय की शोभा का वर्णन सात दोहों में हुआ है। सात दोहों में प्रेम का महत्त्व बतलाया गया है और सात ही दोहों में प्रेम का किन में अभाव होता है, यह बतला कर अन्तिम चार दोहों में सच्चे प्रेम की परिभाषा की गई है।

'होली' संग्रह में उन्यासी पद हैं, जो होलिकोत्सव के अवसर पर गाने योग्य हैं। दूसरा संग्रह 'मधुमुकुल' अर्थात् होली के पदों का संग्रह सं० १९३७ के फाल्गुन में तैयार हुआ था। इसका उसी वर्ष जो संस्करण हुआ था, उसमें ग्यारह पद भारतेन्दु जी के पिता के तथा संस्कृत का एक पद गोपाल शास्त्री का संगृहीत था। इनके सिवा एक सौ बाईस पद भारतेन्दु जी के हैं, जिनमें एक संस्कृत का और चार-पाँच पंजाबी के हैं। दो-चार ग़ज़ल आदि भी स्वरचित बन्दर-सभा से भी इस संग्रह में संकलित कर लिए गए हैं। इसमें सभी पद होली ही के हैं। खड्गविलास प्रेस की 'हरिश्चन्द्रकला' के 'मधुमुकुल' में केवल बयासी पद हैं। ज्ञात नहीं कि यह संग्रह किस प्रकार किया गया है। इस संग्रह के मुखपृष्ठ पर नीचे लिखे दो दोहे दिए गए हैं, जिनमें इस संग्रह के नामकरण का उद्देश्य दिया हुआ है।

> मधु रिपु मधुर चरित्र मधु पूरितमृदु मुद रास।
> हरिजन मधुकर सुखद यह नव मधुमुकुल प्रकास॥
> हृदय बगीचा अश्रु जल बन-माली सुख बास।
> प्रेमलता में यह भयो नव मधुमुकुल विकास॥

सं० १९३९ में एक दर्जन लावनियों का संग्रह 'फूलों का गुच्छा' नाम से प्रकाशित हुआ। इनके सिवा 'प्रेमतरंग' में भी कुछ लावनियों के संगृहीत होने का उल्लेख हो चुका है। 'विनयप्रेम पच्चासा' में यथानाम विनय के पचास

पद संगृहीत हैं। छः दोहे, दो कवित्त तथा दो सवैये भी इसमें हैं। इसके तीसरे पद में कवि ने अपने ईश्वर का इस प्रकार आह्वान किया है:—

नैनन में निवसो पुतरीं ह्वै हिय में बसो ह्वै प्रान।
अंग अंग संचरहु सुक्ति ह्वै एहो मीत सुजान॥
नभ ह्वै पूरौ मम आँगन में पवन होइ तन लागौ।
ह्वै सुगंध मो घरहि बसावहु रस ह्वै के मन पागौ॥
श्रवनन पूरौ होइ मधुर सुर अंजन ह्वै दोउ नैन।
होइ कामना जागहु हिय में करहु नींद बनि सैन॥
रहौ ज्ञान मैं तुम हीं प्यारे तुम मय तन्मय होय।
'हरीचंद' यह भाव रहै नहिं प्यारे हम तुम दोय॥

अठारह पद में 'देवीछद्म लीला' समाप्त हो गई है। श्री राधिका जी का मान कर देवी का रूप बनाना तथा सखियों का सिद्धक बन कर कृष्ण जी से उनकी पूजा कराना और अन्त में मिलना दिखलाया गया है। छब्बीस पदों में प्रात: स्मरण मंगल पाठ है, जिनमें प्रत्येक पद का मंगल शब्द से आरंभ हुआ है। दस पदों में भीष्म-स्तवराज बना है। श्रीनाथ-स्तुति में छः छप्पय और अपवर्ग पंचक में पाँच छप्पय हैं। प्रथम में श्रीकृष्ण जी की और दूसरे में श्रीकृष्ण जी, श्री राधिका जी तथा श्री वल्लभाचार्य जी की वन्दनाएँ हैं। 'श्रीसीतावल्लभस्तोत्र' संस्कृत में है और इसमें तीस श्लोक हैं।

'वर्षाविनोद' बड़ा संग्रह है, जिसमें एक सौ चौंतीस पद हैं। आरम्भ के कुछ पद वर्षा में गाने योग्य हैं और बाद के अन्य पद लीला-सम्बन्धी हैं। इनमें कजली मलार, खेमटा, ग़ज़ल, हिंडोला आदि हैं। संस्कृत की भी दो कजलियाँ हैं। इनमें 'काहे तू चौका लगाये जयचंदवा', 'टूटे सोमनाथ को मंदिर केहू लागै न गोहार', 'देखो भारत ऊपर कैसी छाई कजरी', आदि भारत की राजनीतिक तथा जातीय दुर्दशा और 'धन धन भारत के सब छत्री जिनकी सुजस धुजा फहराय' आदि पूर्व गौरव बतला रहे हैं। श्रीकृष्ण, राधाजी तथा चन्द्रावलीजी के जन्मोत्सव के पद भी हैं। अंतिम के लिये लिखा है कि 'प्रगटी सखी स्वामिनी की ब्रज सब मिलि नाचत गाई।' यहाँ भी स्वामिनी श्री राधिकाजी हैं। एक पद इसका यहाँ दिया जाता है :—

हमारी श्री राधा महरानी।
तीन लोक को ठाकुर जो है ताहू की ठकुरानी॥

सब ब्रज की सिरताज लाडिली सखियन की सुखदानी।
'हरीचंद' स्वामिनि पिय कामिनि परम कृपा की खानी॥

बिहारी की सतसई के परिचय के लिये उसका नाम मात्र ही पर्याप्त है। इसके बहुत से दोहों पर पठान की बनाई हुई कुण्डलियाँ प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु जी ने उसी को देख कर इस सतसई के पचासी दोहों पर कुण्डलियाँ बनाईं, जो 'सतसई-सिंगार' के नाम से प्रकाशित हुई। किसी-किसी दोहे पर चार-पाँच कुण्डलियाँ तक बनी हैं, जिससे इनमें कुल एक सौ उन्नीस कुण्डलियाँ संगृहीत हैं। इससे अधिक दोहों पर कुण्डलियाँ बनाने का अवकाश ही उन्हें न मिल सका। यह सन् १८७५ ई० की मई से सितम्बर महीने तक की पाँच महीनों की एक साथ निकलनेवाली 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' की संख्या से छपने लगा था। 'बिहारी-बिहार' के कर्त्ता लिखते हैं कि "कई वर्ष के श्रम में केवल कई सौ दोहों पर इन ने कुण्डलियाँ बनाईं परन्तु ग्रन्थ पूरा न हुआ।" आत्माभिमानी विद्वद्वर व्यास जी ने अहंता के कारण पूर्वोक्त वाक्य बिना समझे लिख मारा है क्योंकि पूरे सौ दोहों पर भी कुण्डलियाँ नहीं बनी हैं। आरम्भशूर भारतेन्दु जी के स्यात् दो-चार दिन के श्रम का फल प्राप्त 'सतसई-सिंगार' है।

किसी जैन मंदिर में जाने के कारण निंदा होने पर भारतेन्दु जी ने छत्तीस पद रचे थे, जिनका संग्रह 'जैन कुतूहल' ग्रन्थ है। इन्होंने दिखलाया है कि हमारे ही ईश्वर जैनों के भी स्रष्टा हैं और दूसरा कोई ईश्वर आया ही कहाँ से--

पियारे दूजो को अरहंत !
पूजा जोग मानि कै जग में जाको पूजैं संत।
अपनी अपनी रुचि सब गावत पावत कोउ नहिं अंत।
'हरीचंद' परिनाम तुहीं है तासों नाम अनंत॥

बंशी की मधुर ध्वनि के वर्णन में तेरह पदों का एक छोटा संग्रह 'बेणुगीति' के नाम से ग्रथित किया गया है जिसके आरम्भ में आठ और अंत में तीन दोहे हैं। गाने योग्य पदों का एक बड़ा संग्रह 'रागसंग्रह' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें एक सौ इक्कावन भजन हैं। इसमें अनेक राग-रागिनी के पद हैं, जो विशेषतः ग्रीष्म ऋतु के समय के हैं। जयंतिओं, जन्म तथा बाल-लीला वर्णन के और दैन्य संबंधी पद भी इसमें संगृहीत हैं। वल्लभाचार्य, श्री गिरिवर जी आदि के सुयश-कीर्तन के पद भी दिए गए हैं। यह संग्रह सन् १८८४ ई० के लगभग पहली बार प्रकाशित हुआ था। 'प्रातःस्मरणस्तोत्र' में बारह पद हैं। इसके पाठ का फल कवि ने यों बतलाया है--

द्वादश द्वादश अर्द्ध पद प्रात पढ़े जो कोय।
हरि-पद-बल 'हरिचंद' नित मंगल ताको होय॥

'स्वरूप-चिंतन' में तेरह छप्पयों में श्रीकृष्ण जी के प्रधान-प्रधान मंदिरों की मूर्तियों के नामकीर्तन किए गए हैं। इन सभी में बालस्वरूप ही का वर्णन है। प्रबोधिनी मे पच्चीस छप्पय हैं। यह कार्तिक शुक्ल एकादशी के, जो देवोत्थान या प्रबोधिनी कही जाती है, उत्सव पर रचे गए हैं। उस दिन चातुर्मास के अनंतर विष्णु भगवान् की निद्रा खुलती है। उस अवसर पर भगवान् को जगाने के लिये मंगलवादन, पार्षद-भक्तादि की उपस्थिति, सखी-गोपी आदि का व्रज में गायन-वादन, बालकों का सवेरे का शृङ्गार इत्यादि वर्णित हैं। देश-प्रेम के कारण भारत के प्राचीन विख्यात राजाओं के न रहने पर तथा मुसलमानों द्वारा देश की दुर्दशा पर रुदन करते हुए परमेश्वर से जागने के लिये इस प्रकार प्रार्थना की गई है—

डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिशि सों लागो॥
महामूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो।
कृपादृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो॥
अपुनो अपुनायो जानि कै करहु कृपा गिरवरधरन।
जागो बलि बेगहि नाथ अब देहु दीन हिंदुन शरन॥

इक्कीस पयार छंदों में 'प्रातसमीरन' का अच्छा वर्णन मृदु शब्दावली में किया गया है। प्रातःकालीन वायु लगने से संसार के सजीव हो जाने का स्निग्ध वर्णन इस बंगला छंद में किया गया है। 'कृष्णचरित्र' में छिआलिस पद, तीन कवित्त और दो सवैये हैं। गंगाजी की महिमा के आठ-दस पदों को छोड़ कर बाकी सब कृष्णजी के चरित्र-वर्णन में हैं।

स्फुट ग्रन्थ तथा लेख

परिहास-प्रिय भारतेन्दु जी की विनोदपूर्ण रचनाओं में व्यंग्य-मिश्रित आक्षेप तथा उपदेश दोनों ही रहते थे। 'प्रहसन-पंचक' में ज्ञाति विवेकिनी सभा, स्वर्ग में विचार सभा, सबै जाति गोपाल की, बसंत-पूजा और संड-भंड्योः संवादः-पाँच लेख हैं। पहले में एक गड़ेरिये को क्षत्रिय होने की व्यवस्था मिली है, जिस पर प्रसन्न हो दक्षिणा देकर वह सपत्नीक गाता है—

आव मेरी जानी सकल रस खानी।
धरि कँध बहियाँ नाचु मन मानी॥

मैं भैलों छतरी तू धन छतरानी।
अब सब छुटगै रे कुल केर कानी॥
धन धन बम्हना लै पोथिया पुरानी।
जिन दियो छतरी बनाय जग जानी॥

दूसरा लेख स्वामी दयानन्द तथा केशवचन्द्र सेन की मृत्यु पर लिखा गया था, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'क्रानिकल पत्र' में छपा था। उस विचार सभा में यह प्रश्न उठाया गया था कि उक्त दोनों सज्जनों को स्वर्ग में स्थान मिलेगा या नहीं। इस पर सेलेक्ट कमेटी द्वारा रिपोर्ट ईश्वर के पास भेजवाई गई है, पर उस पर क्या आज्ञा हुई, इस विषय पर लिखा है कि "जब हम भी वहाँ जायँगे और फिर लौटकर आ सकेंगे तो पाठक लोगों को बतलावेंगे या आप लोग कुछ दिन पीछे आप ही जानेंगे।" तीसरे लेख में नीच जाति के उच्च तथा उच्च के नीच होने की व्यवस्था दिलाते हुए दिखलाया गया है कि 'सबै जाति गोपाल की' है।

परिहासिनी में भी इसी प्रकार के लेख संगृहीत हैं, जिनमें एक पाँचवाँ पैगम्बर भी है। वेश्या स्तोत्र, अंग्रेज स्तोत्र, कंकड़ स्तोत्र आदि इसी प्रकार के अनेक छोटे-छोटे गद्य-पद्यमय लेख हैं। अंधेरनगरी, नीलदेवी आदि नाटकों में भी अवसर पाते ही व्यंग्य तथा परिहास की छटा दिखलाते रहे हैं। 'अमानत' के 'इन्दर सभा' के वजन पर 'खियानत' नाम से एक 'बन्दर सभा' भी लिखा है। यह अप्राप्त है, पर इसमें के कुछ गाने 'मधुमुकुल' आदि संग्रहों में मिलते हैं।

उपन्यास और आख्यायिका की ओर इनकी दृष्टि बहुत बाद फिरी, और अवस्था कम प्राप्त होने से यह इस ओर विशेष कुछ न कर सके। गद्य-पद्यमय 'रामलीला' लिखी है, जिसमें अयोध्याकांड तक की लीला सन्निवेशित है। हम्मीर-हठ का एक परिच्छेद लिखा था, पर उसे यह पूर्ण न कर सके। बंकिमचन्द्र चैटर्जी के 'राजसिंह' का अनुवाद अधूरा होकर रह गया। इसे बाद को बा० राधाकृष्णदास जी ने पूरा किया था। एक कहानी 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' में अपना कटु अनुभव लिख रहे थे पर यह भी एक परिच्छेद मात्र लिखी गई। 'मदाल-सोपाख्यान' पूरा छप गया है। यद्यपि भारतेन्दु जी ने एक भी पूरा उपन्यास नहीं लिखा है पर एक पत्र से ज्ञात होता है कि इन्हीं के उत्साह दिलाने से उस समय स्वर्गीय श्री गोस्वामी राधाचरण जी ने 'दीपनिर्वाण' तथा 'सरोजिनी' का उल्था किया, और बा० गदाधर सिंह ने कादंबरी का संक्षिप्त तथा 'दुर्गेशनन्दिनी' का पूरा अनुवाद किया था। पं० रामशंकर व्यास द्वारा 'मधुमती' और बा० राधाकृष्णदास

द्वारा 'स्वर्गलता' अनुवादित हुई थीं। 'चन्द्रप्रभा पूर्णप्रकाश', 'राधारानी', 'सौन्दर्यमयी' आदि भी इसी प्रकार अनुवादित हुई थीं।

भारतेन्दु जी ने 'कुरान शरीफ़' के कुछ अंश का भी हिंदी में अनुवाद किया था। उर्दू में स्वयं 'रसा' उपनाम से कविता करते थे और अन्य कवियों के अच्छे-अच्छे गजलों का एक संग्रह 'गुलज़ारे-पुरबहार' के नाम से प्रकाशित भी किया था। सन् १८८३ ई० में 'क़ानून ताज़ीरात शौहर' अदालती उर्दू में लिखा था, जिसका तारीखी किता फारसी में लिखा है। इसे उन्होंने एक दिन रात के समय दो तीन घण्टे में लिखवा दिया था। खुशी पर पन्द्रह पृष्ठों का बड़ा लेख लिख डाला है, जो बोलचाल की उर्दू में है।

'हिंदी भाषा' में प्राचीन तथा वर्तमान भाषाओं के नमूने संगृहीत किए हैं। पंजाबी, बैसवाड़ी, बङ्गला आदि की कविताओं के उदाहरण तथा अनेक स्थानों की बोली के नमूने गद्य में दिए हैं। जी० एफ० निकौल तथा फ्रेडरिक पिनकॉट नामक अंग्रेजों के हिंदी भाषा के पत्र भी उद्धृत कर अंग्रेजी-हिंदी का नमूना दिखलाया है। इसके अनंतर बिहारी भाषा के गद्य तथा पद्य के नमूने भी मनोरंजक हैं। अन्त में हिन्दी की उन्नति पर अपना लेक्चर तथा 'कविताष्टक' देकर पुस्तक समाप्त किया है। 'संङ्गीतसार' में गान-विद्या का इतिहास तथा उसके भेदोपभेद का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। नवोदिता चन्द्रिका में 'कृष्ण भोग' छपा है, जिसमें अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ बनाने का वर्णन है। इन सब के सिवा छोटे-छोटे बहुत से लेख लिखे हैं, जिनका अब तक कोई संग्रह नहीं हुआ है। ये इनके प्रकाशित पत्रों की पुरानी फाइलों में बंद पड़े हुए हैं।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने अन्य लोगों के कितने ग्रंथ भी सम्पादित करके प्रकाशित किए थे, जिनमें हठी कवि कृत 'श्रीराधासुधा-शतक', घनानन्द कृत 'सुजान शतक', रत्नहरिदास कृत 'कौशलेश कवितावली', संतोष सिंह कृत 'कवि-हृदय सुधाकर' आदि मुख्य हैं। अपने पिता बा० गोपालचन्द्र जी की कई रचनाएँ भी इन्होंने संपादित कर छपवाई थीं। सुन्दरी-तिलक सवैयों का एक अनूठा संग्रह इन्होंने संकलित किया था। इसे कुछ लोगों ने उसी समय इनका बिना नाम दिए ही प्रकाशित कर लिया था। इस संग्रह का आधुनिक संस्करण बहुत बड़ा हो गया है। श्री काशिराज के आज्ञानुसार काष्ठजिह्वा स्वामी के पदों के कजली मलार-संग्रह तथा चैती घाटो संग्रह छापे थे। पावस कविता संग्रह में उसी ऋतु की कविता संगृहीत हुई है।

इतिहास

भारतवर्ष सदा से इस लोक के परे परलोक की ओर ही विशेष दृष्टि रखता था और यही कारण है कि उसके प्राचीन साहित्य में धार्मिक ग्रंथों का जितना आधिक्य है उतना अन्य विषयों के ग्रंथों का नहीं है। इसी निवृत्ति-मार्ग के ग्रहण करने के कारण पुराणों ने, जो वास्तव में इतिहास ग्रंथ हैं, धार्मिक रूप धारण कर लिया है और इनके पढ़ने का फल भूतकाल के इतिहास का ज्ञान न रह कर मोक्षप्राप्ति का साधन समझ लिया गया है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में विक्रम शाका के चलने के बहुत दिनों बाद के लिखे गए कुछ काव्य अवश्य मिलते हैं, जिनमें ऐतिहासिक वृत्तों का समावेश हुआ है। शृङ्खलाबद्ध इतिहास का अन्वेषण निरर्थक है, केवल 'राजतरंगिणी' ही एक ऐसा ग्रंथ उपलब्ध है, जिसमें काश्मीर का क्रमबद्ध इतिहास दिया गया है। हो सकता है कि इस प्रकार के कुछ और ग्रंथ भी पहले रहे हों और समय, धार्मिक द्वन्द्व तथा राज्यों के उलट-फेर में वे नष्ट हो गए हों। हिन्दी साहित्य में भी आज से अस्सी-नब्बे वर्ष पहले के निर्मित कितने इतिहास-ग्रंथ हैं, जो वास्तव में इतिहास कहे जा सकते हैं। हिन्दी के आरम्भ के वीरगाथा-काल में अवश्य कुछ रासो लिखे गए हैं, जिनमें किसी-किसी वीर राजा की चढ़ाइयों, युद्धों आदि का उत्तम वर्णन हैं। वे कवितावद्ध जीवनियाँ कही जा सकती हैं। किसी-किसी के आरम्भ में वंशावली भी दी गई है। मराठा उत्थान-काल में भी कई काव्य ऐसे बने जिनमें शिवाजी छत्रसाल, राजसिंह आदि से वीरों का वर्णन है। राजस्थान की ओर ख्यातों के लिखने की प्रथा पुरानी है और उनमें उस प्रांत के इतिहास की सामग्री भी बहुत है, पर वे एक-एक राजवंश का वर्णन करती हैं, और समग्र भारत क्या पूरे प्रांत तक के इतिहास से सम्बन्ध नहीं रखतीं। ये राजस्थानी भाषाओं में हैं। हिन्दी गद्य साहित्य का आरम्भ भी उन्नीसवीं ईसवी शताब्दी के साथ-साथ होता है और उस काल में भी कुछ पाठ्य-ग्रंथों के बनने के सिवा विशेष कुछ न हुआ। प्रायः उसके साठ वर्ष बाद भारतेन्दु जी ने जब हिन्दी साहित्य के सभी अंगों की पुष्टि की ओर अपनी लेखनी चलाई और मातृ-भाषा प्रेम का अविरल स्रोत बहाया तभी से हिन्दी की उत्तरोत्तर श्री-वृद्धि होती चली जा रही है। उनके समय तक केवल इतिहास की दो चार छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी गई थीं, जो अंग्रेजी की अनुवाद मात्र थीं। भारतेन्दु जी ने इस अंग की कमी की ओर दृष्टि फेरी और कई पुस्तकें लिख डालीं।

प्राचीन समय के ऐतिहासिक अन्वेषण का भी हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु जी ही ने आरम्भ किया है, और पुरावृत्त संग्रह, रामायण का समय आदि कई पुस्तकें

लिखी हैं। इन्होंने स्वयं अन्वेषक (ऐंटिक्वेरियन) शब्द की परिभाषा यों की है कि "जो मूर्तियाँ मिलें वह जैनों की हैं, हिन्दू लोग तातार से वा और कहीं पश्चिम से आए होंगे, आगे यहाँ मूर्तिपूजा नहीं होती थी इत्यादि कई बातें बहुत मामूली हैं, जिनके कहने ही से आदमी ऐंटिक्वेरियन हो सकता है।" इस प्रकार के अन्वेषकों से भारतीय प्राचीन इतिहास का उद्धार होना असंगत ही था। हिन्दी में उस समय तक इस विषय पर कुछ लिखा ही नहीं गया था, इसलिये भारतेन्दु जी ने इस ओर पहले पहल दृष्टि देकर कुछ लिखना आरम्भ कर दिया। पुरातन वृत के अनुसंधान में इन्होंने बहुत कुछ व्यय कर प्राचीन प्रशस्तियों, लेखों आदि की प्रतिलिपियाँ एकत्र की थीं, और बहुत से पुराने समय के सिक्के भी संग्रह किये थे। इनके ग्रंथों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि इन्हें इतिहास से बहुत प्रेम था, और उस विषय का इनका ज्ञान भी बहुत बढ़ा-चढ़ा हुआ था। 'हरिश्चन्द्रकला' के द्वितीय खंड इतिहास समुच्चय में तेरह पुस्तकें संगृहीत हैं। इन सब से भी पुरावृत्त की ओर ही इनकी रुचि विशेष रूप से पाई जाती है।

पहला ग्रंथ 'काश्मीर-कुसुम' है। इसकी भूमिका में भारतेन्दु जी लिखते हैं कि "काश्मीर के इतिहास में कल्हण कवि की 'राजतरंगिणी' मुख्य है।......कल्हण ने जयसिंह के काल में सन् ११४१ ई० में 'राजतरंगिणी' बनाई। यह काश्मीर के अमात्य चंपक का पुत्र था..... इसके पीछे जोनराज ने सन् १४१२ ई० में राजावली बनाकर कल्हण से लेकर अपने काल तक के राजाओं का उसमें वर्णन किया। फिर उसके शिष्य श्रीवरराज ने १४७७ ई० में एक ग्रंथ और बनाया। अकबर के समय प्राज्यभट्ट ने इस इतिहास का चतुर्थ खंड लिखा।" यद्यपि यह समस्त ग्रंथ उस समय प्राप्त हो गया था, पर उसके केवल छः सर्गों का अनुवाद उस समय तक प्रकाशित हुआ था। इस तथा अन्य कई फारसी और अंग्रेजी के ग्रंथों के आधार पर भारतेन्दु जी ने इस ग्रंथ की रचना की है। भूमिका के अनंतर वर्तमान राजवंश का संक्षिप्त परिचय देकर राजतरंगणी की समालोचना की गई है। इसके बाद श्री हर्षदेव के विषय में कुछ लिखकर एक लम्बी तालिका दी है, जिसमें द्वापर काल के आदि-गोनर्द राजा से अपने समय के महाराज रणवीर सिंह तक के २१३ नरेशों का वर्णन दिया है। इसमें पुरातत्वज्ञ ट्रायर, कनिंगहम और विलसन के मतों के अनुसार अलग अलग समय प्रायः बहुत से राजाओं के दिए गए हैं। इस ग्रंथ के लिखने में भारतेन्दु जी ने बहुत मनन तथा परिश्रम किया था और इसी से यह ग्रंथ उन्हें विशेष प्रिय था।

महाराष्ट्र देश का इतिहास छोटी-सी दश पृष्ठों की एक पुस्तिका मात्र है।

इसके भी दो भाग हैं, प्रथम में शिवाजी और दूसरे में पेशवाओं का वृत्तान्त है। यह संक्षिप्त इतिहास भी अशुद्धियों से रहित नहीं है, पर उस समय के लिये वही बहुत था। आज ग्रांट डफ़ के 'मराठों के इतिहास' का महत्त्व केवल उसकी प्राचीनता मात्र ही में रह गया है।

तीसरी रचना 'बूँदी का राजवंश' है। यह भी छोटी-सी पुस्तिका है और इसमें बूँदी की हाड़ा राजवंशावली दी गई है। अंत में कोटा की शाखा की नामावली भी दे दी गई है। चौथी पुस्तक रामायण का समय' में 'वे ही बातें दिखाई जाती हैं जो वास्तव में पुरानी हैं पर अब तक नई मानी जाती हैं, और विदेशी लोग जिनको अपनी कह कर अभिमान करते हैं।' वाल्मीकीय रामायण के प्रत्येक कांड से कुछ-कुछ बातें, जैसे शतघ्नी, श्रीकृष्ण पूजा की प्राचीनता आदि चुनकर दिखलाया है कि ये सब उक्त रामायण की रचना के समय में वर्तमान थीं। इस ग्रन्थ का महत्त्व पुरावृत्त-सम्बन्धी है।

इसके अनंतर सं० १६२८ में 'अग्रवालों की उत्पत्ति' तथा सन् १८७३ ई० में 'खत्रियों की उत्पत्ति' लिखी गईं। इन दोनों में अपनी जानकारी के सिवा अन्य मित्रों की सम्मतियाँ भी संगृहीत कर दी गई हैं। ये दोनों पुस्तकें पहले छोटे साइज़ में मेडिकल हॉल से प्रकाशित हुई थीं। पहली के बाद को परिवर्धित होने पर कई संस्करण निकले। दूसरी का बा० रामकृष्ण वर्मा ने प्रतिवाद किया था, जिसका भी 'खत्रियों की उत्पत्ति' ही नाम है। इसके अनंतर भारतेन्दु जी ने अन्य कई सज्जनों की सम्मतियाँ भी अपनी रचना में सम्मिलित कर तथा 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' से उद्धृत कर, जिसमें यह पहली बार लेख-रूप में प्रकाशित हुआ था, पुस्तकाकार छपवाई थी।

बादशाह-दर्पण में मुहम्मद के जन्म से भारत में मुसल्मानी राज्य के अस्तकाल तक का इतिहास संक्षेप में लिखा गया है। इसमें एक बड़ी तालिका दी गई है, जिसमें सुल्तानों तथा बादशाहों के पिता-माता का नाम, जन्मवर्ष, राजगद्दी तथा मृत्यु की 'अबजद' के अनुसार फारसी तारीख निकालने के शैर आदि प्राय: सभी ज्ञातव्य बातें दी गई हैं, जिनसे इतिहास-प्रेमियों का बहुत कुछ कुतूहल शांत होता है। दास, खिलजी, तुगलक, सैयद, तथा लोदी वंशों के वर्णन की तालिका बहुत संक्षिप्त है पर तैमूरिया वंश की, जो सैयद अहमद के बनाए चक्र के आधार पर है, विशेष विस्तृत है। उस चक्र में तैमूर से शाह आलम तक का पूरा विवरण दिया गया है और बाद का बहादुरशाह तृतीय तक का वृत्तांत भारतेन्दु जी के मातामह राय खिरोधर लाल ने संगृहीत किया था। इस ग्रन्थ की भूमिका में भारतेन्दु जी

लिखते हैं कि "आशा है कि कोई माई का लाल भी होगा जो बहुत-सा परिश्रम स्वीकार करके एक बार अपने बाप-दादों का पूरा इतिहास लिख कर उनकी कीर्ति चिरस्थायी करेगा।" पर यह आशा आज भी प्राय: उसी प्रकार की आशा मात्र बनी हुई है। ग्रन्थ के अंत में एक उपष्टम्भक है, जिसमें काश्मीर के एक मंदिर पर सम्राट् अकबर की खुदवाई हुई आज्ञा की तथा काशी में औरङ्गजेब द्वारा मंदिर न तोड़ने के आज्ञापत्रों की प्रतिलिपियाँ दी गई हैं। औरङ्गजेब के इस थोथे आज्ञापत्र के बाद ही उसी की आज्ञानुसार कृत्तवास का मंदिर तोड़ कर उस पर 'खुदा का घर' बनवाया गया था। इस पर के लेख की भी नकल दी गई है। यह पुस्तक पहली बार सन् १८८४ ई० में बड़े साइज़ डेमी चौपेजी में मेडिकल हॉल प्रेस में छपी थी।

'उदयपुरोदय' मेवाड़ के प्राचीन काल का इतिहास है। यह टॉड कृत राजस्थान, फ़िरिश्ता आदि कई ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इसकी टिप्पणी आदि से भारतेन्दु जी का पुरावृत्तानुसंधान-प्रेम तथा मननशीलता प्रकट होती है।

'पुरावृत्त-संग्रह' में प्राचीन प्रशस्तियाँ, दानपत्र, शिलालेख आदि मूल और अनुवाद सहित संगृहीत हैं। आरम्भ में अकबर की प्रशंसा में कछवाहा रामसिंह रचित कुछ श्लोक एक प्राचीन प्रति से उद्धृत किए गए हैं। वह पत्र, जो औरङ्गजेब को जजिया कर लगाने पर लिखा गया था, पूरा प्रकाशित किया गया है। काशी के अनेक मंदिरों तथा मस्जिदों पर के लेखों का भी इसमें संग्रह किया गया है।

'चरितावली' इनकी सबसे बड़ी ऐतिहासिक रचना है। इसमें विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकराचार्य, जयदेव, पुष्पदंताचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नेपोलियन तृतीय, जंगबहादुर, द्वारिका नाथ जज, राजाराम शास्त्री, लार्ड मेयो, लारेंस और ज़ार अलेकज़ेंडर द्वितीय की जीवनियाँ हैं। अंत में फ्रांस के फ्रांसिस प्रथम तथा नेपोलियन तृतीय, जर्मनी के चार्ल्स पंचम तथा फ्रेडरिक विलिअम, मल्हारराव, टीपू सुलतान, सिकंदर और रावण की आठ जन्म-कुण्डलियाँ भी दी गई हैं। ये सब जीवनचरित्र बड़ी खोज और छानबीन से लिखी गई हैं।

'पंचपवित्रात्मा' में मुसलमान धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद, अली, बीबी फ़ातमा, इमामहसन और इमामहुसेन की जीवनियाँ दी गई हैं। अंत में एक तालिका देकर मुहम्मद से गौस आज़म तक इक्कीस इमामों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

'दिल्ली दरबार-दर्पण' में सन् १८७७ ई० के दरबार का विशद वर्णन है जो

क्वीन विक्टोरिया के भारत-साम्राज्ञी पदवी धारण करने के उपलक्ष में लार्ड लिटन के नेतृत्व में हुआ था। समय के साथ इसका महत्त्व बढ़ता जायगा। 'कालचक्र' में सृष्टि के आरम्भ से सन् १८८४ ई० तक की संसार-प्रसिद्ध घटनाओं का समय दिया गया है। अंत में जयपुर तथा भरतपुर के राजाओं के नाम उनके राज्यकाल के साथ दिए गए हैं।

इन रचनाओं के देखने से यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतेन्दु जी इतिहासज्ञ तथा पुरातत्व-वेत्ता थे। इस कार्य में यह परिश्रम भी अधिक करते थे। इसके लेख भी एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में छपते थे। काशी का एक विशद इतिहास लिखने की इनकी बहुत इच्छा थी और इसी के लिए पं० शीतलाप्रसाद जी को साथ लेकर इन्होंने काशी के अनेक मंदिरों, घाटों आदि की प्रशस्तियों को पढ़कर उनकी प्रतिलिपियाँ तथा फोटो लिए थे पर स्वयं इनके अल्पकाल में ही स्वर्गवासी हो जाने के कारण यह कार्य न हो सका।

समाचार-पत्र

हिन्दी में सबसे पहले राजा शिवप्रसाद की सहायता से सन् १८४५ ई० में 'बनारस अखबार' निकला। यह रद्दी से कागज़ पर पं० गोविन्द रघुनाथ थत्ते के संपादकत्व में पहले प्रकाशित होता था। इसकी भाषा उर्दू-मिश्रित थी और उसकी लेखन-शैली में भी उर्दूपन अधिक था। सन् १८५० ई० में तारामोहन मित्र ने 'सुधाकर' पत्र निकाला, जो कुछ दिनों चलकर बंद हो गया। प्रत्येक संख्या के पहले पृष्ठ पर पत्र के नाम के नीचे लीथो ही में काशी के दृश्यों के चित्र रहते थे, जैसे पंचगंगा घाट, क्वीन्स-कालेज आदि। लीथो में और भी चित्र कभी-कभी छपते थे। इसी पत्र के नाम पर सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् पं० सुधाकर जी के पिता ने इनका नामकरण किया था। इस पत्र की हिन्दी बनारस अखबार से विशेष सुधरी हुई थी।[1] बा० बालमुकुन्द गुप्त लिखते हैं कि 'श्री लल्लुलाल जी के प्रेमसागर

[1] पाठकों के मनोरंजनार्थ इन दोनों पत्रों से कुछ उदाहरण दे दिये जाते हैं, जिनसे वे स्वयं दोनों की भाषाओं का मिलान कर सकें। बनारस अखबार (१ जनवरी सन् १८५२ ई० की संख्या) से उद्धृत—

"अस्सी संगम पर याने गंगा जी के पच्छिम तरफ थोड़े ही दूर पर राजा रत्नाराम साहेब ने अपने काशी बास करने के लिये एक बारहदरी संगीनी और कितने मकान असतबल खाना वग़ैरह बनवाया है और अब बाग़ बन्ने की

की भाषा उनके लिए आदर्श हो सकती थी।......पर लल्लूलाल जी के बाद कोई साठ साल तक किसी ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। अन्त को स्वर्गीय बा० हरिश्चन्द्र जी ने मरी हिन्दी को फिर से जिलाया।" अंततः सं० १६४२ वि० के भाद्रपद में भारतेन्दु जी ने 'कविवचन सुधा' नामक पहला मासिकपत्र निकाला पहली जिल्द की पाँचवीं संख्या मेरे सामने है, उस पर सं० १६२४ वि० पौष शुद्ध १५ छपा है, और शीर्ष-दोहा नहीं है। इसमें उक्ति युक्ति रस कौमुदी और चंद रासो का दिल्ली वर्णन तथा कुछ स्फुट सवैये छपे हैं। दूसरी जिल्द भाद्रपद शुक्ल १५ सं० १६२७ को आरम्भ होती है, जिसका शीर्ष दोहा इस प्रकार है—

नित नित नव यह कविवचन-सुधा सकल रस खानि।
पीवहु रसिक अनन्द भरि परम लाभ जिय जानि॥
सुधा सदा सुरपुर बसै सो नहिं तुम्हरे जोग।
तासों आदर देहु अरु पीवहु एहि बुध लोग॥

प्रथम वर्ष की अन्य संख्याओं में देवकृत अष्टयाम, दीनदयाल गिरि का अनुराग बाग, जायसी का पद्मावत, बिहारी के दोहे आदि प्रकाशित हुए थे। इसमें गुलिस्ताँ का अनुवाद भी संपादक कृत छपा था, जो अपूर्ण रह गया। दूसरे वर्ष यह पाक्षिक हुआ और इस वर्ष की चौबीस संख्याएँ प्रकाशित हुई थीं। इन सब में पद्य का एक प्रकार अभाव है और कुल लेख गद्य के हैं। केवल कभी-कभी समस्याएँ तथा भारतेन्दु जी की कविता छपती थी। इनमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा

चारदीवारी पक्की तैयार हो रही है और दर्वाज़ा उसका पच्छिम तरफ सड़क में बड़ा ऊँचा बना है बँगला तो देखकर लोग बहुत तारीफ करते हैं यकीन है कि बाग तैय्यार हो जाने पर बहुत अच्छा कैफ़ियत का मकान नज़र आवेगा और सारे मकानों का सिरताज बन जावेगा।"

सुधाकर (कार्तिक कृ० २ सं० १६०४ की संख्या) से उद्धृत—

"हमको तो मत के छेड़-छाड़ से कुछ प्रयोजन नहीं क्योंकि वर्तमान समय में सूक्ष्मदर्शी कम दिखलाई पड़ते हैं और जो हैं भी सो इस प्रकार की अनुचित चर्चा में हाथ नहीं डालते किस वास्ते कि मतामत का विवाद केवल अज्ञानता मात्र है परन्तु उत्तम पुरुष जो होते हैं सो अनुचित विषय अपने सामने देख कर चुप नहीं रह सकते इसलिए एक महात्मा ने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की है कि डाक्टर बालंटाइन ने दर्शन-शास्त्र पर जहाँ जहाँ कुतर्क किया है उन सबों का खंडन कर संस्कृत अथवा भाषा में एक पुस्तक छपवावें।"

साधारण मनोरंजन के लेख हैं। इनमें समाचार भी संकलित किए जाते थे। इसके अनंतर यह पत्र बड़े आकार मे साप्ताहिक कर दिया गया और इस पर निम्नलिखित सिद्धान्त वाक्य छपने लगा—

खल जनन सों सज्जन दुखी मति होंहि हरिपद मति रहै।
उपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत लहै, कर दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होंहि जग आनँद लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहै॥

इससे धर्म, समाज तथा राजनीति सभी में इनका उस समय क्या मत था, यह स्पष्ट झलकता है।'उपधर्म छूटै' कहना पुराने अंध विश्वासियों को, 'हरि पद मति रहै' अश्रद्धालुओं को तथा 'नारि-नर सम होंहि' समाज की पुरानी लकीर के फकीरों को जितना कर्ण-कटु था उतना ही 'स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै' सरकारी अफसरों के लिये कटु था। इसी सिद्धान्त के अनुसार इसके लेख भी होते थे। समाचारावली में अनेक पत्रों से समाचार भी संकलित होते थे।

उस समय इस पत्र का प्रजा तथा राजा, दोनों ही ने बड़ा आदर किया। सरकार ने इसकी सौ प्रतियाँ खरीदीं और हिन्दी भाषा प्रेमी, जिनकी संख्या अल्प थी, इसकी हर संख्या के लिये टकटकी लगाए रहते थे। भारतेन्दु जी के सभी मित्रगण इसमें लेख देते थे, जिनमें स्वर्गीय गोस्वामी श्री राधाचरण जी, बाबू गदाधर सिंह, लाला श्रीनिवास दास, बा० ऐश्वर्य नारायण सिंह, बा० सुमेर सिंह साहिबजादे, बा० नवीनचन्द्र राय, पं० दामोदर शास्त्री, पं० बिहारीलाल चौबे, पं० बिहारीलाल जानी इत्यादि प्रसिद्ध लेखक थे। समय पर पत्र न निकाल सकने तथा पं० चिंतामणि धड़फल्ले के आग्रह से बा० हरिश्चन्द्र ने इस पत्र को उक्त पंडित जी को प्रकाशित करने के लिये दे दिया। पत्र समय पर प्रकाशित होने लगा, पर कुछ दिन बाद भारतेन्दु जी ने इसमें लेख देना छोड़ दिया, जिससे यह सत्ताहीन-सा हो गया। इलबर्ट बिल का विरोध करने के कारण यह सबकी आँखों से गिर गया। सन् १८८५ ई० में इसने अपने जन्मदाता के देहान्त पर एक कालम भी काला नहीं किया, जिससे उसी वर्ष इसका मुँह सदा के लिए काला हो गया।

लाला श्रीनिवासदास जी ने सन् १८७४ ई० में दिल्ली से सदादर्श नामक एक पत्र निकाला, जो साप्ताहिक था। यह दो वर्ष चलकर सन् १८७६ ई० में कविवचन-सुधा में मिल गया। इसी वर्ष भारतेन्दु जी के उद्योग से बा० बालेस्वर प्रसाद, बी० ए० ने काशी से काशी-पत्रिका निकालना आरम्भ किया, जो मेडिकल

हॉल से पुस्तकाकार छपती थी। यह भी साप्ताहिक थी और इसकी शैली भी वही 'हरिश्चन्द्री' थी। इसमें भारतेन्दु जी की सत्यहरिश्चन्द्र, कर्पूरमंजरी आदि कई रचनाएँ प्रकाशित हुई। यह पत्रिका आगे चलकर बिलकुल स्कूली हो गई। इनके सिवा भारतेन्दु जी ने आर्यमित्र, हिन्दीप्रदीप, भारतमित्र, मित्रविलास आदि कई पत्रों को प्रोत्साहन देकर प्रकाशित कराया था और इनमें कभी-कभी लेख भी देते थे।

हरिश्चन्द्र मैगजीन तथा चन्द्रिका

कविवचनसुधा के साप्ताहिक हो जाने पर उससे संतुष्ट न रहकर सन् १८७३ ई० के अक्टूबर महीने से भारतेन्दु जी ने उस समय के लिए एक अत्युत्तम मासिक पत्र 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' नाम से प्रकाशित करना आरम्भ किया। यह डिमाई चौ-पेजी के २४ पृष्ठों में निकलता था। मैटर दो कालम में दिया जाता था। इस मैगजीन की केवल आठ संख्याएँ ही निकलीं। और बाद को यही हरिश्चन्द्रचन्द्रिका के नाम से प्रकाशित होने लगी। इस मैगजीन में कई छोटे-छोटे ग्रन्थ प्रकाशित हुए, जैसे हठी कृत राधासुधाशतक, भारतेन्दु जी का धनंजयविजय व्यायोग, बाबू गदाधर सिंह की कादम्बरी, लाला श्री निवासदासकृत तप्तासंवरण नाटक आदि। पुरातत्व विषयक टिप्पणियाँ भी दी जाती थीं। भारतेन्दु जी का पाँचवाँ पैगम्बर, मुं० ज्वाला प्रसाद का कलिराज की सभा, मुं० कमलासहाय का रेल का विकट खेल आदि लेख आज भी चाव से पढ़े जाते हैं। इसके कुछ पृष्ठों में अंग्रेजी भाषा के लेख भी प्रकाशित होते थे, जिनमें कई अच्छे हैं। शतरंज की चालें भी प्रकाशित हुआ करती थीं।

मैगजीन की समाप्ति पर सन् १८७४ ई० के जून से चन्द्रिका प्रकाशित होने लगी, जिसके शीर्ष पर नीचे लिखा श्लोक और छन्द छपता था—

विद्वत्कुलामलस्वांत कुमुदामोददायिका।
आर्याज्ञान-तमोहंत्री श्रीहरिश्चन्द्रचन्द्रिका॥

कविजन-कुमुद-गन हिय विकासि चकोर-रसिकन सुख भरै।
प्रेमिन सुधा सों सींचि भारतभूमि आलस तम हरै॥
उद्यम सु औषधि पोखि बिरहिन तापि खल चोरन दरै।
हरिचन्द्र की यह चन्द्रिका परकासि जग मंगल करै॥

ये दोनों पत्रिकाएँ एक ही हैं, केवल पहले नाम का अँगरेजीपन दूर कर उसे हिन्दी रूप दिया गया है। चन्द्रिका के खंड तथा संख्याओं का आरम्भ मैगजीन के

आरम्भ से ही किया गया है। उसका दूसरा खंड अक्टूबर सन् १८७४ ई० से आरम्भ होता है और पहले खंड में आठ संख्या मैगजीन और चार चन्द्रिका की हैं। चार-छः आरम्भिक संख्याओं के मुख पृष्ठों के मार्जिन पर अंगरेजी में हरिश्चन्द्र मैगजीन छपा भी रहता था तथा इनमें अंगरेजी लेख भी छपते थे, जो बाद को बन्द हो गए। चौथे खड की भी संख्याओं के कवर के चौथे पृष्ठ पर अंगरेजी रूपान्तर दिया जाता था और वहाँ पत्रिका का नाम हरिश्चन्द्र मैगजीन ही रहता था।

इस पत्रिका में गद्य-पद्यमय काव्य, पुरावृत्त, नाटक, कला, इतिहास, परिहास, समालोचना आदि विषय पर बराबर लेख निकलते थे। इनके लिये भारतेन्दु जी को कई सुलेखक तथा सुकवि मिल गए थे, पर यदि संपूर्ण फाइल कोई देखे तो उनमें इन्हीं की कृतियाँ तथा लेख विशेषतः मिलेंगे। इस पत्रिका के सन् १८७४ ई० की नवम्बर की संख्या के अन्त में इकतीस सहायक सम्पादकों के नाम दिए गए हैं, पर यह सहायक सम्पादक शब्द उस समय लेख देने वालों के लिये ही प्रयुक्त हुआ था। इनमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द, शेरिंग आदि नाम ऐसे हैं जिन्होंने स्यात् कभी एकाध टिप्पणी लिख दी होगी।

यह चन्द्रिका इस प्रकार छः वर्ष तक हिन्दी-प्रेमियों का मनोरंजन करती रही, पर सन् १८८० ई० में पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के विशेष आग्रह करने पर भारतेन्दु जी ने इसे उन्हें सौंप दिया, जिसके अनंतर यह 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका' के नाम से चैत्र शु० १ सं० १९३७ में काशी ही में प्रकाशित होती रही। इसके मुखपृष्ठ पर भी वही शीर्षक श्लोक और छन्द छपता रहा। दूसरे ही वर्ष यह मेवाड़ श्रीनाथद्वारे चली गई, जहाँ की मरुभूमि में वह सदा के लिये लुप्त हो गई। सन् १८८४ ई० में भारतेन्दु जी ने इसे 'नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से पुनः प्रकाशित करना आरम्भ किया, पर दो अंक निकालने के बाद वे स्वयं ही संसार से उठ गए। इस पर भी चन्द्रिका का वही पुराना शीर्ष का श्लोक तथा पद्य छपता था। उनके छोटे भाई केवल एक ही अंक बाद को प्रकाशित कर सके। यह नवोदिता छोटे साइज में निकली और प्रत्येक संख्या में बावन-बावन पृष्ठ थे। इनमें पुरावृत्त संग्रह, स्वर्णलता उपन्यास तथा सती-प्रताप नाटक और कृष्ण भोग क्रमशः निकलते रहे। प्रेम प्रलाप भी चौबीस पृष्ठ छपकर रह गया, जिसके कई पद बहुत ही अच्छे हैं।

बलिया का व्याख्यान भी तीसरी संख्या में पूरा छपा है। समय के अनुकूल कुछ मुकरियाँ भी इसमें प्रकाशित की गई हैं।[1]

बाला-बोधिनी

सन् १८७४ ई० के जनवरी महीने से भारतेन्दु जी ने स्त्री-शिक्षोपयोगी 'बाला-बोधिनी' नामक एक मासिक-पत्रिका निकालना आरम्भ किया। यह डिमाई अठपेजी का एक फार्म प्रतिमास निकलता था। भारत सरकार ने इसकी सौ प्रतियाँ खरीदकर इस पत्र की उपादेयता स्वीकार की थी। इस पत्र के मुखपृष्ठ पर

---

[1] भारतेन्दु जी ने इसी मैगजीन के जन्म के साथ-साथ हिन्दी का सन् १८७३ ई० में नए चाल में ढलना स्वयं स्वीकार किया है। यहाँ कविवचनसुधा तथा मैगजीन दोनों ही से कुछ अंश पाठकों के विनोदार्थ उद्धृत कर दिए जाते हैं। कविवचनसुधा (जि० २ नं० २)—"२१ वीं सितम्बर सन् १८७० बुधवार को पण्डित विश्वेश्वर प्रसाद काश्मीरी जो कि श्रीयुत् बा० हरिश्चन्द्र की पाठशाला के मैनेजर अर्थात् कार्याध्यक्ष थे, वे उस स्कूल से उक्त बाबू साहिब की आज्ञा भंग करने के निमित्त निकाल दिए गए। उस दिन उन्होंने सम्पूर्ण लड़कों के गृह पर जा-जा करके कहा कि बाबू हरिश्चन्द्र का नाम पाठशाले से उल्लेख कर दिया गया और तुम लोग अब उनके पाठशाले में जो उन्होंने अपनी बाग में किया है (क्योंकि बा० बेणीप्रसाद भी जिनके गृह में पाठशाला थी, उन्हीं से मिल गए हैं और स्कूल को अपने घर से उठवा दिया) न जाओ।"हरिश्चन्द्र मैगजीन पृ०१८९ से उद्धृत "हे भाइयों तुम्हारे मन में जो अनेक कल्पना धीरे-धीरे उठा करती है उन पर सहज ही में विश्वास कर लेते हो और जो अनेक झूठे-मूठे मनोरथ हृदय में उत्पन्न होते हैं बड़ी अभिलाषा से उनका पीछा करते हो और इस बात की आशा रखते हो कि अल्पावस्था में जो बात नहीं प्राप्त हुई वह अधिक अवस्था में हो जायगी और आज के दिवस पर्यंत जो न्यूनता रह गई है वह कल पूरी हो जायगी तो तुमको चाहिये कि मकरन्द देश के राजकुमार धैर्यसिंधु के इतिहास को ध्यान देकर सुनो।"

[1] जुलाई सन् १८७५ (जि० २ सं०७) की बाला-बोधनी से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—"हे सुमति, जब बालक तुम्हारा भली प्रकार बातचीत करने लगा तो उसको वर्णमाला याद कराती रहो फिर उन्हीं को पट्टी पै लिखके अभ्यास कराओ और रातों को गिनती और सुन्दर-सुन्दर श्लोक वा छोटे स्तोत्र

निम्नलिखित दोहे छपते थे :—

जो हरि सोई राधिका जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष यामें कछु न विभक्ति ॥
सीता अनुसूया सती अरुन्धती अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण लहौ सकल जग नारि ॥
पितु पति सुत करतल कमल लालित ललना लोग।
पढ़ैं गुनैं सीखैं सुनैं नासैं सब जग सोग ॥
वीर प्रसविनी बुध बधू होइ हीनता खोय।
नारी नर अरधंग की साँचेहि स्वामिनि होय ॥

इसमें स्त्रियोपयोगी लेख ही अधिक छपते थे पर मुद्राराक्षस नाटक, नीति-विषयक इतिहास आदि भी क्रमशः प्रकाशित होते रहते थे। यह पत्रिका चार वर्ष तक प्रकाशित होकर बन्द हो गई। गवर्नमेंट ने इसकी प्रतियाँ लेना बन्द कर दिया था और यही इस पत्रिका के भी बन्द होने का मुख्य कारण है, जैसा कि भारतेन्दु जी के एक पत्र से ज्ञात होता है।

आलोचना

मानव मस्तिष्क की उपज ही साहित्य है जो संसार की भाषाओं में लेखबद्ध होकर संचित होता रहता है और उन भाषाओं का साहित्य कहलाता है। जीवित भाषाओं के साहित्य सर्वदा उन्नति मार्ग पर अग्रसर रहते हैं और उनके साहित्य-भांडारों में निरंतर नए नए रत्न संगृहीत होते रहते हैं। मृत भाषाओं के भांडार क्रमशः कम होते जाते हैं, बढ़ते नहीं। जिस प्रकार मानव-प्रकृति पर देश-काल आदि का प्रभाव पड़ता रहता है, उसी प्रकार मानव-समाज की सामूहिक विचार-धारा से उस समाज के प्रत्येक मनुष्य की चित्त-वृत्ति में राजनीतिक, धार्मिक, सांप्रदायिक आदि परिवर्तन होते रहते हैं। मानव जाति का यही क्रमिक विकास उसकी सभी कृतियों में लक्षित होता है और यही कारण है कि उन सब पर यदि सूक्ष्मता से मनन किया जाय तो अपने-अपने समय की एक-सी छाप दिखलाई

याद कराओ। इस व्योहार में कइ एक बातें सुन्दर प्राप्त होंगी। प्रथम तो बालक को खेल ही खेल में अक्षर ज्ञान हो जावेगा दूसरे उसका काल भी व्यर्थ नहीं जाने का। फिर इस अवसर का पढ़ा लिखा विशेष कर के याद रहता है।"

पड़ती है । स्थापत्यकला, चित्रकला आदि के लिये यह समान रूप से सत्य है पर साहित्य में तो एक-एक अक्षर इस सत्यता के अक्षरशः द्योतक हैं । साहित्य का विकास तथा उसकी प्रगति उस साहित्य के भाषा-भाषी जाति के विकास तथा प्रगति का प्रतिबिंब मात्र है और इस सम्बन्ध को बनाए रखना ही साहित्य को सजीव रखना है ।

विक्रमीय अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दि का भारतीय इतिहास अत्यन्त अशांतिमय रहा है और औरंगजेब की मृत्यु के अनन्तर निरन्तर अवनत होते हुए मुगल साम्राज्य के ध्वसावशेष पर अनेक छोटे-छोटे राज्य उदय तथा अस्त होते रहे । यह अशान्ति बीसवीं शताब्दि के आरम्भ तक पूर्ण-रूप से थी । इस अशांतिमय काल में स्वदेशियों की आपस की युद्ध-व्यवस्था में यूरोपीय जातियाँ भी सम्मिलित हो रही थीं, जिनमें अन्ततः सभी को दबाती हुई अँग्रेज जाति प्रबल होती चली गई । सं० १८१४ वि० के प्लासी युद्ध में विजय तथा आठ वर्ष बाद बंगाल की दीवानी प्राप्त होने पर अँग्रेजों का प्रभुत्व उस प्रांत में जम गया और क्रमशः पूरे एक शताब्दि में इस जाति ने समग्र भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया । इस प्रकार भारतीय विचार-धारा में यूरोपीय विचार-धारा का सम्मिश्रण उन्नीसवीं शताब्दि ही से अनिवार्य रूप से होने लगा था, और जिस प्रकार उस समय तक भारतीय सभ्यता में पारसीय सभ्यता का पूर्णतः सम्मिश्रण हो चुका था उसी प्रकार आज यह कहा जा सकता है कि यूरोपीय सभ्यता भी उसमें पूर्णरूपेण व्याप्त हो चुकी है । संतोष इतना ही है कि सबको अपनाती हुई भी भारतीय सभ्यता आज भी अपनी विशेषता नहीं खो बैठी है ।

अँग्रेजी प्रभुत्व के जम जाने पर सन् १८३४ ई० में प्राप्त हुए इंडिया बिल में पहले-पहल मि० चार्ल्स ग्रांट (बाद के लॉर्ड ग्लेनेलग) ने अँग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा भारतवासियों को शिक्षित बनाकर ऊँची सरकारी नौकरी देने का प्रस्ताव किया था । लार्ड मेकॉले ने उसी समय इस प्रस्ताव का समर्थन किया था और उन्होंने बड़े लाट की कांउंसिल के प्रथम ला मेंबर होने पर इस पर विशेष जोर भी दिया था । इनका मत था कि "देशियों को अँग्रेजी का अच्छा विद्वान् बनाना सम्भव है और इसलिए हम लोगों का यही प्रयत्न होना चाहिए ।" लार्ड डलहाउजी के समय भारत के सेक्रेटरी ऑव स्टेट सर चार्ल्स वुड (बाद के लॉर्ड हैलिफैक्स) ने समग्र भारत की शिक्षा के लिए एक बृहत् स्कीम बनाकर भेजा था जिसमें विश्वविद्यालय, विद्यालय, सहायता-प्राप्त स्कूल तथा वर्नाक्यूलर पाठशालाएँ स्थापित

करने का पूरा आयोजन था। लॉर्ड डलहाउजी ने अविलंब ही इस कार्य में हाथ लगाया और पब्लिक इंस्ट्रक्शन डिपार्टमेंट खोल दिया।

अँग्रेजी माध्यम द्वारा हिन्दुस्तानियों को सुशिक्षित करने के पहले भी कई गवर्नर देशीय भाषाओं की उन्नति के लिए प्रयत्न कर चुके थे। वारेन हेस्टिंग्ज के समय में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी सर विलिअम जोन्स के सभापतित्व में स्थापित हुई, जिसने संस्कृत तथा फारसी ग्रन्थों को विशेषरूप से प्रकाशित किया। मारक्विस वेलेजली के समय फोर्ट विलिअम कॉलेज स्थापित हुआ, जिसके प्रथम प्रिंसपल डा० गिलक्राइस्ट थे। इनके तथा इनके स्थानापन्न सज्जनों के निरीक्षण में लल्लूलाल जी आदि ने हिन्दी तथा उर्दू के कई गद्य ग्रन्थ तैयार किए थे। लॉर्ड मिंटो ने इस कॉलेज की इमारत बनवाई तथा नदिया और तिरहुत में संस्कृत पाठशालाएँ स्थापित करने का आयोजन किया। मारक्विस ऑव हेस्टिंग्ज के समय में पुराना चार्टर सन् १८१३ ई० में बदला गया था और उसमें केवल एक लाख रुपया वार्षिक 'साहित्य को उन्नति तथा देशीय विद्वानों के उत्साहवर्धन और भारत के बृटिश राज्य के निवासियों में विज्ञान का ज्ञान प्रस्फुटित करने के लिये" स्वीकार किया गया था। यह स्वीकृति भी उस समय बड़े तर्क-वितर्क पर मिली थी। इसी प्रकार ईस्ट-इंडिया कम्पनी की ओर से कलकत्ते में हिन्दी तथा उर्दू के गद्य ग्रन्थों की रचना का जो प्रबन्ध हुआ था, वह भी क्षणिक था। हिन्दी के दो-चार ग्रन्थों से अधिक नहीं बन सके। विशेषता यही थी कि काव्यभाषा से भिन्न उन ग्रन्थों में खड़ी बोली ही रखने का प्रयास अधिक था। उसी समय ईशा तथा मुं० सदासुखलाल भी लखनऊ तथा प्रयाग में इसी खड़ी बोली को अपना कर रचना कर रहे थे। तात्पर्य यह कि भारत के उत्तरापथ में जन-साधारण की बोली यही हो रही थी और शिक्षित लोग जगह-जगह की ग्रामीण बोलियों का नगरों से एक प्रकार बहिष्कार कर रहे थे। श्रीरामपुर के पादरियों ने भी कई ग्रन्थ इसी समय शुद्ध हिन्दी में लिखे थे।

अँग्रेज सरकार की ओर से जो यह प्रयत्न हुआ था वह बहुत शीघ्र ढीला हो गया और उसके फलस्वरूप दो-चार ही उल्लेखनीय ग्रन्थ हिन्दी मंदिर को प्राप्त हुए। इसके अनंतर प्राय: साठ वर्ष से अधिक काल तक मातृभाषा का कोई अच्छा सेवक पैदा नहीं हुआ। शिक्षा-सम्बन्धिनी थोड़ी-बहुत पुस्तकें इस बीच लिखी गई हैं, जिनका अधिकांश मिशनरियों के श्रम का फल था।

विक्रमीय बीसवीं शताब्दि के आरम्भ के साथ राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह की रचनाओं का आरम्भ होता है। प्रथम राजा साहब की प्राथमिक

रचनाएँ सरल हिन्दी ही में थीं, पर यह भाषा बाद को उर्दू-मिश्रित हो गई, यहाँ तक कि आप ने 'आमफहम' शब्द भी आमफहम (सबके समझने योग्य) समझ लिया। दूसरे राजा साहब ने सरल सुगम हिन्दी ही को आदर्श रखकर अपनी रचनाएँ लिखीं और इस प्रकार उन्होंने उस हिन्दी का आभास दिया जो भारतेन्दु-काल में पूर्ण विकसित हुई थी। उस समय ऐसे ही प्रतिभाशाली तथा शक्तिसंपन्न लेखक की आवश्यकता थी, जो हिन्दी साहित्य के गद्य तथा पद्य दोनों ही विभागों को सुव्यवस्थित तथा परिमार्जित करते हुए, उसे समय के साथ अग्रगामी होती हुई जनता की रुचि के अनुकूल बनावे। भाषा ही का रूप उससमय तक निश्चित नहीं हो सका था, और प्रत्येक साहित्यसेवी अपनी खिचड़ी अलग पका रहा था। स्वयं भारतेन्दु जी ही हरिश्चन्द्र मैगजीन के जन्म के साथ हिन्दी का नए साँचे में ढलना मानते थे। साहित्य तथा भाषा की ऐसी ही परिस्थिति में भारतेन्दु जी का उदय हुआ और उनका भाषा तथा साहित्य पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता माने गए। "भाषा का निखरा हुआ शिष्टसामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ।" गद्य और पद्य दोनों ही की भाषा का इन्होंने बहुत कुछ संस्कार किया था। परंपरागत काव्यभाषा में जो पुराने समय के अप्रचलित हुए शब्द चले आ रहे थे उन्हें निकाल कर और चलते शब्दों का प्रयोग कर इन्होंने उसे सुव्यवस्थित तथा समयानुकूल बनाया।

इनके समय तक हिन्दी काव्य-जगत् में वही भक्ति तथा शृङ्गार आदि की पुरानी चाल की कविता होती आ रही थी और भारतीयों में नए यूरोपीय ढंग की शिक्षा आदि से जो देशप्रेम, लोकहित आदि अनेक नए-नए भाव, उमंग आदि पैदा हो रहे थे, उन रुचियों के अनुकूल कविता का एक प्रकार अभाव था। पढ़ने वालों की विचारधारा नए मार्ग पर जा रही थी और काव्यधारा उसी पुरानी लीक पर बह रही थी। भारतेन्दु जी ने दोनों मार्ग का साहचर्य कराकर काव्यकला में नई जान डाली।

गद्य का भी प्रायः यही हाल था, ऐसा कहना चाहिये पर वास्तव में इनके समय के कुछ पहले तक का हिन्दी गद्य-साहित्य गद्य-साहित्य कहलाने के योग्य नहीं है। आज से डेढ़ शताब्दि पहले की प्राप्त पुस्तकें केवल उस समय की भाषा के नमूने समझ कर ही आज पढ़ी जाती हैं। लल्लूलाल जी के समय की पुस्तकों में एक तो महज किस्सा है और अन्य पौराणिक कथाएँ हैं। इसके अनंतर कुछ शिक्षा-सम्बन्धिनी पुस्तकें अवश्य निकलीं पर वे समय के साथ अग्रसर होती हुई जन-साधारण की मानसिक तृष्णा को किसी प्रकार तृप्त नहीं कर सकती थीं।

राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, नाट्यकला आदि अनेक विषय-सम्बन्धिनी पुस्तकों का एक दम अभाव था। यूरोपीय संघर्ष के कारण बंगदेश में नए विचारों के अनुकूल नाटक, उपन्यासादि की रचना होने लगी थी और जनसाधारण में उन्हीं की नई रुचि, विचारादि का उनमें बिंब-प्रतिबिंब भाव होने से उनका समादर भी होने लगा था। हिन्दी गद्य-साहित्य में प्रायः इन सबका अभाव था और इसी से भारतेन्दु जी ने अनेक विषयों पर लेखनी चलाकर जनता के लिए उपयोगी ग्रन्थों की रचना की और "साहित्य को मोड़ कर हमारे जीवन के साथ लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था, उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।"

भारतेन्दु जी बड़े ही सहृदय कवि थे तथा इनकी कवित्व-शक्ति जन्मसिद्ध थी। इनके निर्मित कवित्त, सवैये तथा पद शृङ्गाररस से इस प्रकार परिप्लुत और ऐसे हृदय-स्पर्शी थे कि इनके जीवनकाल ही में वे लोगों के मुख से सुनाई पड़ने लगे। साथ ही देश-प्रेम, समाज-सुधार आदि के इनके लेख और कविताओं में इतना उत्साह था कि उनसे देश में उन्हीं के समय मंगलमयी जागृति होने लगी। उनकी काव्य रचनाएँ जब एक ओर प्राचीन परम्परा के सुकविगण पद्माकर आदि की रचनाओं में जा मिलती हैं तब दूसरी ओर सामयिक बङ्ग-देशीय कवियों की कृतियों से जा भिड़ती हैं। इसी प्रकार जब एक ओर चन्द्रावली नाटिका, भक्तमाल आदि में श्री राधाकृष्ण की युगलमूर्त्ति में इनकी भक्ति की अनन्यता और तन्मयता दिखाई पड़ती है तब दूसरी ओर प्रेमयोगिनी आदि में अन्ध-विश्वासियों, टीकाधारी गुरुओं की हँसी उड़ाते हुए समाज-सुधार आदि के उपदेश पाए जाते हैं। तात्पर्य यही है कि "प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए-नए या बाहरी भावों को पचा कर इस ढंग से मिलाना चाहिये कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें।" सत्य ही भारतीय-इतिहास के अर्वाचीन तथा वर्तमान के जिस संधिकाल में भारतेन्दु जी का उदय हुआ था, उसी के ठीक अनुरूप प्राचीन-नवीन की गंगा-जमुनी से अलंकृत साहित्य का निर्माण कर निम्संदेह उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास में अमर पद प्राप्त कर लिया है।

भारतेन्दु जी मातृभाषा तथा मातृभूमि दोनों ही के सच्चे सपूत थे और उनकी यावत् कृति इन्हीं दोनों के उत्थान को दृष्टिकोण में रखते हुए हुई थी। मातृभाषा

की सुव्यवस्था, उसके साहित्य के सभी अंगों की उन्नति तथा उसके प्रचार का जितना इन्होंने प्रयत्न किया था उतना ही देशप्रेम और जातीयता एवं राष्ट्रीयता की भावना, समाज-सुधार, ईश्वर-प्रति भक्ति और शिक्षा के प्रसार के लिये यह यत्नशील रहे। इनकी रचनाओं ने देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विचारों में नए-नए भाव पैदा किए और मातृभाषा को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयत्न में यही सबके अग्रगण्य भी हुए।

भाषा तथा शैली

गद्य साहित्य के आरम्भ के साथ जो पहला प्रश्न उठा था वह भाषा का था। फारसी की कठिनता देखकर वह सरकारी दफ्तरों से उठा दी गई, और उसके स्थान पर उसी लिपि वाली उर्दू नियत की गई। पहले यह भाषा कुछ सरल रूप में लिखी जाती थी पर क्रमशः यह काठिन्य बढ़ाते हुए पुनः हिंदी की क्रिया आदि युक्त एक प्रकार की फारसी हो गई। इस उर्दू का जन्म बहुत दिनों तक रँगीले मुहम्मद शाह के समय हुआ माना जाता था, पर अब यह दक्षिण में सम्राट् अकबर के समय में आविर्भूत हुई मानी जाती है। इसी उर्दू से केवल उर्दू जानने वाले अच्छे-अच्छे विद्वान् खड़ी बोली हिंदी का प्रादुर्भाव होना बतला कर कतरा जाते हैं, पर वे स्वयं नहीं कह सकते कि उनकी उर्दू में फारसी शब्दों के सिवा जो और कुछ सम्मिलित है, वह किस भाषा से आया। आबेहयात के वजन में वे कहेंगे कि वह ब्रजभाषा से निकली है। अपनी-अपनी राय ही तो है, मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्नाः।

भारतवर्ष में इस समय बहुत-सी भाषाएँ बोली जाती हैं और उनमें से कुछ में बहुत उच्चकोटि का साहित्य मौजूद भी है, कुछ में साधारण और कुछ में केवल ग्रामीण चनैनी इत्यादि मात्र प्राप्त हैं। यह एक नियम-सा है कि किसी भाषा के साहित्यिक रूप धारण करने के बहुत पहले वह किसी प्रांत-विशेष की बोलचाल की भाषा बन जाती है। जिस भाषा के कोई बोलने-चालने या समझने वाले ही नहीं होंगे, उसमें साहित्य कहाँ से आ टपकेगा। ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, गुजराती, द्राविड़ी आदि भाषाएँ अपने-अपने प्रांतों में बोली जाती थीं और समय-समय पर उनमें साहित्य का भी निर्माण होता जाता था। इसी प्रकार खड़ी बोली हिंदी भी मेरठ तथा उसके आस-पास के प्रांतों में बोली जाती थी। इस बोलचाल की भाषा को सुगम समझ कर या पहले-पहल इसी से काम पड़ने पर मुसलमान आक्रमणकारियों ने इस देश के निवासियों से विचारों के आदान-प्रदान के लिये इसी भाषा को माध्यम बनाया और इसमें अपनी भाषा के शब्दों को रखकर समझने -

समझाने लगे। इस प्रकार की मिश्रित भाषा बनाकर देशियों को अपना तात्पर्य समझाने में सुगमता लाने के लिए एक शब्दकोष निर्मित हुआ था और विदेशियों में ऊँटों पर लादकर वितरित किया गया था। इसका नाम 'खालिकवारी' था और रचयिता कोई खुसरो शाह था। इसके दो शेर यों हैं :—

मुश्क काफूर अस्त कस्तूरी कपूर।
हिंदवी आनंद, शादी औ सरूर।।
मूश चूहा, गुर्बः बिल्ली, मार नाग।
सौजनो रिश्तः बहिंदी सूई ताग।।

इनमें आए हिंदी शब्द खड़ी बोली ही के हैं, और खुसरो ख़ुद उस बोली को हिंदवी या हिंदी कहता है, उर्दू नहीं। खुसरो के बाद इस भाषा को फारसी छंद-शास्त्रादि का रंग देकर जिस साहित्य की दक्षिण में नींव पड़ी थी, उसके भाषा का नामकरण इस घटना के बहुत दिनों बाद उर्दू हुआ था। मुसल्मानी राजधानियों तथा बस्तियों में इसी हिंदवी या हिंदी का बोलबाला रहने लगा और यह भाषा नागरिक भाषा या सभ्य बोलचाल की भाषा बनती चली गई।

हिंदी काव्य-परंपरा में राजस्थानी, ब्रज तथा अवधी भाषाओं का प्राधान्य अभी-अभी तक रहा है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हिंदी अर्थात् खड़ी-बोली में कुछ कविता नहीं हुई है। हाँ, इस हिंदी को आरम्भ में विशेषतः मुसल्मान कवियों ही ने अपनाया और ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि वे किसी प्रकार की परंपरा में बँधे हुए नहीं थे। अस्तु, इस प्रकार यह हिंदी काव्यभाषा में कुछ-कुछ प्रयुक्त होती आ रही थी। साहित्य का पद्य-भाग पहले और गद्य-भाग बहुत बाद निर्मित होता है, ऐसा नियम सा हो गया है। हिंदी साहित्य में भी यही हाल रहा है। ईसवी अठारहवीं शताब्दि के पहले का जो कुछ गद्य साहित्य मिलता है वह ब्रजभाषा या हिंदी में है अथवा मिश्रित भाषा में है। यह गद्य-साहित्य बहुत थोड़ा था और इनके लेखकगण उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। इस गद्य-साहित्य में विशेषतः कहानी या धार्मिक वार्ताएँ थीं। गद्य में लिखी गई टीकाएँ भी इसमें परिगणित की जा सकती हैं।

इसके अनंतर हिन्दी गद्य-साहित्य का विशेष रूप से आरम्भ ईसवी उन्नीसवीं शताब्दी के साथ हुआ। कलकत्ते के कालेज की तत्वावधानता में कुछ पुस्तकें लिखी गईं और इंशाअल्लाह खाँ तथा मुन्शी सदासुखलाल ने भी कुछ रचनाएँ कीं, पर इससे भाषा की कोई शैली स्थिर न हो सकी। इसके बाद पुनः प्रायः पचास साठ वर्ष तक यह कार्य रुका-सा रहा। धर्म-प्रचार के लिए ईसाई पादरियों

ने और शिक्षा के लिये स्कूली अध्यापकों ने छोटी-मोटी पुस्तकें लिखीं। ईसाई धर्म-प्रचारकों की भाषा लल्लूलाल या मुन्शी सदासुखलाल की शैली पर थी, जिसमें संस्कृत के तद्भव शब्दों का प्राचुर्य रहता था। विक्रमी बीसवीं शताब्दि के आरम्भ में दो सुलेखक राजा शिवप्रसाद सितारए-हिंद तथा राजा लक्ष्मण सिंह हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में भाषा की दो प्रकार की शैली लेकर उतरे। पहले सज्जन फारसी तथा अरबी के 'आमफहम और खासपसंद' शब्दों को हिन्दी भाषा में स्थान देने के शायक थे और दूसरे शुद्ध हिन्दी के। यद्यपि राजा शिवप्रसाद की आरम्भिक रचनाओं में 'उसको कोई हिन्दू अप्रामाणिक नहीं कह सकता।' या 'उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया ?'' ऐसी ही भाषा थी पर बाद को यह खिचड़ी भाषा के ही समर्थक हो गए और लिखने लगे कि ''बल्कि एक सल्तनत के मानिन्द कि जिसकी हदें कायम हो गई हों और जिसका इन्तजाम मुन्तजिम की अक्लमंदी की गवाही देता हो।'' इधर राजा लक्ष्मण सिंह अथ से इति तक इसी प्रकार लिखते रहे, जैसे, ''तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो ?'' इनकी भाषा में ब्रजभाषा का पुट कम न था पर तब भी यह भाषा हिन्दी गद्य के भावी रूप का आभास दे रही थी। इन दोनों सज्जनों ने भाषा के जो दो रूप उपस्थित किए थे वे एक प्रकार, कहा जा सकता है कि, प्रस्ताव के रूप में थे और अब ऐसे प्रतिभावान् तथा जबर्दस्त लेखकों की आवश्यकता थी, जो इनमें से किसी एक को सुव्यवस्थित तथा परिष्कृत कर उसमें ऐसा साहित्य तैयार करते जो सुशिक्षित जनसाधारण की सामयिक रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेन्दु जी का उदय हुआ।

भारतेन्दु जी की धार्मिक उदारता का उल्लेख हो चुका है और वे हिन्दू-मुसल्मान विरोध के परिपोषक भी नहीं थे पर स्वदेश भक्ति तथा स्वमातृभाषा-प्रेम से उनका हृदय इतना भरा हुआ था कि वे एक ऐसी खिचड़ी भाषा का, जिसमें अभारतीय शब्दों की अकारण भरमार हो, समर्थन न कर सके और उन्होंने शुद्ध सरस भाषा ही को अपनाया। वे उसे केवल अपना कर ही नहीं रह गए वरन् अपनी प्रतिभा, लेखन-शक्ति तथा अथक उद्योग से इस शुद्ध भाषा में अनेक विषयों पर बहुत से ग्रन्थ लिख डाले। इनके अनुयायी-मंडल ने भी इसी भाषा का अपनी रचनाओं में उपयोग किया और वही हिंदी-गद्य-साहित्य की सर्वमान्य भाषा हो गई। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता,

मधुर और स्वच्छ रूप दिया। "उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिंदी गद्य के प्रवर्तक माने गए। वर्तमान हिंदी की इनके कारण इतनी उन्नति हुई कि इसका जन्मदाता कहने में भी अत्युक्ति न होगी।"

भारतेन्दु जी के गद्य की भाषा में दो या उससे अधिक शैलियाँ मिलती हैं। इन्होंने इतिहास, जीवनी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि अनेक विषयों पर रचनाएँ की हैं। कहीं गंभीर गवेषणा, तथ्यातथ्य-निरूपण आदि हैं तो कहीं परिहास, व्यंग्य और मनोरंजन हो रहा है। कहीं भावावेश में कुछ बातें कह डाली गई हैं, तो कहीं एक-एक शब्द तौल कर गांभीर्य से लदे हुए निकल रहे हैं। अर्थात् विषय तथा भाव के अनुसार ही भाषा की शैली में परिवर्तन स्वभावतः होता गया है। हाँ, इसके लिये भारतेन्दु जी ने विशेष प्रयास नहीं किया और न ऐसा करने बैठने को उनके पास समय था। उन्हें तो अपना छोटा-सा जीवन हिन्दी की यथाशक्ति सेवा करने में, उसके साहित्य के प्रायः सभी विभागों में कुछ न कुछ लिखकर उनका आरम्भ कर देने में लगा देना था।

'उदय पुरोदय' एक इतिहास ग्रन्थ है, और उसमें प्राचीन इतिहास का गवेषणापूर्ण अनुसंधान किया गया है। इसकी भाषा का एक नमूना लीजिए—"पहले कह आये हैं कि वाप्पा ब्राह्मणगण का गोचारण करते थे। उनकी पालित एक गऊ के स्तन में ब्राह्मणगण ने उपर्य्युपरि कियद्दिवस तक दुग्ध नहीं पाया, इससे संदेह किया कि वाप्पा इस गऊ को दोहन करके दुग्ध पान कर लेते हैं। वाप्पा इस अपवाद से अति क्रुद्ध हुए किन्तु गऊ के स्तन में स्वरूपतः दुग्ध न देखकर ब्राह्मणगण के संदेह को अमूलक न कह सके। पश्चात् स्वयं अनुसन्धान करके देखा कि यह गऊ प्रत्यह एक पर्वत-गुहा में जाया करती थी और वहाँ से प्रत्यागमन करने से उसके स्तन पयशून्य हो जाते हैं। वाप्पा ने गऊ का अनुसरण करके एक दिन गुहा में प्रवेश किया और देखा कि उस वेतस वन में एक योगी ध्यानावस्था में उपविष्ट है।"

बादशाह दर्पण का एक अंश इस प्रकार है—"इसका प्रकृत नाम फखरुद्दीन अलग खाँ था। पहले यह बुद्धिमान् और बड़ा दानी था। हजार दर का महल बनवाया। मुगलों से सुलह किया और दक्षिण में अपना अधिकार फैलाया पर पीछे से ऐसे काम किए कि लोग उसे पागल समझने लगे। हुकुम दिया कि दिल्ली की प्रजा-मात्र दिल्ली छोड़ कर देवगढ़ में रहे, जिसको दक्षिण में दौलताबाद नाम से बसाया था। इसका फल यह हुआ कि देवगढ़ तो न बसा किन्तु दिल्ली उजड़

गई। अन्त में फिर दिल्ली लौट आया। फारस और खुरासान जीतने के लिये तीन लाख सतरह हजार सवार इकट्ठे किए, इनमें से एक लाख को चीन लेने के लिए भेजा, ये सब के सब हिमालय में नष्ट हो गए, कोई न बचा।"

पूर्वोक्त दोनों उद्धरणों के देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि दोनों शैलियों में बहुत कुछ भेद है। प्रथम में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता के साथ वाक्यावली भी विशद है पर दूसरे में ये दोनों बातें नहीं हैं, प्रत्युत् बहुत से फारसी के सरल शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, और छोटे-छोटे वाक्य ही विशेषतः रखे गए हैं। इसका कारण प्रत्यक्ष ही यह है कि पहले में प्राचीन काल का पुरातत्व-विषयक इतिहास गवेषणा तथा मननपूर्वक लिखा जा रहा है और दूसरे में मुसल्मानी काल के इतिहास की साधारण बातें दी गई हैं, तथा इसी से इस भाषा में उर्दू के प्रचलित सुगम शब्द आप से आप आ गए हैं। यही इसकी वास्तविक भाषा शैली है, जो मध्य मार्ग पर अवलम्बित है।

स्वनिर्मित नाटक में प्रतिकृति के तथ्यातथ्य-निरूपण में इस प्रकार लिखते हैं—

"किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन वा उपवन आदि को प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामांतर अंतःपटी वा चित्रपट वा दृश्य वा स्थान है। यद्यपि महामुनि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र में चित्रपट द्वारा प्रासाद, वन, उपवन किंवा शैल प्रभृति की प्रतिच्छाया दिखाने का कोई नियम स्पष्ट नहीं लिखा है, किंतु अनुधावन करने से बोध होता है कि तत्काल में भी अंतःपटी-परिवर्त्तन द्वारा वन, उपवन या पर्वतादि की प्रतिच्छाया अवश्य दिखलाई जाती थी। ऐसा न होता तो पौरजानपद वर्ग के अपवाद-भय से श्री रामकृत सीता-परिहार के समय में उसी रंगस्थल में एक ही बार अयोध्या का राज-प्रासाद और फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखलाई पड़ता। इससे निश्चय होता है कि प्रतिकृति के परिवर्तन द्वारा पूर्व काल में यह सब अवश्य दिखलाया जाता था।"

'लेवी प्राण लेवी' लेख का एक अंश इस प्रकार है। इसमें व्यंग्यात्मक शैली ही मुख्य है :—

"कोई खड़ा हो जाता था, कोई बैठा ही रह जाता था, कोई घबड़ा कर डेरे के बाहर घूमने चला जाता था कि इतने में कोलाहल हुआ 'लाट साहब आते हैं।' राय नारायन दास साहिब ने फिर अपने मुख को खोला और पुकारे 'स्टैंड अप' (खड़े हो जाव)। सब के सब एक संग खड़े हो गए। राय साहिब का 'सिट डौन' कहना तो सब को अच्छा लगा पर 'स्टैंड अप' कहना सबको बुरा

लगा मानो भले बुरे का फल देने वाले रायसाहिब ही थे। इतने में फिर कुछ आने में देर हुई और फिर सब लोग बैठ गए। वाह वाह दरबार क्या था 'कठपुतली का तमाशा' था या बल्लमटेरों की 'कवायद' थी या बन्दरों का नाच था या किसी पाप का फल भुगतना था या 'फौजदारी की सजा' थी।"

सत्य हरिश्चन्द्र में पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु पर महारानी शैव्या विलाप कर रही हैं। वाक्य छोटे-छोटे हैं और भाषा सरल बोलचाल की रखी गई है जो अत्यन्त स्वाभाविक है......"हाय बेटा ! अरे आज मुझे किसने लूट लिया ! हाय मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई ! हाय अब मैं किसका मुख देख के जीऊँगी ! हाय, मेरी अंधो की लकड़ी कौन छीन ले गया ! हाय, मेरा ऐसा सुन्दर खिलौना किसने तोड़ डाला ! अरे बेटा ! तैं तो मरे पर भी सुन्दर लगता है। हाय रे ! अरे बोलता क्यों नहीं! बेटा जल्दी बोल, देख, माँ कब की पुकार रही है ! बच्चा ! तू तो एक ही दफे पुकारने में दौड़ कर गले से लपट जाता था, क्यों नहीं बोलता ?"

इस प्रकार कई उद्धरण देने का एक कारण यह भी था कि कुछ लोगों के इस कथन में कि 'गद्य शैली को विषयानुसार बदलने का सामर्थ्य उनमें कम था' कहाँ तक सत्य है, इसकी परख हो जाय। हो सकता है कि जिस विषय पर उन्होंने एकाध लेख मात्र लिखा हो, उसकी भाषा वे उसके अनुरूप न रख सके हों या रखने का ख्याल भी न किया हो पर इस प्रकार का विस्तृत कटाक्ष कर देना अनुचित ही है।

पूर्वोक्त उद्धरणों से यह मालूम हो जाता है कि विषय के अनुसार इनकी भाषाशैली चाहे जिस प्रकार की रहे पर उन सबकी वाक्यावली सरल होती थी। वाक्यों के अन्वय जटिल तथा दुर्बोध नहीं होते थे। शब्दों के चुनाव में विशेषतर सरलता और सुगमता ही का ध्यान रहता था। सबके ऊपर उनकी भाषा उनके भावों को विकसित कर उन्हें बड़ी मार्मिकता से प्रकट कर देती थी। यही कारण है कि इनके जीवन काल ही में तत्कालीन प्रायः सभी प्रमुख सुलेखकों ने इस शैली को अपनाया था।

भारतेन्दु जी ने अपनी भाषा में फारसी-अरबी के शब्दों को भी रख दिया है पर उनके वे ही रूप लिखे गए हैं जो बिल्कुल चलते हुए हैं। उनके तत्सम रूप रखने का प्रयास नहीं किया गया है। जनाने, नाराज, हफ्ता, मसाला, खुरमा, चासनी, खबगी, जादे, बरखास्त आदि के शुद्ध तत्सम रूप जनानः, नाराज, हफ़्तः, मसालः, खुर्मः, चाशनी, खफगी, ज्यादः, बर्खास्त आदि नहीं रखे गए हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी के कितने चलते शब्द भी इनके द्वारा प्रयुक्त हुए हैं

और उनका तत्सम रूप नहीं लिया गया है। टिकट, अंधरी मजिस्टर, कमेटी, किरिस्तानी, पतलून आदि शब्द शुद्ध अंग्रेजी शब्दों के बिगड़े रूप हैं पर बोलचाल में इसी प्रकार प्रयुक्त होते आए हैं और इसलिये इसी रूप में रखे गए हैं। संस्कृत के भी तद्भव शब्दों का जो बोलचाल में काम आते हैं, खूब प्रयोग किया गया है, उनके शुद्ध ही रूप देने का प्रयास नहीं किया गया है। जजमान, मूरत, नहान, आपुस, गुर्ना, अच्छे आदि ऐसे बहुत शब्द मिलते हैं जो बोलचाल में इसी रूप में बराबर व्यवहृत होते हैं, और जो कानों को बड़े प्रिय भी लगते हैं। इनका प्रयोग उपयुक्त स्थान पर होने से नहीं खलता तथा रचना-आधिक्य के कारण वे खटकते भी नहीं।

भई, आवता, ई (यह), कहाते हैं, करथी, लिहिन हैं, होय गई, जाथौ आदि से शब्द भी काम में लाए गए हैं पर प्रायः वे ऐसे पात्रों द्वारा प्रयुक्त कराए गए हैं जो उसी प्रकार की बोली बोलते थे। काशी में अवधीपन युक्त भाषा आज भी बोली जाती है और यहाँ के रहने वाले पात्रों द्वारा ऐसे शब्दों का प्रयोग उचित ही हुआ है।

मुहाविरे के प्रयोग से भाषा में सबलता आती है और बहुतेरे भाव इनके प्रयोग से ऐसा खिल उठते हैं जैसा वे कई वाक्यों के लिखे जाने पर स्यात् न होते। इनसे भाव-व्यंजना में बड़ी सुगमता हो जाती है। मुहाविरे के थोड़े शब्दों में अधिक बातें समाविष्ट रहती हैं। भारतेन्दु जी ने इस प्रकार के मुहाविरों को प्रचुरता से प्रयुक्त किया है। लोहे का चना चबाना, अपने रंग में मस्त होना, सोरहो दंड एकादशी, अंधी की लकड़ी, कोख में आग लगाना, कलेजे पर सिल रखना आदि मुहाविरों ने इनकी भाषा में खूब चलतापन और सजीवता ला दी है। इनकी कविता में भी लोकोक्तियों और मुहाविरों की खूब बहार है और इनका अलग उल्लेख हो चुका है।

नाट्यशास्त्र-ज्ञान

वास्तव में हिन्दी साहित्य में नाटकों का आरम्भ भारतेन्दुजी की कृतियों ही से माना जाता है, इसलिए उनके इस विषय के ज्ञान की भी कुछ परख करना आवश्यक है। यहाँ पहले दो विद्वान् पारखियों की राय दी जाती है। एक तो हिन्दी के दिग्गज विद्वान् रायसाहब बा० श्यामसुन्दरदास हैं, जिनकी विवेचना से दो प्रकार की ध्वनि निकलती है। पहली यह है—"इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट विदित हो सकता है कि भारतेन्दु जी

को दृश्यकाव्य का न तो पूरा-पूरा साहित्यिक ज्ञान था और न व्यावहारिक, तथा उन्होंने यूरोपीय और भारतीय पद्धतियों के भेदों को भी पूर्ण रूप से हृदयंगम नहीं किया था, पर थे वे एक निपुण लेखक और अच्छे कवि। इसलिये उनकी कृतियों के ये सब दोष छिप जाते हैं और पाठक उनके नाटकों को पढ़ कर और उसके मूलभाव से मुग्ध होकर आनन्द प्राप्त करते हैं।" दूसरी इस प्रकार है—"सारांश यह कि भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों में न तो भारतीय पद्धति का अनुकरण किया है और न यूरोपीय पद्धति का। दोनों की कुछ-कुछ बातों का यथारुचि पारसी नाटक कंपनियों और आधुनिक बंगला नाटकों के अनुकरण पर उपयोग किया गया है। यह उपयोग यदि किसी सिद्धान्त पर होता अथवा किसी नई पद्धति को प्रचलित करने के उद्देश्य से किया जाता तो अवश्य कुछ महत्त्व का हो सकता था। जो कुछ आक्षेप या दुःख की बात है, वह यही है कि संस्कृत के कई नाटकों के अनुवादक होने पर भी भारतेन्दु जी ने अपने परम उन्नत नाट्यशास्त्र के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं किया। पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध उत्पन्न करने वाली प्रकाशमाला से मोहित होकर उन्होंने उसके आगे सिर झुका दिया। भारतेन्दु जी के समय में जो और नाटक लिखे गए, वे भी इसी ढंग के थे। उनके रचयिताओं ने भारतेन्दु जी को अपना आदर्श माना और उनका अनुकरण करने का प्रयत्न किया। भारतेन्दु जी ने हिन्दी में अनेक नाटक लिखकर हिन्दी साहित्य के एक प्रधान अंग की पूर्ति का उद्योग किया और लोगों को इसका मार्ग दिखाया।" दूसरे विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञ पं० रामचन्द्र शुक्ल जी लिखते हैं कि "इनमें पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि हर प्रकार के नाटक हैं। इन नाटकों की रचना में उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। न तो बँगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एकबारगी छोड़ वे अंगरेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया।" पूर्वोक्त जो दो सम्मतियाँ उद्धृत की गई हैं उनसे स्पष्ट है कि उनके लेखकों ने संस्कृत, बँगला तथा अँगरेजी, तीनों नाट्यसाहित्यों का मनन किया है और एक सज्जन ने इसके सिवा पारसी थिएट्रिकल साहित्य का भी मंथन किया है।

भारतेन्दु जी ने कुल मिलाकर लगभग डेढ़ दर्जन के नाटक लिखे, जिनमें कई संस्कृत से, एक बंगला से तथा एक अंगरेजी से अनूदित हैं। इसलिये इनके छोटे बड़े प्रायः नौ दस मौलिक नाटकों ही की रचना से इनके नाट्यशास्त्र-ज्ञान की पड़ताल की जायगी। इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भारतेन्दु जी ने नाट्यकला पर स्वतंत्र पुस्तक 'नाटक' लिखी है, जिसे उन्होंने संस्कृत तथा

अंगरेजी दोनों ही के नाट्यकला के ग्रंथों को मनन करके तैयार किया है और स्थान-स्थान पर अपनी स्वतंत्र राय भी दी है। सर्वोपरि इन्होंने इसमें लिखा है कि "अब नाटक में कहीं 'आशीः' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोभन', कहीं 'संफेट', 'पंचसन्धि', वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करने, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रख कर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरत जी जो सब नियम लिख गए हैं, उनमें जो हिन्दी नाटक-रचना के नितांत उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं, वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।" अस्तु, इस 'नाटक निबन्ध' तथा इसके मौलिक नाटकों के रचना-कौशल दोनों ही पर दृष्टि रखते हुए विवेचना करना उचित होगा।

भारतीय नाट्यकला के अनुसार नाटक के तीन मूलतत्व कथावस्तु, नायक तथा रस होते हैं। कथावस्तु से उस आख्यान या घटना या व्यापार से तात्पर्य नहीं है जिसके आधार पर नाटक की कथावस्तु का निर्माण हुआ है, प्रत्युत् उनके उसी रूप से मतलब है जो नाटककार ने अपने कौशल से उन्हें दे दिया है। यह वस्तु दो प्रकार का होता है—आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक के प्रधान फल का जो मालिक होता है उसे नायक या अधिकारी कहते हैं और उसकी ही कथा आधिकारिक है। इसकी साधिका या सहायिका इतिवृत्ति प्रासंगिक कहलाती है। जिस प्रकार सत्य हरिश्चन्द्र में हरिश्चन्द्र अधिकारी या नायक हैं और उनकी कथा आधिकारिक है। इसी में भूत आदि का विवरण प्रासंगिक कथा-मात्र है। इस कथावस्तु के समग्र व्यापारों को करने या सहने वाले मनुष्य होते हैं जिनके कार्यों को देखकर तथा वार्त्तालाप सुनकर कुल बातें दर्शकों पर प्रकट होती हैं। इसी लिए नाटककार इन व्यापारों को अभिनय तथा पात्रों के कथोपकथन द्वारा बड़ी कुशलता से संगठित करता है, जिससे कुल घटना-क्रम पाठकों, विशेषतः दर्शकों, को हृदयंगम हो जाती है। यह कथोपकथन पात्रों के चरित्र के अनुकूल ही होना चाहिए। मितभाषी पात्र का बकवाद, गंभीर राजनीतिज्ञ का मसखरापन आदि दिखलाना दोष हो जायगा। इस वार्तालाप ही से पात्रों के चरित्र-चित्रण में विशेष सहायता मिलती है। नाटककार को घटना के समय तथा देश के अनुसार पात्रों का चरित्र गुंफित करना पड़ता है। घटना यदि दो सहस्र वर्ष पहले के किसी दक्षिण राजवंश की है और नाटककार उसे वर्तमान समय के उत्तरापथ के किसी राजवंश

की रीति-प्रथा आदि लेकर निर्माण करता है तो वह दोनों ही के विरुद्ध चलता है और वह कभी सफल नहीं हो सकता। नाटक का कुछ उद्देश्य भी होना चाहिए और वह जिस उद्देश्य से लिखा गया है उसका उसी कथावस्तु के साथ विकास होते चलना चाहिए। नाटककार के निजी भाव, अनुभव, विचार आदि भी क्रमशः आप से आप इस कथावस्तु के विकास के साथ-साथ लगे रहते हैं, जिससे हर एक कुशल नाट्य-शिल्पी की एक-एक निजी शैली हो जाती है। काव्य की आत्मा-रस की प्राण-प्रतिष्ठा अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना नाटक नीरस और निर्जीव हो रह जायगा। संस्कृत-साहित्य में रस-विरोध न होना आवश्यक बतलाया गया हैं पर नवीन प्रणाली के दुःखांत नाटकों में ऐसा हो जाना अवश्यम्भावी हो गया है।

कथावस्तु के प्रयोजन की सिद्धि के उपाय को अर्थ-प्रकृति कहते हैं, जो पाँच होती हैं। इनके नाम बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य हैं प्रयोजन सिद्ध्यर्थ आरम्भ किए गए कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं, जिनके नाम आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम हैं। एक ही प्रयोजन से युक्त पर इतिवृत्त की अवस्थानुसार विभक्त हुए कथांशों के अवांतर संबंधों से पाँच संधियाँ होती हैं, जिन्हें मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण कहते हैं। इन संधियों में पहले के बारह, दूसरे के तेरह, तीसरे के तेरह, चौथे के तेरह और पाँचवें के चौदह अंग होते हैं। परन्तु इन सबका आधुनिक काल में भारतेन्दु जी के अनुसार विशेष कुछ काम नहीं है, जैसा ऊपर के एक उद्धृत अंश से ज्ञात हो जायगा।

पाश्चात्य नाट्यकला में पूर्वोक्त अर्थप्रकृति तथा संधि का विश्लेषण नहीं है पर कथावस्तु के कर्मानुसार पाँच अवस्थाएँ मानी जाती हैं। पहली और पाँचवीं आरम्भ और अंत हैं। तीसरी वह है जिसे क्लाइमेक्स अर्थात् चरम सीमा कहते हैं। दूसरी और चौथी अवस्था चढ़ाव और उतार हैं। यह पाँचो भेद साधारण हैं। नाटकों में प्रायः प्रेमियों की लीला प्रदर्शित की जाती है। उदाहरणार्थ, एक प्रेमलीला लीजिए। दो प्राणियों के प्रेमांकुरण से इसका आरम्भ होता है। उसके मार्ग में रुकावट पड़ती है पर वह अग्रसर होता रहता है। इसके अनंतर यह बाधा अपना पूर्ण रूप प्रकट करते हुए भी असफल होने का आभास देती है। इसके बाद वह क्रमशः बिल्कुल दब जाती हैं, तब अंत में युगल-मिलन में हो जाता है।

विद्यासुन्दर नाटक में ठीक इसी प्रकार की एक प्रेमलीला का वर्णन है। इसका मूल आधार तो केवल इतना ही है कि एक राजकुमारी विद्या का उसके सहपाठी

सुन्दर से प्रेम हो गया था, जिसका अंत वियोग में हुआ था। बँगला के विद्यासुन्दर नाटक देखने का मुझे सौभाग्य नहीं मिला है, इसलिए इस विषय में कुछ नहीं लिखा जा सकता किन्तु भारतेन्दु जी ने उसमें क्या घटी-बढ़ती की है। यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है तथा पहला चार और दूसरा तथा तीसरा तीन-तीन गर्भांकों में बँटा है। इस "गर्भांक शब्द का बड़ा दुरुपयोग किया गया है। यह शब्द अँगरेजी के 'सीन' शब्द का समानार्थी माना गया है, यद्यपि संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार किसी अंक के मध्य में आने वाले अंक को गर्भांक कहा है और यह आदेश किया है कि रस, वस्तु और नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए इसका प्रयोग होना चाहिए। बँगला के आधुनिक नाटकों में गर्भांक, सीन के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और जान पड़ता है कि भारतेन्दु जी ने भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। हमारी समझ में 'दृश्य' शब्द से इसका काम भलीभाँति चल सकता था। एक शास्त्रीय शब्द का दुरुपयोग वांछनीय नहीं है। इससे व्यर्थ भ्रम उत्पन्न होता है।" यह गर्भांक उद्धरण-लेखक को हौआ सा मालूम हुआ है। भारतेन्दु जी 'नाटक' में लिखते हैं कि "प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में नाटक के लेखों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इन अंकों और गर्भांकों की कल्पना यों होनी चाहिए, यथा पाँच वर्ष के आख्यान का एक नाटक है तो उसमें वर्ष-वर्ष के इतिहास के एक-एक अंक और उस अंक के अंतःपाती विशेष-विशेष समयों के वर्णन का एक-एक गर्भांक। अथवा पाँच मुख्य घटना-विशिष्ट कोई नाटक है तो प्रत्येक घटना के सम्पूर्ण वर्णन का एक-एक अंक और भिन्न-भिन्न स्थानों में विशेष घटनांतःपाती छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में एक-एक गर्भांक।"

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक पौराणिक आख्यान तथा चंडकौशिक नाटक के आधार पर लिखा गया है। भारतेन्दु जी ने इसकी कथावस्तु बड़ी कुशलता से सुगठित किया है। बालकों को उपदेश देने के जिस उद्देश्य से यह लिखा गया है, उसे यह पूर्णरूप से चरितार्थ कर रहा है। इसमें वीर रस के सत्य, ज्ञान तथा धर्म तीनों भेदों का परिपाक हुआ है और करुण, वीभत्स रसों का भी समावेश हुआ है। इसमें चार ही अंक हैं और अंतिम अंक को चंडकौशिक के समान व्यर्थ ही दो अंकों में विभक्त कर नाटक में कम से कम पाँच अंक होने के नियम का दोषमार्जन नहीं किया गया है। यह कवि-स्वातंत्र्य है। इसमें अर्थप्रकृति तथा अवस्थाएँ, सभी उपयुक्त स्थानों पर मौजूद हैं और यह नाटक सभी लक्षणों से युक्त है।

इनके सिवा चंद्रावली नाटिका, भारतदुर्दशा, नीलदेवी, प्रेमयोगिनी आदि कई छोटे-बड़े रूपक लिखे गए, जिनकी संक्षिप्त आलोचना अलग की जा चुकी है। इन सब विवेचनों से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी को संस्कृत नाट्यशास्त्र का अच्छा ज्ञान था और यूरोपीय नाट्यकला का भी उन्होंने मनन किया था। पारसी थिएट्रिकल साहित्य के विषय में भारतेन्दु जी की अच्छी सम्मति नहीं थी। वे जिन नाटक कंपनियों के लिए लिखे जाते थे उनका व्यवसाय पैसे कमाना था तथा वे साहित्यिक दृष्टि से नहीं लिखे जाते थे। ऐसी नाटक कंपनियाँ आज भी हैं, जो वस्त्रभूषा, दृश्य, पटपरिवर्तन, नर्तकियों आदि की बाहरी चमक-दमक व दर्शकों को आकर्षित करना ही अपना धर्म समझती हैं।

चरित्र-चित्रण

नाट्यशास्त्र-ज्ञान की चर्चा के अनंतर चरित्र-चित्रण की उच्चतर कला की ओर आइए, जिसमें मनुष्यों के मनोविकारों तथा उच्चतम भावों का समावेश कर कवि या नाटककार आदर्श चित्र अंकित करते हैं। साधारण पात्रों में ऐसे-ऐसे विकारादि की क्षणिक अभिव्यंजना ही काफी हो सकती है पर प्रधान पात्रों में इन सब को अथ से इतिं तक अनेक अवसर लाकर अभिव्यक्त करते रहना आवश्यक होता है। इसी कारण नाटककार को मानव-जीवन के सभी अंगों का, विशेषतः जिनको वह चित्रित कर रहा हो, पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, नहीं तो वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता। साथ ही उस ज्ञान का कुशल शिल्पी ही इस प्रकार उपयोग कर सकता है, जिससे उसके चित्र सजीव हो उठते हैं। भारतेन्दु जी ऐसे ही कुशल नाटककार थे और उनके मौलिक नाटकों के कुछ पात्रों का ऐसा ही चित्रण हुआ है।

सत्यहरिश्चन्द्र नाटक में राजा हरिश्चन्द्र तथा विश्वामित्र प्रधान पात्र हैं और रानी शैव्या, इन्द्र, नारद गौण पात्र हैं। पहले वीरवर सम्राट् हरिश्चन्द्र को लीजिए। इनका व्रत था—

> चन्द्र टरै सूरज टरै टरै जगत व्यवहार।
> पै दृढ़ श्री हरिचन्द्र कौ टरै न सत्य विचार॥

इस सत्यवीर के प्रभूत ऐश्वर्य, अटलशक्ति, विवेक-ज्ञान, धर्म-प्रियता, दान-शक्ति, शील, धर्मनिष्ठा, क्षमा आदि गुणों को देख कर एक अन्य पात्र को ईर्ष्या होती है और वह विश्वामित्र से क्रोधी ब्राह्मण में उनके प्रति क्रोध उत्पन्न कर उन्हें हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा लेने को उभाड़ता है। अब एक पक्ष अपने सत्य-पथ

से जरा भी विचलित न होते हुए सभी रुकावटों को रौंदता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है और दूसरा अपनी षड्यन्त्रकारिणी दुष्ट बुद्धि को बाधाएँ उपस्थित करने में अन्त तक प्रेरित करता रहता है। महाराज हरिश्चन्द्र स्वप्न में दिए हुए दान को सत्य मानकर दानपात्र ब्राह्मण के नाम पर राज्य चलाते रहने का प्रबन्ध कर रहे थे कि स्वप्न के वही ब्राह्मणदेव क्रोध के मूर्त्तरूप आ उपस्थित होते हैं और जब बकझक करते हुए भी स्वप्न का प्रतिगृहीत समग्र राज्य पा जाते हैं, तब दक्षिणा के बहाने उस सत्यवीर नायक को सस्त्रीक बिकने पर बाध्य करते हैं। इस 'अकारण कोही ब्राह्मण' बने हुए क्षत्रिय के दुर्व्यवहार पर भी सच्चे क्षत्रिय शूरवीर में ब्राह्मणों के प्रति जो उदारता थी वह उस को अन्त तक सौम्य बनाए रखती है। कुशल नाटककार ने आरम्भ से अन्त तक इस प्रकार घटना-संगठन किया है कि दर्शकों की नायक के प्रति ज्यों-ज्यों सहानुभूति आकर्षित होती जाती है, त्यों-त्यों तपस्वी प्रतिनायक की ओर उनकी अश्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। महाराज हरिश्चन्द्र राज्य, स्त्री, पुत्र तथा शारीरिक स्वातन्त्र्य सब कुछ खोकर भी अपना शील, सौम्यता, सत्य में दृढ़ता तथा ईश्वर-भक्ति नहीं त्यागते। दर्शक उनकी ओर श्रद्धा-पूर्ण नेत्रों से देखते रहते हैं और अन्त होते-होते स्यात् ही उनमें ऐसा कोई निष्ठुर हृदय होगा, जिसकी आँखें न डबडबा आएँ। प्रतिनायक विश्वामित्र की कुटिलता देखते-देखते दर्शकों को उन पर घृणा हो जाती है। यहाँ तक कि स्वर्ग-स्थित देवगण भी धिक्कार देने में पीछे नहीं रह जाते। राजा हरिश्चन्द्र का यह सत्यव्रत लोकव्यापी व्यापार हो उठा था, और केवल मनुष्यों ही की नहीं, देवगण की भी दृष्टि उसी ओर रहने लगी थी।

राजा हरिश्चन्द्र अपने गौरव तथा आत्माभिमान को कहीं नहीं भूले हैं। उन्हें अपने उच्चतम वंश का, सहज क्षात्रधर्म का तथा सत्यव्रत का सच्चा दर्प था। दक्षिणा-रूपी ऋण रहते शरीर बेंच देने पर सहस्र कष्ट होते हुए भी वे मृत्यु के आवाहन करने का विचार भी लाना अधर्म समझते थे। कहते हैं—

तनहिं बेंचि दासी कहवाई। मरत स्वामि आयसु बिनु पाई।
करु न अधर्म सोचु मन माहीं। पराधीन सपने सुख नाहीं॥

कापालिक जब इनकी सहायता से रसेन्द्र आदि सिद्ध करके ले आता है और इन्हें देने लगता है, तब यह उसे अपने स्वामी ही को देने के लिए कहते हैं, क्योंकि वे समझते थे कि 'देह के साथ ही अपना स्वत्वमात्र बेंच चुका।' इसी पर धर्म आश्चर्यचकित होकर कहता है कि—

चलै मेरु बरु प्रलय जल पवन झकोरन पाय।
पै बीरन के मन कबहुँ चलहिं नहीं ललचाय॥

उदारता नायक में इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि जब महाविद्याएँ स्वतः इनकी वशवर्तिनी होकर आईं, तब इन्होंने उन्हें अपने सभी कष्टों के मूल विश्वामित्र के पास अपनी ओर से केवल इस कारण भेज दिया कि 'उन्होंने उसके वास्ते बड़ा परिश्रम किया था।' ब्राह्मणों के प्रति उनका यह औदार्य तथा आदर उनके सभी आचरणों से व्यक्त होता था। महारानी शैव्या-सी स्त्री के दासी होकर जाते समय कौंडिन्य महाराज के, बालक रोहिताश्व को व्यर्थ ढकलने तथा उस बालक के रोते हुए उठ कर क्षोभ तथा क्रोध भरी आँखों से माता-पिता की ओर देखने पर, वे केवल इतना ही कहते हैं कि 'ब्राह्मण देवता, बालकों के अपराध से रुष्ट न होना।' और पुत्र से कहते हैं कि 'ब्राह्मण का क्रोध तो सब दशा में सहना चाहिए।'

'चांडाल-याजिन्' की कुटिलता से जब हरिश्चन्द्र चांडाल-दास हुए तब इन्होंने अपने स्वामी के प्रति जो स्वामिभक्ति दिखलाई है वह उस स्वामिभक्ति से कठिनतर थी जो वे स्वयं अपने कर्मचारियों तथा दासों से चाहते रहे होंगे। सत्य ही, ऐसे सत्यवीर सम्राट् के सभी कार्य आदर्श थे। सांसारिक सुख-दुःख के अनुभव कटु होते ही हैं। ऐसी कष्टमय परिस्थिति में पड़ कर कितने साधारण पुरुष क्या न क्या कर बैठते। इसी कटु अनुभव तथा स्वामिभक्ति के कारण आती हुई निधि, भगवती के आशीर्वाद सभी को अपने मालिक ही के लिए माँग लिया था और महाविद्याओं, अष्टसिद्धि, नवनिधि तथा बारह प्रयोगों को विश्वामित्र, योगियों, सज्जनों तथा साधकों के पास विदा कर दिया था। पुत्र की मृत्यु पर नियमानुसार उसके अधखुले कफ़न से आधा अंश माँग कर इन्होंने देवताओं तक से कहला डाला—

अहो धैर्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम्।
त्वया राजन् हरिश्चन्द्र सर्वलोकोत्तरं कृतम्॥

दानवीर जब दान देने में अपने को असमर्थ पाता है और याचक के सम्मुख उपस्थित होता है तब उसे कितनी मार्मिक व्यथा होती है, यह भी एक स्थान पर बड़ी सुन्दरता से दिखला दी गई है। आरम्भ में नारद जी से नाटककार ने महाशयता की परिभाषा इस प्रकार कराई है कि 'जिसका भीतर बाहर एक सा हो और विद्यानुरागिता, उपकारप्रियता आदि गुण जिसमें सहज हो, अधिकार में क्षमा हो, विपत्ती में धैर्य, संपत्ति में अनभिमान और युद्ध में जिनकी स्थिरता हो,

वही ईश्वर की सृष्टि का रत्न है और उसी की माता पुत्रवती है।' राजा हरिश्चन्द्र महाशय तथा सृष्टि के रत्न थे और यही कारण है कि आज तक सत्यवीरों की सूची में पहला नाम इन्हीं का रखा जाता है।

प्रतिनायक विश्वामित्र इंद्र द्वारा प्रेरित होने पर ही हरिश्चन्द्र के विरुद्ध उठे थे पर उनका 'इस पर स्वतः भी क्रोध' था। वशिष्ठ ऋषि से विश्वामित्र की शत्रुता पुराण-प्रसिद्ध है और राजा हरिश्चन्द्र इन्हीं वशिष्ठ जी के यजमान थे। जिस समय यह पहले-पहले रंगमंच पर पधारते हैं और राजा उनका शिष्टाचार करते हैं तब 'रे क्षत्रियाधम, सूर्यकुलकलंक, दुष्ट' आदि से यह उन्हें संबोधित करते हैं। इसके बाद पैर पर गिर कर विनय करने पर भी आप क्रोध से कहते हैं "सच है रे पाप पाषंड मिथ्या दानवीर! तू क्यों न मुझे 'राजप्रतिग्रह-पराङ्मुख' कहेगा क्योंकि तैंने तो कल सारी पृथ्वी मुझे दान दी है, ठहर, देख इस झूठ का कैसा फल भोगता है! हा! इसे देखकर क्रोध से जैसे मेरी दाहिनी भुजा फिर शाप देने को उठती है वैसे ही जातिस्मरण के संस्कार से बाईं भुजा फिर से कृपाण ग्रहण किया चाहती है। (अत्यंत क्रोध से लंबी साँस लेकर और बाँह उठा कर) अरे ब्रह्मा सम्हाल अपनी सृष्टि को, नहीं तो परम तेजपुंज दीर्घ तपोवर्द्धित मेरे आज इस असह्य क्रोध से सारा संसार नाश हो जायगा अथवा संसार के नाश ही से क्या? ब्रह्मा का तो गर्व उसी दिन मैंने चूर्ण किया, जिस दिन दूसरी सृष्टि बनाई, आज इस राजकुलांगार का अभिमान चूर्ण करूँगा, जो मिथ्या अहंकार के बल से जगत में दानी प्रसिद्ध हो रहा है।"

इस प्रकार वह अनेक तरह के वाग्बाण छोड़ते हुए राजा का सर्वस्व अपहरण कर उसे शरीर बेंच कर दक्षिणा चुकाने काशी भेज देते हैं। दर्शकों को इनके प्रति इतने ही से घृणा उत्पन्न हो जाती है। काशी में तक़ाज़ा करने पहुँचने पर आप कहते हैं कि "इसके सत्य, धैर्य और विनय के आगे हमारा क्रोध कुछ काम नहीं करता। यद्यपि यह राज्यभ्रष्ट हो चुका पर जब तक इसे सत्यभ्रष्ट न कर लूँगा तब तक मेरा संतोष न होगा। (आगे देखकर) अरे! यहीं दुरात्मा (कुछ रुककर) वा महात्मा हरिश्चन्द्र है? (प्रगट) रे आज महीने में कै दिन बाकी हैं? बोल कब दक्षिणा देगा?"

इससे घृणा बढ़ती है और साथ ही सच्चे गुण का असर कठोर हृदय पर भी होता दिखलाकर नाटककार ने इसे अस्वाभाविक होने से बचा लिया। यहीं से यह भी लक्षित करा दिया है कि प्रतिनायक पर नायक के लोकोत्तर गुण का असर हो रहा है, और उसमें द्वेष की मात्रा कम होती जा रही है, जो दो एक

परीक्षा के बाद ही मिट जायगी तथा उसके स्थान पर राजा के प्रति उनमें पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न हो जायगी। परीक्षक कठोर होता ही है और क्षत्रिय से ब्राह्मण का का पद प्राप्त करने पर भी उनमें अहंकार, कठोरता तथा शूर प्रतिभट के प्रति आदर दिखलाना अत्यंत स्वाभाविक हुआ है।

महारानी शैव्या तथा राजकुमार रोहिताश्व का चरित्र उन्हीं के अनुकूल चित्रित हुआ है। नाटककार ने सहज स्त्री-सुलभ संकोच, लज्जा, पति के प्रति दृढ़ विश्वास तथा श्रद्धा उसकी एक-एक बात में भर कर रख दी है। पति ही पत्नी का सर्वस्व है, ऐसा मानते हुए भी वह अपनी शंका तथा अपनी सम्मति कह देना उचित समझती थीं। उपाध्याय से कहला कर महारानी के सौंदर्य, सौकुमार्य तथा शील प्रगट करते हुए 'तुम्हारे पति हैं न' प्रश्न ने सती स्त्री के सतीत्व को दमका दिया है। जिस पति के कारण वह एक महाराज की पुत्री और एक सम्राट् की पुत्रवधू हो कर तथा अपने छोटे से पुत्र को लेकर, उस समय दासी होने जा रही थी, उसके प्रति उसका भाव क्या था, यह उसकी सौम्य मूकदृष्टि ही बतला रही है। पति की ओर देखकर नीचे दृष्टि कर लेने में कितना व्यथापूर्ण भाव है कि आज वह अपने ऐसे सर्वश्रेष्ठ रत्न को चिथड़े में रखा हुआ सब को दिखला रही है। पर रत्न रत्न ही है। इसके सिवा पुत्र-शोक-पीड़िता शैव्या के सारे रोने-कलपने को पढ़िए पर एक भी शब्द ऐसा न मिलेगा, जिससे उसका पति के प्रति अविश्वास या रोष का संदेह मात्र भी हो। श्मशान में चांडाल-दास पति के साथ उसका वही व्यवहार रहा जो राज सिंहासन पर सुशोभित सम्राट् पति के साथ था। महारानी शैव्या आदर्श स्त्री-रत्न थीं। रोहिताश्व बालक था। उसका निज का चाहे कुछ भी आदर्श चरित्र न दिखलाया गया हो, पर उसी पर सत्य परीक्षा की अंतिम कसौटी कसी गई थी, जिसका कस विद्युत् से भी बढ़ कर प्रज्वलित हो उठता था। यही बालक नाटक के करुण रस का स्रोत है और उसी पर की गई परीक्षा सदा सोने वाले आरामपसंद भगवान को मृत्युलोक तक खींच लाई थी।

सहायक पात्रों में इन्द्र और नारद ही मुख्य हैं। इन्द्र का स्वभाव वही दिखलाया गया है जो उनके लिये प्रायः प्रसिद्ध है, पर नारद जी का इसके विपरीत चित्रित किया गया है। वास्तव में वे पुराणों से कहाँ तक कलह-प्रिय ज्ञात होते हैं, इस पर विशेष रूप से तो नहीं कह सकता, पर तब भी वे कहीं इस स्वभाव के मुझे नहीं मिले। वे विरक्त थे, इससे दक्ष की संतान को उल्टा उपदेश देकर वन में विदा कर दिया और स्वयं शापित होकर घूमने लगे। दुष्टों के संहार कराने में यह सदा दत्तचित्त रहते थे। संस्कृत साहित्य में, माघ आदि काव्यों में, ये ऋषिवर

ही चित्रित हैं; यद्यपि उनमें भी वे दुष्टों के नाश कराने हो के कार्य में लगे हुए वर्णित हैं। हिन्दी ही में, जहाँ तक मैं समझता हूँ, झगड़ालुओं के लिये नारद नाम रूढ़ि हुआ है। इस विचार से नारद जी का चित्रण ऋषिवत् करना ही उत्तम हुआ है, और उनसे इन्द्र को जो उपदेश दिलाया गया है वह बालकों के लिये उपयोगी है। नारद जी सर्वदा हरिनाम जपते तथा भ्रमण करते हुए सभी स्थानों में जाया-आया करते थे पर वशिष्ठ जी से ऋषि का सिवा किसी विशेष काम के इन्द्र के पास जाना तथा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा और पक्षपात करना उचित न होता। इसके बाद विश्वामित्र के आने पर दोनों में साक्षात् कराना भी ठीक न होता क्योंकि दोनों 'चांडाल-याजिन्' के नाते उस समय परस्पर मित्र भाव नहीं रखते थे। अस्तु, नाटककार ने जो कुछ सोच कर ऐसा किया हो, वह उचित ही किया है।

चन्द्रावली नाटिका की नायिका श्रीमती चन्द्रावली जी निरीह प्रेम की पात्री हैं। इनका प्रेम विलक्षण है, जो अकथनीय तथा अकरणीय है। जहाँ प्रेम होता है वहाँ प्रेमपात्र में माहात्म्य का ज्ञान नहीं रह जाता और जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम प्रस्फुटित नहीं हो सकता। पर यह श्रीकृष्ण भगवान के माहात्म्य को अच्छी प्रकार जानकर भी उनमें पूर्ण आसक्ति रखती थीं। इनके प्रेम की निस्पृहता बहुत बढ़ी हुई थी। यह प्रायः ऐसा देखा करती थीं, जिस पर इनकी सखी ललित ने उक्ति की 'तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि आरसी' में रैन दिन देखिबो करत है।' इस पर चन्द्रावली जी उत्तर देती हैं कि "नहीं सखी! मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी तब भगवान से हाथ जोड़कर मनाती थी कि भगवान् मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे, हा!" वह स्वयं चिरकाल तक विरहकष्ट सहन करने को तैयार हैं पर यह नहीं चाहती कि उसका प्रिय भी उससे वैसा ही प्रेम कर विरह की यातना भोगे। उसने स्वयं कितना कष्ट उठाया होगा यह उसके दो एक दिन के प्रलाप ही से समझ लीजिए। "प्रेमियों के मंडल को पवित्र करने वाली" श्री चन्द्रावली जी के इसी चरित्र पर भक्त कवियों ने इन्हें श्री राधिका जी के समकक्ष मानते हुए कहा है—

> राधा चंद्रावली कृष्ण ब्रज यमुना गिरिवर मुखहि कहौ री।
> जनम-जनम यह कठिन प्रेम व्रत हरीचन्द्र इक रस निबहौ री॥

भारत दुर्दशा में 'भारतदुर्दैव' पात्र प्रधान है और इसी ने भारत के नाश करने का पूरा प्रयत्न किया है। भारत की दुर्दशा का इतिहास भारत के परतंत्र

होने के समय से आरम्भ होता है। मुसलमानों के आक्रमणों से भारत का स्वातंत्र्य क्रमशः नष्ट हो चला था कि भारतीयों ने उसे पुनः अपनाना आरम्भ कर दिया पर उसी प्रयास-काल में यूरोपियन क्रिस्तानी जातियों ने व्यापार की आड़ में यहाँ आकर उसे पुनः परतंत्र कर दिया। यही कारण है कि भारतदुर्दैव को अर्द्ध क्रिस्तानी तथा अर्ध मुसल्मानी वेष दिया गया है। इस पात्र का चित्रण अतीव सुन्दर हुआ है और इससे देश की तत्कालीन दशा का पूरा ज्ञान हो जाता है। इसका प्रतिनायक 'भारत भाग्य' है। छठे अंक में उसने पहुँच कर भारत के प्राचीन गौरव का, वर्तमान समय की उसकी दुर्दशा का और उन्नति करने में भारतीयों की पंगुता का बड़ी ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया है। इस प्रतिनायक ने देशवासियों को जगाने का बहुत प्रयत्न किया पर जब वे न जागे तब उसने नैराश्य में आकर आत्महत्या कर ली। आशावादी कह सकते हैं कि "भारतोदय करने की दृढ़ता का भाव" होना चाहिए था। वास्तव में नाटककार ने भारतभाग्य का अंत दिखलाकर सोए हुए भारत ही पर नहीं, दर्शकों पर भी विशेष रूप से स्थायी प्रभाव डालने का प्रयत्न किया है। भारतीयों में क्या-क्या दुर्गण आ गए थे, जिनके कारण वे इस प्रकार दुर्दशाग्रस्त हो गए थे, इनको 'भारतदुर्दैव' के प्रयत्नों के रूप में बड़ी मार्मिकता से दिखलाया है। उसके सेनापति 'सत्यानाश' ने आकर धर्म की आड़ में होते हुए सामाजिक दोषों पर खूब चुनौतियाँ ली हैं। अपव्यय, कचहरी फूट आदि दोष गिनाए गए, जो आज तक वर्तमान हैं। इसके अनंतर भारतदुर्दैव अपने अन्य सैनिकों को भारत भेजता है। पहले 'रोग' आता है। इसको लाने का मुख्य कारण भारतीयों की वह मूर्खता दिखलाना था जो बीमारी आने पर दवा इत्यादि न कर भूत-प्रेत पूजना, शुक्रवार को फुँकवाना आदि ही अलं समझते थे और हैं। इसके अनतर आलस्य आता है, जिसका चित्रण बहुत अच्छा हुआ है। यह हम भारतीयों का जीता-जागता नमूना है। मदिरा देवी के प्रभुत्व का वर्णन बहुत उचित हुआ है। अभी तक नशा की वस्तुओं पर पिकेटिंग होती रही थी इसके अनंतर अन्धकार भेजा गया। इस प्रकार बराबर प्रयत्नशील रहते हुए कर्मठ 'भारतदुर्दैव' सफल-सा होता दिखलाया गया है। पाँचवें अंक में कुछ जागृति के लक्षण आशा रूप में दिखलाए गए हैं। पुस्तक, अखबार, कमीटी आदि उसके चिह्न हैं, और भारतदुर्दैव के प्रयत्नों के निराकरण के उपाय सोचना भारतोदय की आशा करना है।

नीलदेवी में सूर्यदेव नायक तथा अब्दुश्शरीफ खाँ प्रतिनायक हैं। पहले का चित्र सच्चे राजपूत वीर-सा खींचा गया है। वह धर्म-युद्ध-वीर है। प्रतिनायक

का चित्र भी ठीक है। वह शबखूँ अर्थात् रात्रि-आक्रमण में बहादुर है, अवसर का बंदा है। अन्त में वह इसी प्रकार के एक धावे में सूर्यदेव को कैद कर लेता है और वह वहीं कैद में मारा जाता है। एक पागल-पात्र मुसल्मानी पड़ाव में जाकर उनकी मृत्यु का पता लगाता है और उसी से राजा सूर्यदेव के पुत्र तथा धर्मपत्नी रानी नीलदेवी को सूचना मिलती है। कुमार सोमदेव अपने पिता के समान ही वीरता के साथ सम्मुख युद्ध की घोषणा करता है पर रानी नीलदेवी उसे इस कार्य से परोकती है। वह जानती है कि सम्मुख युद्ध में ये शत्रु से पार न पावेंगे और वह पति का बदला पाने तथा उनके शव के साथ जल सकने से वंचित रह जायगी। नाटककार ने ऐसा उससे कहला भी दिया है। अंत में वह वीर नारी "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्" नीति के अनुसार षड्यंत्र रचकर उसे मार डालती है। क्रूर आततयियों को उन्हीं के शस्त्रों से मार डालना प्रतिहिंसा नहीं है।

मौलिक अपूर्ण नाटकों में प्रेमयोगिनी तथा सती सावित्री हैं। प्रथम में काशी के अनेक प्रकार के लोगों की बोलचाल, स्वभाव आदि का परिचय दिया गया है। इसमें चरित्र-चित्रण करने का प्रयास विशेष नहीं है पर तब भी मन्दिर के साधारण दर्शन करने वाले बगुला भक्त, दलाल, गंगापुत्र, गुण्डे, भोजनभट्ट ब्राह्मण आदि के चित्र उतारे गए हैं। इसमें रामचन्द्र नाम से अपने विषय में भी भारतेन्दु जी ने कुछ लिखा है। सती प्रताप में सती सावित्री नायिका तथा सत्यवान नायक हैं। दोनों में प्रेमांकुरण एक-दूसरे को वन में देखने से होता है। दोनों ही मनसा एक-सरे को वरण करते हैं। सावित्री की बातों से पति के प्रति पत्नी का धर्म बतलाया है तथा माता-पिता की आज्ञा भी मान्य बतलाई गई है। सखियों के योगी सत्यवान पर आक्षेप करते हुए अन्य राजकुमारों का उल्लेख करना सुन कर सावित्री का क्रोध दिखलाना सहज स्वाभाविक हुआ है, और उसका यह कथन कि "निवृत्त करोगी ? धर्म पथ से ? सत्य प्रेम से ? और इसी शरीर में ?" कितना भावावेषपूर्ण है। नारद जी के कथन पर सत्यवान के पिता यह विवाह स्वीकार कर लेते हैं। बाद को सर्पदंशन से मृत्यु होने पर भी सावित्री अपने पातिव्रत्य-बल से उन्हें जिला लेती है।

इस प्रकार भारतेन्दु जी के मौलिक नाटकों के मुख्य-मुख्य पात्रों के चरित्र-चित्रण की विवेचना करने से यह ज्ञात हो जाता है कि वे इस कला-प्रदर्शन में पूर्णतया सफल हुए हैं।

प्राकृतिक वर्णन की कमी

कवियों के विषय-क्षेत्रों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ कविगण ने केवल वाह्य-प्रकृति के वर्णनों में अधिक प्रयास किया है और कुछ ने नर-प्रकृति तक ही अपनी कविता आबद्ध रखी है। कुछ ऐसे भी कवि हो गए हैं, जिनकी रुचि दोनों ही ओर समानरूप से थी। एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कवि द्वारा वाह्य-प्रकृति का वैसा ही वर्णन होता है, जैसा उसके हृदय पर उस दृश्य के देखने से असर पड़ता है। एक ही दृश्य दो या अधिक हृदयों पर कई प्रकार का प्रभाव डालता है और वे उसी का कई प्रकार से वर्णन भी कर डालते हैं। इन वर्णनों से श्रोताओं के हृदयों में भी विभिन्न प्रकार के भाव उद्वेलित हो उठते हैं। तात्पर्य इतना ही है कि प्राकृतिक दृश्यों का काव्य-जगत् में जो विधान होता है वह वही है जो उन्हें देखकर कवियों के हृदय में खचित हो जाता है और जिससे भिन्न उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। नर-प्रकृति के अंतर्गत मानवी वृत्तियों के और मनुष्य ही के बनाए हुए प्राकृतिक दृश्यों के शोभादि के वर्णन आते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि प्रधानतः कविता के ये दो ही विषय-क्षेत्र हैं और इनमें विचरण करने वाले कविगण दो कोटि में विभक्त किए जा सकते हैं। ऐसे कवियों का भी एक वर्ग होगा, जिन्होंने दोनों ही क्षेत्रों को समान रूप से अपनाया है।

संस्कृत साहित्यकारों में, आज से एक सहस्र वर्ष पहले तक प्रकृति के प्रति जो भावुकता, प्रेम और तन्मयता थी वह बाद के कवियों में नहीं रह गई। आदिकवि बाल्मीकि ऋषि से आरम्भ हुई यह परंपरा कालिदास तथा भवभूति तक तो पहुँची, पर उनके बाद नर-प्रकृति ही का प्राधान्य बढ़ता चला गया। प्राकृतिक दृश्यों का स्वतंत्र वर्णन गौण हो गया। इसका एक मुख्य कारण इतिहास यही बतला रहा है कि हम लोगों का वन्य-जीवन का क्या, ग्रामीण जीवन तक का ह्रास होता गया और क्रमशः नागरिक जीवन ही प्रधान होता गया। कविगण बड़े-बड़े समृद्धिशाली नगरों में बसने लगे और प्राकृतिक दृश्यों के देखने का उन्हें कम सौभाग्य मिलने लगा। ऐसी दशा में स्वभावतः एक विषय-क्षेत्र संकुचित हो गया और दूसरा विस्तृत हो उठा। निर्मल नदी की धारा के दोनों ओर फैले हुए जंगलों की शोभा के स्थान पर नगर के कृत्रिम जलाशय, उद्यानादि ही की शोभा सब कुछ रह गई।

हिन्दी काव्यजगत् का निर्माण ठीक ऐसी ही परिस्थिति में हुआ था और इसी से उसमें बाल्मीकि आदि से कवि कम हुए। भारत का स्वातंत्र्य-सूर्य अस्त हो

रहा था और कुछ वीरगण आशा की अंतिम ज्योति बनाए रखने का निष्फल प्रयत्न कर रहे थे। उन्हीं वीरों की गाथाएँ बड़ी ओजस्विनी भाषा में कह कर मरे दिल को जिलाना ही उस समय कवियों का कार्य रह गया था। इसके अनंतर आशा-दिवस नैराश्य-यामिनी में बदल गया और परमाशा-रूपी ईश्वर की ओर सब की दृष्टि फिरी। भक्तिकाल के कविगण राम और कृष्ण की कथा लेकर अपनी-अपनी वाणी पवित्र करने लगे। इन लोगों में वाह्यप्रकृति, ग्रामीण तथा नागरिक जीवन सभी के दृश्यों के वर्णन हैं पर इसी के बाद रीतिकाल आरम्भ हो जाता है, जिसके शृङ्गारी कवियों की कविता 'विषय-सुखसिध्यैर्विषयिणाम्' ही को होने लगी। ऋतु, नदी, पर्वत आदि का वर्णन केवल उद्दीपन विभावार्थं होने लगा। उनकी दृष्टि प्राकृतिक शोभा तक जाकर झट नायिका-नायक के वियोग की ओर लौट पड़ती थी। या यों कहा जाय कि वियोग-संयोग शृङ्गार का वर्णन करने में प्राकृतिक व्यापारों से सहायता पाने के विचार से उन पर भी वे एक दृष्टि डाल लेते थे।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म नगर ही के एक भव्य भवन में हुआ था। उनका बाल्यकाल, यौवन तथा प्रौढ़ावस्था भी शहर ही में व्यतीत हुई थी। प्रकृति के यह कभी उपासक नहीं हुए। वन्य शोभा तो दूर इन्हें उद्यानादि का भी विशेष शौक न था। इनके पर्यटन के वृत्तांतों को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि इनमें पहाड़, जंगल, नदी आदि की शोभा निरीक्षण करने की रुचि बहुत कम थी। यही कारण है कि इनकी कृतियों में शुद्ध प्राकृतिक वर्णनों की बहुत कमी है। सत्य हरिश्चन्द्र में जिस गंगा का वर्णन किया गया है, वह गंगा काशी के विशालकाय घाटों के नीचे बहती हुई गङ्गा है, जिसमें उसके सहस्त्रों भक्तगण पाप-प्रक्षालनार्थ अवगाहन कर रहे हैं। वनस्थली के बीच में स्वच्छंद बहती हुई गङ्गा की जलधारा का वह वर्णन नहीं है। भारतेन्दु जी के गङ्गा जी के वर्णन में मनुष्य की कृति ही का उल्लेख अधिक हुआ है, देखिए—

नव उज्जल जलधार, हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद, मध्य मुक्ता मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन मन विविध, मनोरथ करत मिटावत॥
कासी कहँ प्रिय जानि, ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपनेहू नहिं तजी, रही अंकम लपटाई॥

कहूँ बधे नव घाट उच्च, गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत॥
मधुरी नौबत बजत, कहूँ नारी नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥
कहुँ सुन्दरी नहात, बारि कर जुगल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्त, गुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
दीठि जहीं जहँ जात, रहत तिनही ठहराई।
गंगा छबि 'हरिचन्द', कछू बरनी नहिं जाई॥

चन्द्रावली नाटिका में भी ललिता सखी द्वारा यमुना जी का वर्णन नौ छप्पयों में कराया गया है, पर उनमें उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कारों ही का आधिक्य है। वास्तव में भारतेन्दु जी यमुना जी की प्राकृतिक शोभा ही का वर्णन नहीं कर रहे थे, प्रत्युत् विरहिणी नायिका की एक सखी पर इस शोभा का क्या असर पड़ रहा था, वही दिखला रहे थे।

कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहीं पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज सोभा।
कै उमगे प्रिय-प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय कों टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥
परत चन्द्र प्रतिबिंब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि-दरसन हेत चन्द्र जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिए सोभित छबि छायो॥
कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि-मूरति बसति ता प्रतिबिंब लखात है॥

'प्रात समीरन' में सुबह की मंद-मंद बहती हुई वायु का वर्णन किया गया है। पर इनमें भी शहर ही में या उनके आस-पास ही की बहने वाली हवा का वर्णन हैं, देखिए—

दिसा प्राची लाल करै कुमुदी लजाय, होरी को खिलार सो पवन सुख पाय।
भौंर शिष्य मंत्र पढ़ैं धर्म्म कर्म्मवंत, प्रात को समीर आवै साधु को महंत॥

सौरभ को दान देत मुदित करत, दाता बन्यो प्रात पौन देखो री चलत।
पातन कँपावै लेत पराग खिराज, आवत गुमान भरयौ समीरन राज॥
गावैं भौंर गूँजि पात खरक मृदंग, गुनी को अखारो लिए प्रात पौन संग।
काम में चैतन्य करै देत है जगाय, मित्र उपदेस बन्यो भोर पौन आय॥
पराग को मौर दिए पच्छी बोल बाज, ब्याहन आवत प्रात पौन चल्यो आज।
आप देत थपकी गुलाब चुटकार, बालक खिलावै देखो प्रात की बयार॥

गीति-काव्य

गीतगोविंदकार जयदेव की सुधामयी गीतिकाव्य की जो परंपरा हिंदी साहित्य को मिली थी, वह पहले मैथिल कवि विद्यापति के कोकिल कंठ से आविर्भूत हुई और ब्रज के भक्त सुकवियों की वीणाओं से निनादित होकर ऐसी फैली कि आज भी उसकी मधुर झनकार से भक्तों की हृत्तंत्री बज उठती है। इस गीति-काव्य का रस शृङ्गार ही रहा और इसमें सगुण उपासना की सरलता तथा तन्मयता ऐसी भरी है कि इसे सुनकर निर्गुण उपासना की ओर ऐसे ही कोई भूले-भटके झुकते हैं। रसराज के देवता श्रीकृष्ण ही की बाल्य-लीला तथा प्रेममयी यौवनलीला के मनोहर चित्र इनमें अंकित होते आए हैं और होंगे। क्यों न हों? ये दोनों काल होते ही कितने मनोहर हैं। अष्टछाप के कवि भक्तों ने भगवान की प्रेमलीला का कीर्तन कर जो सागर तैयार किए हैं उनमें अवगाहन कर प्रत्येक प्राणी पवित्र हो सकता है। यह पदावली इतनी प्रचुर है और वियोग तथा संयोग शृङ्गार और वात्सल्य दोनों ही क्षेत्रों में इन लोगों की इतनी पहुँच थी कि बाद के कवियों के कहने के लिए इन लोगों ने कुछ न रख छोड़ा। यही कारण है कि इस परम्परा का सौर काल के बाद बहुत ह्रास रहा और कभी-कभी एकाध भक्त कवि कुछ कहते सुनाई पड़ जाते थे। ऐसे कवियों का बाहुल्य न होने पर भी इस दिव्य प्रेम-संगीत की स्वर-लहरी सदा सरस हृदयों को तरंगित करती रहती थी। बीच में निर्गुनिए कवि भी बहुत हुए और बहुत-सा साधारण ज्ञान भी वे छाँट गए पर उनसे कुछ विशेष लाभ न हुआ और कुछ दिन बाद उनका ज्ञान उन्हीं के मानने वाले कुछ पंथियों में रह गया।

कहा जा सकता है कि इस गीतिकाव्य की परम्परा के प्रायः अंतिम कवि भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र ही हुए हैं। इन्होंने लगभग डेढ़ सहस्र के पद बनाए हैं, जिनमें अधिकतर श्रीकृष्ण ही के लीला संबंधी हैं। इनमें विनय के पद, श्रीकृष्ण जी की लीला तथा गोपियों के प्रेम-सम्बन्धी तीन प्रकार के भजन हैं। कुछ साधारण

मानव-सम्बन्धी भी पद हैं। इन पदों के मुख्य रस शृङ्गार तथा वात्सल्य ही हैं पर वीर, शांत, करुण आदि रस भी कुछ पदों में आ गए हैं। शृङ्गार से उसके संयोग यथा वियोग दोनों ही पक्ष लिए गए हैं।

श्री राधाकृष्ण की युगल मूर्ति का ध्यान कैसा अनुपम है, स्वामी तथा स्वामिनी दोनों ही की शोभा का कैसा सुन्दर मिश्रण इस पद में है—

रे मन करु नित-नित यह ध्यान।

सुन्दर रूप गौर श्यामल छबि जो नहिं होत बखान।।
मुकुट सीस चंद्रिका बनी कनफूल सुकुण्डल कान।
कटि काछिनि सारी पग नूपुर बिछिया अनवट पान।।
कर कंकन चूरीं दोउ भुज पै बाजू सोभा देत।
केसर खौर बिंदु सेंदुर को देखत मन हरि लेत।।
मुख पैं अलक पीठ पैं बेनीं नागिनि सीं लहरात।
चटकीलो पट निपट मनोहर नील पीत फहरात।।
मधुर मधुर अधरन बंसी धुनि तैसीं हीं मुसकानि।
दोउ नैनन रस भीनी चितवनि परम दया की खानि।।
ऐसो अद्भुत भेष विलोकत चकित होत सब आय।
'हरीचंद' बिन जुगल कृपा यह लख्यो कौन पै जाय।।

बाललीला का केवल एक पद लीजिए। छोटे से बालक श्रीकृष्ण आंगन में खेल रहे हैं। उनके अंग-प्रत्यंग की शोभा का वर्णन किया गया है, जिनमें उत्प्रेक्ष अलङ्कार आप से आप प्रस्फुटित होते गए है :—

आजु लख्यो आँगन में खेलत यशुदा जी को बारो री।
पीत झँगुलिया तनक चौतनी मन हरि लेत दुलारो री।। १।।
अति सुकुमार चन्द्र से मुख पै तनक डिठौनो दीनो री।
मानहुँ श्याम कमल पै इक अलि बैठो है रंग भीनो री।। २।।
उर बघनहा बिराजत सखि री उपमा नहिं कहि आवै री।
मनु फूलीं अगस्त की कलिका शोभा अतिहिं बढ़ावै री।। ३।।
छोटी छोटी शीश लुटुरिया भ्रमरावली जनु आई री।
तैसीं तनक कुलहइया तापै देखत अति सुखदायी री।। ४।।
क्षुद्र घंटिका कटि में सोहत शोभा परम रसाला री।
मनहुँ भवन सुन्दरता को लखि बाँधी बन्दन माला री।। ५।।

पीत झँगा अति तन पै राजत उपमा यह बनि आई री।
मनु घन में दामिनि लपटानी छबि कछु बरनि न जाई री ॥६॥
कोटि काम अभिराम रूप लखि अपनो तनमन वारै री।
'हरीचन्द' ब्रजचन्द्र-चरण-रज लेत बलैया हारै री ॥७॥

शिशु कृष्ण अब कुछ बढ़ने लगे और अपने ही समवयस्क बालकों के साथ चकई भौंरा खेलने लगे। इस अनुपम बाललीला को कवि इस प्रकार कहता है:—

छोटो सो मोहनलाल छोटे छोटे ग्वाल बाल
छोटी छोटी चौतनी सिरन पै सोहैं।
छोटे छोटे भंवरा चकई छोटी-छोटी लिए
छोटे छोटे हाथन सों खेलैं मन मोहैं॥
छोटे छोटे चरण सों चलत घुटुरुवन
चढ़ीं ब्रजसाल छोटी छोटी छवि जोहैं।
'हरीचंद' छोटे छोटे कर पै माखन लिए
उपमा बरनि सकैं ऐसे कवि को हैं॥

श्रीराधिका जी के अवतरित होने का कारण भक्तकवि प्रेम पथ का प्रागट्य बतलाते हैं। यदि यह अवतीर्ण न होती तो पुष्टि-मार्ग कौन स्थापित करता और श्रीकृष्ण के साथ रासमंडल के बीच कौन सुशोभित होता? सब से बढ़ कर 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राजधानी के' कवि महोदय किसकी शरण जाते? सुनिए—

जो पै श्री राधा रूप न धरतीं।
प्रेमपंथ जग प्रगट न होते ब्रज-बनिता कहा करतीं॥
पुष्टि मार्ग थापित को करतो ब्रज रहतो सब सूनो।
हरि लीला करके संग करते मंडल होतो ऊनो॥
रास मध्य को रमतो हरि संग रसिक सुकवि कह गाते।
'हरिचन्द' भव के भय सो भजि किहि के शरणहिं जाते॥

श्रीराधिकाजी की बाललीला-वर्णन का एक उदाहरण लीजिए—

मनिमय आँगन प्यारी खेलैं।
किलकि-किलकि हुलसत मनहीं मन गहि अंगुरी मुख मेलै॥
बड़भागिनि कीरति सी मैया गोहन लागी डोलै।
कबहुँक लै झुनझुना बजावति मीठी बतियन बोलै॥

अष्ट सिद्धि नव निधि जेहि दासी सो ब्रज शिशु-बपुधारी।
जोरी अविचल सदा बिराजो 'हरीचन्द' बलिहारी॥

दोनों में प्रेम हो गया है। एक दिवस युगल प्रेमी एक स्थान पर विराजमान थे कि श्री स्वामिनी जी ने कहा कि वह गाना एक बार फिर गाकर सुना दीजिए। 'मोहन चतुर सुजान' चूकने वाले न थे, उन्होंने ऐसा सनृत्य गान किया कि चन्द्र की गति भी रुक गई। सुनिए—

फिर लीजै वह तान अहो प्रिय फिर लीजै वह तान।
निनि धध पप मम गग रिरि सासा मोहन चतुर सुजान॥
उदित चन्द्र निर्मल नभमंडल थकि गए देव-विमान।
कुनित किंकिनी नूपुर बाजत झनझन शब्द महान॥
मोहे शिव ब्रह्मादिक वहि निशि नाचत लखि भगवान।
'हरीचन्द' राधामुख निरखत छूट्यौ सुरतिय-मान॥

भक्तों ने श्रीराधिका जी का श्रीकृष्ण जी से विवाह हुआ मान रखा है। श्रीकृष्ण विवाह के लिए दूलह बन कर आए हैं और उनकी शोभा देखकर सखियाँ आपस में कहती हैं—

सखि चलो साँवला देखन जावैं।
मधुरी मूरत लखि अँखियाँ आज सिरावैं॥
नीली घोड़ी चढ़ि बना मेरा बन आया।
भोले मुख मरवट सुन्दर लगत सुहाया॥
तैसी दुलहिन सँग श्री वृषभानु-कुमारी।
मौरी सिर सोहत अंग केसरी सारी॥
मुख वरवट कर मैं चूरी सरस सँवारी।
नकबेसर सोभित चितहिं चुरावन वारी॥
सिर सेंदुर मुख मैं पान अधिक छवि पावैं। मधुरी...॥

सखियन मिलि रस सौं नेह गाँठ लै जोरी।
रहिं वारि फेरि तन मन धन सब तृन तोरी॥
गावत नाचत आनँद सों मिलि कै गोरी।
मिलि हँसत हँसावत सकत न कङ्कन छोरी॥
'हरिचंद' जुगल छवि देखि बधाई गावैं।
मधुरी मूरत लखि अँखियाँ आज सिरावैं॥

सखी राधा बर कैसा सजीला।
देखो री गोइयाँ नजर नहिं लागै कैसा खिले सिर चीर छबीला॥
बार फेर जल पीयो मेरी सजनी मति देखौ भर नैन रँगीला।
'हरीचन्द' मिलि लेहु बलैया अँगुरिन करि चटकारि चुटीला॥

भारतेन्दु जी ने विशेषतः प्रेमलीला ही का वर्णन किया है। दान, मान, बिरह, मिलन आदि के एक से एक अच्छे पद कहे हैं। अन्त में व्रजलीला समाप्त करके श्रीकृष्ण भगवान मथुरा चले गए और गोपियाँ विरह-कातरा हो गईं, वे कहती हैं—

कहाँ गए मेरे बाल सनेही।
अबलौं फटी नाहिं यह छाती रही मिलन अब केही॥
फेर अबै वह सुख धौं मिलिहै जिअत सोचि जिय एही।
'हरीचन्द' जो खबर सुनावै देहुँ प्रान धन तेही॥

श्रीकृष्ण उपस्थित नहीं हैं पर उन्हें ध्यानावस्था में सम्बोधित करते हुए एक सखी कहती है कि—

पियारे तजी कौन से दोष ?
इतनो हमहूँ तो सुनि पावैं फेरि करैं संतोष॥
जो कोउ तुमरो होइ सोइ या जग मैं बहु दुख पावै।
यह अपराध होइ तौ भाखौ जासों धीरज आवै॥
कियो और तो दोष कछू नहिं अपनी जान पियारे।
तुमरे ही ह्वै रहे जगत में एक प्रेम पन धारे॥
यासों चतुर होइ जग मैं कोउ तुम सों प्रेम न लावै।
'हरीचंद' हम तो अब तुमरे करौ जोई मन भावै॥

एक सखी नित्य की तरह नंदकिशोर को देखने के लिये सुबह होते ही नंद बाबा की पौरी पर पहुँची पर वहाँ के सन्नाटे को देखकर उसे श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन की याद पड़ी और वह बेहोश हो गई। सखियाँ यह देखकर दौड़ पड़ीं और उसे घर उठा लाईं। यहाँ मधुकर (उद्धव) के आने का संदेश सुनकर उसे होश आया—

नंद-भवन हौं आजु गई हीं भूले ही उठि भोर।
जागत समय जानि मंगल मुख निरखन नन्दकिशोर॥

नहिं बंदीजन गोप गोपिका नाहिन गौवें द्वार।
नहिं कोउ मथत दही नहिं रोहिनि ठाढ़ी लै उपचार॥
तब मोहिं सुरत परी घर नाहीं सुन्दर श्याम तमाल।
मुरछित धरनि गिरी द्वारहिं पै लखि धाईं ब्रजबाल॥
लाईं गेह उठाइ कोउ बिधि जीव न गए अँदेस।
'हरीचन्द' मधुकर तुव आए जागी सुनत सँदेस॥

हिन्दी साहित्य में गोपी-उद्धव संवाद को लेकर बहुतेरी अनूठी-अनूठी उक्तियाँ कही गई हैं। यह घटना उस समय की है जब श्रीकृष्ण भगवान वृन्दावन से लोक-पीड़क बाल-हत्याकारी नृशंस कंस को मारने के लिये मथुरा चले आए थे और वहीं रह गए थे। इन्होंने कुछ दिन अनंतर गोपियों को ज्ञान सिखलाने के लिए उद्धव जी को भेजा था। इस अमर घटना को लेकर कितने भ्रमरगीत निर्मित हुए हैं। इसी को लेकर भक्ति तथा ज्ञान मार्ग अर्थात् सगुण तथा निर्गुण उपासना पर भी कवियों तथा भक्तों ने खूब उक्तियाँ कही हैं। सभी में अंततः उपासना ही अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई है। गोपियों की विजय जनसाधारण की साकार उपासना के प्रति विशेष श्रद्धा प्रकट करती है। उद्धव जी ज्ञानमार्ग के प्रकांड पंडित थे और उनकी हार ज्ञानमार्ग की गूढ़ता स्पष्ट करते हुए बतला रही है कि यह दुरूह मार्ग विरले ही लोगों के लिये है। 'एक सरस है और दूसरा नीरस। पहलो होमियोपैथी की मीठी गोली है तो दूसरी है कषाय, पर हैं दोनों ही लाभकारी। श्रीकृष्ण जी ने उद्धव ही को क्यों भेजा था, केवल इसीलिए कि उनका ज्ञानगर्व गोपियों के प्रेम की तल्लीनता तथा एकनिष्ठा और सरसता में मिट जाय। देखिए गोपियाँ कहती हैं—

पिय सों प्रीति लगी नहिं छूटै।
ऊधौ चाहौ सो समझाओ अब तो नेह न टूटै॥
सुन्दर रूप छाँड़ि गीता को ज्ञान लेइ को कूटै।
'हरीचन्द' ऐसो को मूरख सुधा त्यागि विष घूँटै॥

साफ जवाब दे दिया गया है कि गीता का ज्ञान लेकर क्या किया जायगा? गीता गानेवाले की सौंदर्य-सुधा को छोड़कर कौन ऐसा मूर्ख है जो ज्ञानरूपी विष को लेगा। गोपियाँ कहती हैं—

हरि सँग भोग कियो जा तन सों तासों कैसे जोग करैं।
जो शरीर हरि सँग लपटानी वापैं कैसे भसम धरैं॥

जिन श्रवनन हरि वचन सुन्यौ है ते मुद्रा कैसे पहिरैं ।
जिन बेनिन हरि निज कर गूँथी जटा होइ ते क्यों बिखरैं ।।
जिन अधरन हरि अमृत पियो अब ते ज्ञानहिं कैसे उचरैं ।
जिन नैनन हरि रूप बिलोक्यौ तिन्हें मूँदि क्यों पलक परैं ॥
जा हिय सों हरि हियो मिल्यौ है तहाँ ध्यान केहि भाँति धरैं ।
'हरीचन्द' जा सेज रमे हरि तहाँ बघम्बर क्यों बितरैं ।।

बतलाइए जिन जिन अँगों ने ऐसे ऐसे सुख लूटे हैं उनसे अब दुख सहन हो सकता है । कितना स्वाभाविक कथन है । ज्ञान की केवल दुहाई देने से क्या उनका स्मृतिपट सूना हो सकता है ? कभी नहीं । उस पर भी यदि दो चार मन, हृदय होते तो वह भी संभव था । तपस्वियों की तरह एक से योग और एक से भोग करते, पर वह भी तो नहीं है—

ऊधौ जौ अनेक मन होते ।
तौ इक श्यामसुंदर को देते इक लै जोग सँजोते ।।
एक सों सब गृह कारज करते एक सों धरते ध्यान ।
एक सों श्याम रंग रँगते तजि लोकलाज कुल-कान ।।
को जप करै, जोग को साधै, को पुनि मूँदे नैन ।
हिये एकरस श्याम मनोहर मोहन कोटिक मैन ।।
ह्याँतो हुतो एक ही मन सों हरि लै गए चुराइ ।
'हरीचन्द' कोउ और खोजि कै जोग सिखावहु जाइ ।।

कई मन को कौन कहे, केवल एक था वह भी चोर ले गया और उस चितचोर ने अब तुम्हें सिखलाने को भेजा है । वाह, सीखने वाला मनरूपी शिष्य यहाँ है नहीं, और आप शिक्षक हो कर आए हैं । चलिए, शिष्य को पहले खोजकर तब लेक्चरबाजी कीजिए ।

वियोग-पक्ष की दश दशाएँ बतलाई जाती हैं । उन सभी का भारतेन्दु जी की पदावली में समावेश हुआ है । प्रिय की अभिलाषा, चिंता तथा स्मरण करते-करते उनका चित्त बहकने लगता है, वे प्रलाप करने लगती हैं--

नखरा राह राह को नीको ।
इत तो प्रान जात है तुव बिनु तुम न लखत दुख जी को ।।
खुटाई पोरहि पोर भरी ।
हमहिं छाँड़ि मधुबन में बैठे बरी कूर कूबरी ।।

एक सखी प्रिय से मिलने के लिये कुञ्ज में गई पर जब उसे उनके वियोग का एकाएक स्मरण आया तब वह मूर्छित हो पड़ी। होश आने पर वह उन्मादावस्था में कह रही है कि क्या सारे संसार की अमरता ब्रह्मा ने हमारे ही कपाल में लिख रक्खा है--

इतने हूँ पै प्रान गए नहिं फिरहू सुधि आई अधराती।
हौं पापिन जीवति ही जागी फटी न अजौं कुलिस की छाती ।।
फिर वह घर व्यवहार वहै सब करन परैं नितहीं उठि माई।
'हरीचन्द' मेरे हीं सिर विधि दीनी काह जगत-अमराई ।।

एक सखी कैसी मीठी चुटकी लेती है। साधारणतः पुरानी चीजें निकाल कर लोग नई लेते हैं। उसी नियम के अनुसार क्या श्रीकृष्ण भी पुरानी मित्रता त्याग अब नई मित्रता के फंदे में पड़ गए--

पुरानी परीं लाल पहिचान।
अब हमको काहे को चीन्हौ प्यारे भए सयान ।।
नई प्रीति नए चाहनवारे तुमहूँ नए सुजान।
'हरीचन्द' पै जाइ कहाँ हम लालन करहु बखान ।।

स्मृति सुख और दुःख दोनों की कारण होती है। प्रिय के वियोग में उसको स्मृति दुखद ही होती है, इसीलिए वह दुखित हो कहती हैं--

पियारे क्यों तुम आवत याद।
छूटत सकल काल जग के सब मिटत भोग के स्वाद ।।
जब लौं तुम्हरी याद रहै नहिं तब लौं हम सब लायक।

मरण के पहले अन्तिम दशा जड़ता आती है, उसमें अंगों तथा मन कौ चेष्टाहीन हो जाना चाहिए पर श्री राधिका जी की जड़ता वह तन्मयता है कि उन्हें वियोग का भान ही नहीं रह जाता, वह अपने ही को श्रीकृष्ण समझती हैं, वियोग हो तो किसका ?

लाल के रंग रँगी तू प्यारी।
याहीं तें तन धारत मिस कै सदा कसूँ भी सारी ॥
लाल अधर कर पद सब तेरे लाल तिलक सिर धारी।
नैनन हूँ में डोरन के मिस झलकत लाल बिहारी ।।

तनमै भई, नहीं सुध तन की नख शिख तू गिरधारी।
'हरीचन्द' जग विदित भई यह प्रेम-प्रतीति तिहारी॥

इसके सिवा भारतेन्दु जी ने साधारण गाने के लिये होली, ठुमरी, सोरठा आदि बहुत बनाए हैं, जिनके एक-एक दो-दो उदाहरण देने से कुल खूबियाँ प्रगट भी न होंगी और पुस्तक का आकार भी बढ़ जायगा, इसलिए अब केवल विनय के कुछ पदों का उदाहरण दे दिया जाता है।

जगत जाल में नित बँध्यो, परचो नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित, झूठो कवि हरिचन्द॥

ने विनय के अनूठे-अनूठे पद कहे हैं। वे कहते हैं कि—

कहौ किमि छूटै नाथ सुभाव।
काम क्रोध अभिमान मोह सँग तन को बन्यो बनाव॥
ताहू मैं तुव माया सिर पै औरहु करन कुदाव।
'हरीचन्द' बिनु नाथ कृपा के नाहिन और उपाव॥

सत्य ही, इतने जंजाल में रहते और इतने सांसारिक मोहजाल के फंदों में फँसते हुए मनुष्य की शक्ति क्षीण हो ही जाती है। उसे केवल एक परमाशा रूपी ईश्वर ही की आशा रह जाती है। यही 'उस दरबार की' विशेषता है कि लोभ मद, मोहादि में लिप्त पतितों ही की वहाँ पूछ होती है। सुनिए—

बलिहारी है या दरबार की।
बिधि निषेध मरजाद शास्त्र की गति नहिं जहाँ प्रकार की॥
नेमी धरमी ज्ञानी जोगी दूर किए जिमि नारकी।
पूछ होत जहँ 'हरीचन्द' से पतितन के सरदार की॥

भक्त का अपने इष्टदेव पर कितना विश्वास होता है, यह नीचे लिखे पद में देखिए—

प्रभु की कृपा कहाँ लौं गैये।
करुना में करुनानिधि ही के इतीं बड़ाई पैये॥
डार-डार जौ अघ मेरे तौ पात-पात वह बोलै।
नदी-नदी जौ पाप चलत तौ बिन्दु-बिन्दु वह डोलै॥
थल-थल में छिरि रहत जु यह वह रेनु-रेनु ह्वै धावै।
दीप-दीप जौ यह समान वह किरिन-किरिन बनि आवै॥

का की उपमा वाहि दीजिए व्यापक गुन जेहि माहीं ।
हिय अन्तर अँधियार दुराने अवहूँ नहिं बचि जाहीं ।।
सिन्धु लहर हू सिन्धुमयी है मूढ़ करै जो लेखे ।
नाहीं तो 'हरिचन्द' सरीखे तरत पतित कहुँ देखे ।।

कृपापात्र के पाप यदि डार-डार हैं तो उसकी कृपा पात-पात तक पहुँची हुई है। भाव यही है कि पतित और उसके पाप उस परमेश्वर के सर्वव्यापी दया में 'सिंधु में बूँद' के समान हैं तथा उसे उस दया पर पूर्ण भरोसा रखना चाहिए। इस प्रकार पूर्णविश्वास हो जाने पर वह ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हे करुणा-वरुणालय ! आप पुतली या सुरमा होकर आँखो में, प्राण और कामना होकर हृदय में, शक्ति होकर सारे शरीर में, तथा शब्द होकर कान में निवास करिए, जिसमें हम आपमय हो जायँ और आप में हम में द्वैत भाव न रह जाय। अहमत्व ही माया है, खुदी मिटते ही खुदा में जीव मिल जाता है। इसलिए—

नैनन में निवसौ पुतरी ह्वै, हिय मैं बसौ ह्वै प्रान ।
अंग-अंग संचरहु सक्ति ह्वै, एहो मीत सुजान ।।
मन में वृत्ति वासना ह्वै कै, प्यारे करौ निवास ।
ससि-सूरज ह्वै रैन-दिना तुम, हिय-नभ करहु प्रकास ।।
बसन होइ लिपटो प्रति अंगन, भूषन ह्वै तन बाँधौ ।
सोंधो ह्वै मिलि जाउ रोम प्रति, अहो प्रानपति माधो ।।
ह्वै सुहाग-सेन्दुर सिर बिलसो, अधर राग ह्वै सोहौ ।
फूल-माल ह्वै कंठ लगौ मम, निज सुवास मन मोहौ ।।
नभ ह्वै पूरौ मन आँगन औ, पवन होइ तन लागौ ।
ह्वै सुगन्ध मो घरहि बसावहु, रस ह्वै के मन पागौ ।।
श्रवनन पूरौ होइ मधुर सुर, अंजन ह्वै दोउ नैन ।
होइ कामना जागहु हिय में, करहु नींद बनि सैन ।।
रहौ ज्ञान में तुमहीं प्यारे, तुम-मय तन मम होय ।
'हरीचन्द' यह भाव रहै नहिं प्यारे हम तुम दोय ।।

अंत में कवि कहता है—

ब्रज के लता पता मोहिं कीजै ।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै ।।

आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै ।
श्रीराधे-राधे मुख यह बर 'हरीचन्द' को दीजै ॥

ज्ञानपंथियों या साहिबपंथियों के ज्ञान छाँटने की शैली पर भी कुछ पद कहे हैं पर सबके अन्त में वही 'हरीचंद हरि सच्चा साहब उसको बिलकुल भूला है' बतलाते हुए कृष्ण-भक्ति की पूर्णता दिखलाई है ।

हरि-माया भठियारी ने क्या अजब सराय बसाई है ।
जिसमें आकर बसते ही सब जग की मत बौराई है ॥
होके मुसाफिर सबने जिसमें घर सी नेंव जमाई है ।
भाँग पड़ी कूँए में जिसने पिया बना सौदाई है ॥
सौदा बना भूर का लड्डू देखत मति ललचाई है ।
खाया जिसने वह पछताया यह भी अजब मिठाई है ॥
एक-एक कर छोड़ रहे हैं नित-नित खेप लदाई है ।
जो बचते सो यही सोचते उनकी सदा रहाई है ॥
अजब भँवर है जिसमें पड़ कर सब दुनिया चकराई है ।
'हरीचन्द' भगवन्त-भजन बिनु इससे नहीं रिहाई है ॥

डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई ।
देखो लाद चले सब पंथी तुम क्यों रहे भुलाई ॥
जब चलना ही निहचै है तो ले किन माल लदाई ।
'हरीचन्द' हरिपद बिनु नाहीं रहि जैहौ मुंह बाई ॥

खड़ी बोली तथा उर्दू कविता

इन दोनों भाषाओं की कविता की एक साथ आलोचना करने का यही कारण है कि इन दोनों का संबंध बहुत ही घनिष्ठ है । एक पक्ष वाले खड़ी बोली को उर्दू का उद्गम कहते हैं तो दूसरा पक्ष उर्दू से खड़ी बोली का निकलना बतला रहा है । इस पर तर्क-वितर्क करने का न यह उपयुक्त स्थान है और न अवकाश ही है । इतना अवश्य कहना उचित है कि मुसलमान नवागंतुकों की भाषा तथा इस खड़ी बोली के मिश्रण से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई, अर्थात् फारसी + खड़ी बोली हिन्दी = उर्दू । अब इनमें से किसी भी पहली दो भाषाओं को उर्दू को जनक कहना नितांत अशुद्ध है । यदि ऐसा कहा जाय कि उर्दू से फारसी शब्दावली निकाल कर उसके स्थान पर तत्सम शब्दों को रखकर खड़ी बोली बना ली गई,

तो यह भी क्यों नहीं कहा जा सकता कि उर्दू से हिन्दी क्रिया पद आदि निकालकर फारसी बना ली गई है। दोनों ही समानरूपेण निरर्थक कथन हैं। साथ ही यह भी कहना उचित जान पड़ता है कि जब से हिन्दू-मुसलमान संघर्ष आरम्भ हुआ है तभी से दोनों धर्म के सहृदय पुरुषों ने एक दूसरे की भाषा को अपनाया है। जिस प्रकार हिन्दी के कवियों ने फारसी शब्दों को अपनी कविता में स्थान देना शुरू कर दिया उसी प्रकार मुसलमान कविगण हिन्दी को अपनी कविता में स्थान देते रहे। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास में रहीम, रसखान, जायसी आदि मुसलमान कवियों का उल्लेख बड़े आदर से होता है, उसी प्रकार उर्दू साहित्य-क्षेत्र में हिन्दू शायरों ने भी कुछ कम 'खुशइल्हानी' नहीं की है, चाहे उन्हें उसके साहित्य के इतिहास मे आदर मिले या न मिले।[1]

हिन्दी साहित्य की कवि-परंपरा की भाषाओं में ब्रजभाषा तथा अवधी प्रधान हैं। भारतेन्दु जी ने ब्रजभाषा ही में कविता की है पर वह जिस खड़ी बोली हिंदी को राष्ट्रभाषा या सार्वदेशिक भाषा बनाने का प्रयास जन्म भर करते रहे, उसमें भी कुछ कविता की है। उसके विषय में इनकी क्या राय थी, यह उनके एक पत्र से ज्ञात होता है जो १ सितम्बर सन् १८८१ ई० के 'भारतमित्र' में प्रकाशित हुआ था। उसमें लिखा है कि—"प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है। देखियेगा इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्लन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। इस विषय में सर्वसाधारण की अनुमति ज्ञात होने पर आगे वैसा परिश्रम किया जायगा। तीन भिन्न-भिन्न छंदों में यह अनुभव करने ही के लिए कि किस छंद में इस भाषा का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की क्रियाओं में दीर्घमात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है। मैंने कहीं-कहीं सौंदर्य्य के हेतु दीर्घमात्राओं को भी लघु करके पढ़ने की चाल रक्खी है। लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और भी लिखने का यत्न करूँगा।"

अब खड़ी बोली की इनकी कुछ कविता उद्धृत की जाती है—

चूरन अमलबेद का भारी। जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पँचलोना। जिसको खाते श्याम सलोना॥

---

[1] इस विषय में विशेष जानने के लिए इस लेखक द्वारा लिखा उर्दू-साहित्य का इतिहास तथा खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास देखिए।

चूरन बना मसालेदार। जिसमें खट्टे की बहार।
मेरा चूरन जो कोई खाय। मुझको छोड़ कहीं नहिं जाय॥
हिन्दू चूरन इसका नाम। बिलायत पूरन इसका काम।
चूरन जब से हिन्द में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥

बीर बहूटी मखमली, बूटी सी अति लाल।
हरे गलीचे पै फिरे, सोभा बड़ी रसाल॥
करके याद कुटुम्ब की, फिरें विदेशी लोग।
बिछुड़े प्रीतम-वालियों, के सिर छाया सोग॥
छोड़ छोड़ मरजाद निज, बढ़े नदी नद नाल।
लगे नाचने मोर बन, बोले कीर मराल॥

उपवन में कचनार बनों में, टेसू हैं फूले।
मदमाते भौंरे फूलों पर, फिरते हैं भूले॥

कहाँ हो हे हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़ कर मुझको सिधारे॥
बुढ़ापे में मुझे यह देखना था।
इसी को भोगने को मैं बचा था॥
छिपाई है कहाँ सुन्दर वह मूरत।
दिखा दो साँवली सी मुझको सूरत॥
गई सँग में जनक की जो लली है।
उसी से मेरे दिल में बेकली है॥

पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन रचनाओं में कवि का हृदय नहीं है। यह उनके रुचि-वैचित्र्य के कारण की गई रचना है। इससे तो कहीं अच्छी खड़ी बोली की कविता इनकी लावनियाँ हैं, जिनके कुछ उद्धरण देकर इनकी उर्दू कविता पर विचार जिया जायगा।

दिलवर, इश्क में दिल को एक मिलावे।
अपने को खोए तब अपने को पावे॥
दिलवर गो एक करके अपने में साने।
इस दुनिया को इक अलग तमाशा जाने॥
मैं क्या हूँ इसको जी देकर पहिचाने।
अपने को अपना सिरजनहारा माने॥

तुम गर सच्चे हौ तो जहाँ को कहते हैं सब क्यों झूठा ।
तुम निर्गुन हौ तो फिर यह गुन जग में सब है किसका ॥
जो झूठा होता है उसकी बातें होतीं हैं झूठीं ।
ज्यों सपने की मिलीं सम्पत कुछ काम नहीं करतीं ॥
सच्चों के तो काम हैं जितने वह सच्चे होते हैं सभी ।
फिर बकते हैं भला क्यों सब के जहाँ झूठा हैं अजी ॥

भारतेन्दु जी उर्दू के सच्चे शायक थे। उर्दू की इनकी गद्य रचनाओं का उल्लेख हो चुका है। इन्होंने उर्दू भाषा में कविता भी काफी की है और इनकी हिन्दी कविता पर भी इस उर्दू की जानकारी का जो असर पड़ा है वह भी उल्लिखित हो चुका है। भारतेन्दु जी के दरबार में अमीर अली नामक कोई कवि आते थे, जो इनकी कविता 'इसलाह' करने को ले जाते थे, पर स्वयं न कर सकने पर मौलवी 'फायज' के पास उन्हें ले जाते थे, जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि तथा फारसी के अपूर्व विद्वान् थे। यह स्वयं कहते थे कि "बा०हरिश्चन्द्र के शैरों में ख्यालात जरूर बहुत ऊँचे होते थे लेकिन चूँकि उन्होंने उर्दू जुबान बाकायदा नहीं सीखी थी, इसलिए उनकी जुबान चुस्त नहीं थी।" यह भी कहते थे कि "उनके शैरों के इसलाह में वह अपने पिता की सहायता लेते थे और इस कारण भारतेन्दु जी के बहुत से गजल उनके पास हैं। उन्होंने उन्हें देने का वादा भी किया था पर इसी बीच उनका देहान्त हो गया।"

भारतेन्दु जी का 'ताजीरात शौहर' उर्दू ही में है, जिसकी समालोचना में 'हिन्दुस्तानी लखनऊ' समाचार पत्र में लिखा गया था कि "मुसन्निफ ने एक जराफत के पैराए में वहमी औरतों का पूरा नकशा खोंच दिया है। यह दिल बहलाने का निहायत उमदा नुसखा है। हम बाबू साहब से सिफारिश करते हैं कि वह एक 'कानून औरत' का भी बना दें। जुर्माना और कैद दोनों शौहर के वास्ते बाबू साहिब ने निहायत उमदा तजवीज किया है। बाबू साहब की तसनीफात और तालीफात हिन्दी जुबान में कसरत से हैं बल्कि अगर सच कहा जाय तो हिन्दी की तरक्की आप ही से ख्याल करना चाहिए। अगर बाबू साहब तकलीफ गवारा करके अपनी कुल तसनीफात उर्दू में तर्जुमा कर दें तो बिला शक एक बड़ा एहसान उर्दू पढ़े हुए पबलिक पर उनका होगा। उर्दू जुबान बिलकुल नाटकों से खाली है। लेकिन हमको उम्मीद है कि अगर ऐसे ही दो-चार लायक फायक शख्स अपने कोमती वक्त को इधर सर्फ करेंगे तो बहुत कुछ दावा इस जुबान को होगा।

जिस वक्त हम बाबू साहिब की 'नीलदेवी' या 'हरिश्चन्द्र' वगैरह नाटकों को देखते हैं तो एक किस्म का अफसोस होता है और हमारे अफसोस की वही वजह है।"

उर्दू में शैर या गजल फख्रिय: कहने की भी प्रथा है। इसका तात्पर्य यही है कि कविगण अपनी कविता की तारीफ आप करते हैं। संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों ने भी ऐसा किया है पर कुछ ही हद तक। उर्दू शायरों ने ऐसा बहुत किया है पर यह उन्हीं को शोभा देता है जो उस योग्य होते हैं। भारतेन्दु जी ने इस प्रकार के कुछ शैर कहे हैं—

मज़ामीने बलंद[1] अपनी पहुँच जाएँगी गर्दू तक[2]।
बतर्ज़े नौ[3] ज़मीं में शैर हम आबाद करते हैं॥
उड़ा लाए हो यह तर्ज़े सखुन किसका बताओ तो।
दमे तकरीर[4] गोया बाग में बुलबुल चहकते हैं॥
जरा देखो तो ऐ अहले-सखुन[5] जोरे सनाअत को[6]।
नई बंदिश[7] है मजमूँ नूर[8] के साँचे में ढलते हैं॥
'रसा' महवे-फसाहत[9] दोस्त क्या दुश्मन भी हैं सारे।
जमाने में तेरे तर्जे सखुन की यादगारी है॥

भक्तकवि भारतेन्दु जी बड़े उदार विचारों के थे। उनमें धर्मांधता रत्ती भर भी नहीं थी और सभी धर्मों के उपदेशों को वे उसी 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' (श्रीकृष्ण) समग्र विश्व के स्रष्टा को पाने का साधन समझते थे। वे कहते हैं—

तेरा दम भरते हैं हिन्दू अगर नाकूस[10] बजता है।
तुझे ही शेख ने प्यारे अज़ाँ देकर पुकारा है॥
जो बुत[11] पत्थर हैं तो काबः में क्या जुज[12] खाक पत्थर है।
बहुत भूला है वह इस फर्क में सर जिसने मारा है॥
न होते जलवः गर[13] तुम तो वह गिरजा कब का गिर जाता।
निसारा[14] को भी तो आखिर तुम्हारा ही सहारा है॥
तुम्हारा नूर है हर शै में कह[15] से कोह[16] तक प्यारे।
इसी से कह के हर हर तुमको हिन्दू ने पुकारा है॥

---

[1] उच्च विषय। [2] आकाश। [3] नई शैली। [4] बोलते समय। [5] कवि, भाषाविद्। [6] गुण। [7] कल्पना, योजना। [8] ज्योति। [9] कविकौशल पर मुग्ध। [10] शंख। [11] मूर्ति। [12] सिवा। [13] प्रकाशमान्। [14] ईसाई। [15] तिनका। [16] पर्वत।

और अंत में कहते हैं—

गुनह बख्शो रसाई दो 'रसा' को अपने कदमों तक।
बुरा है या भला है जो कुछ है प्यारे तुम्हारा है॥

कैसी सीधी सीधी बातें हैं, जो दिल पर असर कर जाती हैं। कठहुज्जती भले ही कोई कर ले पर ऐसे कथनों को कोई काट नहीं सकता। सब झगड़े की बात को सुलझाते हुए भी अन्त में यह कहना कि 'जो कुछ है तुम्हारा ही है' कितनी नम्रता तथा भक्ति-श्रद्धापूर्ण है।

कुछ कविगण आहो नाले वगैरह का कई तरह से वर्णन कर जाते हैं, पर उनका दिल पर असर नहीं होता क्योंकि उनमें उनका दिल ही नहीं रहता। वे केवल रूढ़ि परम्परा के अनुसार ऐसी शब्दावली भले ही प्रयुक्त करें और सुननेवाले भी सुन लें कि उसने ऐसे आह मारा, वैसे नाले उड़ाए, पर उन पर ऐसी खबरों का असर नहीं होता, वे उसके साथ सहवेदना नहीं प्रगट कर सकते। परन्तु जब कवि कुछ ऐसी बात कहता है कि जिससे श्रोताओं के हृदयों पर चोट पहुँचती है तभी उनका कारुण्य उद्विग्न हो उठता है। कुछ शैर लीजिए—

बुरा हो इश्क का यह हाल है अब तेरी फुरकत[१] में।
कि चश्मे खूँचकाँ[२] से लख्ते-दिल पैहम[३] निकलते हैं॥
फुगाँ करती है बुलबुल याद में गर गुल के ऐ गुलचीं[४]।
सदा[५] इक आह की आती है जब गुन्चे चटकते हैं॥
कोई जाकर कहो यह आखिरी पैगाम उस बुत से।
अरे आ जा अभी दम तन में बाकी है, सिसकते हैं॥

दोस्तो कौन मेरी तुरबत[६] पर।
रो रहा है 'रसा रसा' करके॥

अधिक दुःख पाने से मनुष्य चिड़चिड़ा हो उठता है, वह हवा, काँटे वगैरह सभी से लड़ने-झगड़ने लगता है, कुछ उन्माद-सा हो जाता है—

उड़ा दूँगा रसा मैं धज्जियाँ दामाने सहरा[७] की।
अबस[८] खारे बियाबाँ मेरे दामन से अटकते हैं॥

---

[१]जुदाई, विरह। [२]जिससे रक्त टपक रहा है। [३]बराबर, सदा। [४]फूल चुननेवाला, माली। [५]आवाज, शब्द। [६]कब्र, मजार। [७]जंगल। [८]व्यर्थ, फजूल।

अन्त में मृत्यु का समय आता मालूम होता है, उपदेशक कह उठा कि 'मूठी बाँधे आया साधो हाथ पसारे जाता है।' कवि उसी को अपनी ढंग से कहता है। पुष्प में सौन्दर्य और सुगंधि है, वह वास्तव में नित्य है, आज खिला है, कल नहीं है। उसका मूल्य कुछ नहीं है पर अमूल्य है, ऐसे दो फूल भी चलते-चलाते न ले जा सकने पर रंज होना स्वाभाविक है, सब कुछ छोड़ चले पर तब भी—

ले चले दो फूल भी इस बागे आलम से न हम।
वक्त रेहलत[1] हैफ है खाली ही दामाँ रह गया॥

सबके अंत में प्रार्थना की जाती है—

वह नाथ अपनी दयालुता तुम्हें याद हो कि न याद हो।
व जो कौल भक्तों से था किया तुम्हें याद हो कि न याद हो॥
सुना गज की ज्योंही व आपदा न बिलंब छन का सहा गया।
वहीं दौड़े उठके पियादे पर तुम्हें याद हो कि न याद हो॥

अब इनके गजलों से कुछ चुने हुए शेर उद्धृत कर दिए जाते हैं—

दमे रफ़्तार आती है सदा पाजेब से तेरे।
लहद[2] के खिस्तगाँ[3] उट्ठो मसीहा याद करते हैं॥
मसल सच है बशर[4] पर कद्रे[7] नेअमत बाद होती है।
सुना है आज तक तुमको बहुत वह याद करते हैं॥
लगाया बाग़बाँ ने ज़ख़्मकारी दिल पै बुलबुल के।
गिरेबाँ चाक गुंचः हैं तो गुल फरियाद करते हैं॥
दिल जलाया सूरते परवानः[5] जब से इश्क में।
फ़र्ज़ तब से शमअ पर आँसू बहाना हो गया॥
हो परेशानी सरे मू[6] भी न जुल्फे यार को।
इसलिए दिल भी मेरा सद चाक शानः हो गया॥
ख्वाबे गफलत से जरा देखो तो कब चौंके थे हम।
काफिला मुल्के अदम को जब रवानः हो गया॥
खाकसारी ने दिखाया बाद मुर्दन भी उरूज[7]।
आसमाँ तुर्बत प मेरे शामियानः हो गया॥

---

[1]महायात्रा, मृत्युकाल। [2]एक प्रकार की कब्र। [3]घायल। [4]मनुष्य, आदमी।[4] थोड़ी। [5]पतंगा। [6]बाल की नोक के बराबर। [7]उत्कर्ष।

बाद मरने के खबर को कौन आता है 'रसा'।
खत्म बस कुन्जे लहद तक दोस्तानः हो गया।।
रिहा करता है सैयादे सितमगर मौसिमे गुल में।
असीराने[१] कफस लो तुमसे अब रुख्सत हमारी है।।
नातवानी ने दिखाया जोर अपना ए 'रसा'।
सूरते नकशे कदम मैं बस नुमायाँ रह गया।।
हलकए चश्मे सनम लिख के यह कहता है कलम।
बस कि मरकज[२] से कदम अपना न बाहर होयगा।।

दिल न देना कभी इन संगदिलों को यारो।
चूर होवेगा जो शीशा तहे पत्थर होगा।।
ए 'रसा' जैसा है बरगश्तः जमाना हम से।
ऐसा बरगश्तः किसी का न मुकद्दर होगा।।
जहाँ देखो वहाँ मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है।
उसी का सब है जलवा जो जहाँ में आशकारा है।।
चमक से बर्क के उस बर्कवश की याद आई है।
घुटा है दम, घटी है जाँ घटा जब से ये छाई है।।

कौन सुनै कासों कहौं सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत हैं ए बदरा बदराह।।

शुअलारू[३] कह तो क्या मिला तुझको।
दिलजलों को जला जला करके।।
सर्वे कामत[४] गजब की चाल से तुम।
क्यों कयामत चले बपा करके।।

भाषा-सौन्दर्य

हिन्दी साहित्य पर भारतेन्दु जी का जिस प्रकार प्रभाव पड़ा था उसी प्रकार हिन्दी काव्यभाषा पर भी पड़ा था। उनके समय तक के कविगण प्राचीन परंपरागत काव्य की जिस व्रजभाषा को अपनाते चले आते थे, उसके बहुतेरे शब्दों को बोलचाल से उठे हुए शताब्दियाँ व्यतीत हो गई थीं, पर वे उनके द्वारा व्यवहृत

---

[१]कैदियो। [२]केन्द्रविन्दु, घेरे के बीचोंबीच का बिन्दु। [३]अग्नि के समान चमकता हुआ मुख। [४]सरो वृक्ष सा जिसका कद हो।

हो रहे थे। इसके सिवा अपभ्रंश-काल तक के कितने शब्द, जो किसी के द्वारा कहीं बोलचाल में प्रयुक्त नहीं होते थे, वे भी बराबर कविता में लाए जा रहे थे। भारतेन्दु जी ने ऐसे पड़े-सड़े शब्दों को बिलकुल निकाल बाहर किया और इस प्रकार काव्यभाषा को परिमार्जित कर उसे चलता हुआ सरल और साफ रूप दिया। इस परिष्करण से जनसाधारण की बोलचाल की भाषा से काव्य की जो ब्रजभाषा दूर पड़ गई थी और जिसे समझना भी सुगम नहीं रह गया था, वह फिर अपने सीधे मार्ग पर आ गई। जो लोग ब्रजभाषा की दुरूहता से उससे दूर हटे जा रहे थे वे फिर उसे अपनाने लगे। इसके साथ अन्य रसों में कमऔर वीर तथा रौद्र रसों में अधिक शब्दों की जो पिच्चीकारी की जाती थी, तोड़-मरोड़ होते थे और अंग-भंग किए जाते थे तथा मनगढ़ंत शब्दों का प्रयोग हो रहा था उस दोष को भी भारतेन्दु जी ने अपनी कविता में नहीं आने दिया और उससे अपनी भाषा को बचाए रखा। इस प्रकार इन्होंने अपनी भाषा को जो सुव्यवस्थित शिष्ट निखरा रूप दिया, उससे बाद के सभी सुकवियों ने लाभ उठाया। भारतेन्दु जी के सवैयों तथा कवित्तों के सर्वप्रिय होने और उन्हीं के सामने ही उन सबके अत्यधिक प्रचलित हो जाने का एक प्रधान कारण भाषा का यह परिष्कार था।

कवि के हृदय से उठते हुए भाव को पूर्णरूप से व्यक्त कर देना जैसे भाषा का एक मुख्य गुण है, उसी प्रकार उसका दूसरा मुख्य गुण यह भी होना चाहिए कि वह उस भाव को ठीक-ठीक श्रोता या पाठक के हृदय में उसी तरह झटपट पहुँचा दे। साथ ही यदि यह भाव-व्यक्तीकरण प्रसाद-पूर्ण होते हुए सरलता के साथ थोड़े शब्दों में हुआ हो तो सोने में सुगंधि का कार्य कर देता है। इसके सिवा काव्य की भाषा में सौकुमार्य भी होना चाहिए। वर्णनशक्ति सरल होनी चाहिए और वह भी जितने ही स्वाभाविक ढंग से, बड़े परिश्रम तथा प्रयास से न गढ़ी जाकर, होगी उतनी ही वह लोकप्रिय होगी। काव्य-धारा जितनी सरलता से बहेगी उतनी ही वह सुन्दर, निर्मल तथा कलकल निनादमयी होगी और यदि उसका प्रवाह अस्वाभाविक रुकावटों से सरल न हुआ तो वह असुन्दर, गँदली तथा खड़खड़ाती गर्जन-तर्जन-पूर्ण होगी।

भाषा का एक यह गुण भी सफल कवियों में होना परमावश्यक है कि उनका भाषा समान रूप से अनेक प्रकार के भावों को व्यक्त कर सके। एक पद में यदि दो-तीन भाव आ गए हैं और कवि सबको समान भाषा में व्यक्त नहीं कर सकी है तो वह उस पद-रचना में सफल नहीं हुआ है। उसका वह कार्य अच्छे वस्त्र में

दरिद्र पैवंद लगाने के समान है। भाषा में काव्य-प्रवाह के अनुकूल ही चलने की शक्ति होनी चाहिये। जिस कवि की भाषा में आप से आप अलंकारों का प्रस्फुटन होता रहता है, उसी की भाषा भाषाओं की अलंकार है। जब अलंकारों के लिये हो कविता की जाती है तब उसकी भाषा में स्वाभाविकता नहीं रह जाती। अलंकार शोभा बढ़ाने के लिये लाने चाहिए, न कि उनके बोझ से भाषा को बेदम निर्जीव कर डालने के लिये।

भारतेन्दु जी की भाषा में स्वच्छंदता तथा सजीवता विशेष रूप से पाई जाती है और वह इनकी प्रकृति के अनुकूल ही है। इसी स्वभाव के कारण इनके हृदय में जो भाव उठते थे, उनका बहुत ही मनोरंजक रूप में वर्णन होता था। उर्दू काव्य-ग्रन्थों का भी भारतेन्दु जी ने मनन किया था और उर्दू में कविता भी करते थे। यही कारण है कि उस भाषा की जिंदःदिली इनकी भाषा में अधिक व्याप्त हो गई है। इस प्रकार से जब सजीव भाषा की सुष्ठु-योजना की जाती है तब कविता में जान पड़ती है और कवि तथा पाठक दोनों ही उस पर मुग्ध हो जाते हैं।

भाषा पर भारतेन्दु जी का अधिकार भी खूब बढ़ा-चढ़ा हुआ था। इनकी प्रायः सभी कविता ब्रजभाषा में है। इनकी भाषा में मुहाविरों का बहुत प्रयोग है। लोकोक्तियों तथा व्यंग्योक्तियों को भी इन्होंने सुचारु रूप से प्रयुक्त किया है। "निरंकुशाः कवयः" होते हैं पर इन्होंने अपनी भाषा को कहीं नियम-विरुद्ध तथा शिथिल नहीं होने दिया। यह भर्ती के शब्द कविता में नहीं लाए हैं। भाषा को सुव्यवस्थित करने का तो इन्होंने बीड़ा ही उठाया था, तब यह अपनी भाषा को कैसे अव्यवस्थित होने देते। अब कुछ अवतरण देकर पूर्वोक्त बातों का विचार किया जाय।

१. सोई तिया अरसाय के सेज पै सो छबि लाल विचारत ही रहे।
पोंछि रुमालन सों श्रम-सीकर भौंरन को निरुवारत ही रहे॥
त्यों छबि देखिबे को मुख तें अलकैं 'हरिचंद जू' टारत ही रहे।
द्वैक घरी लौं जके से खरे वृषभानु-कुमारी निहारत ही रहे॥

कैसा सुन्दर चित्र इन मनोहर शब्दों से चित्रित किया गया है। सोई हुई वृषभानुनंदिनी की छबि को किस प्रकार श्रीकृष्ण जी जके हुए खड़े देख रहे हैं, इस भाव को ऐसी सरलता से कह दिया गया है कि सुनने या पढ़ने वाले के हृदय में वह आप ही खचित हो जाता है। भाव के अनुकूल ही शब्द इस प्रकार आप

से आप बिना लेश मात्र प्रयास के चले आए हैं कि प्रवाह में कहीं भी कुछ रुकावट नहीं है। शब्दों की सुकुमारता के लिए कहना ही क्या ? थकावट की छवि पर विचार, रूमाल से पसीना पोंछना, भौंरों को दूर करना, बालों को हटाना और जके से होकर मुख-छबि देखते रहना, इन भावों को कवि ने बड़ी कुशलता से एक पद में वर्णन किया है, पर सभी एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए अंत तक चले आए हैं कि कहीं भी भाषा में बे-मेलपन नहीं आया है। पूरा वर्णन भी कितना स्वाभाविक है और पूरे छन्द में स्वभावोक्ति अलंकार का प्रस्फुटन आप से आप हो गया है।

२. देखि घनश्याम घनश्याम की सुरति करि,
जियमें बिरह घटा घहरि घहरि उठै।
त्यों हीं इन्द्रधनु बगमाल देखि बनमाल,
मोतीलर पिय की जिय लहरि लहरि उठै॥
'हरीचन्द' मोर पिक धुनि सुनि बंशीनाद,
बाँकी छवि बार बार छहरि छहरि उठै॥
देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत
पट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै॥

विरहिणी के हृदय को वर्षा की शोभा किस प्रकार दुःखदायिनी हो रही है ? सर्वप्रथम काले बादल को देखते ही घनश्याम श्रीकृष्ण का स्मरण हो जाता है और उसके हृदय में विरह के बादल घहराने लगते हैं। इन्द्र-धनुष तथा बकों की पंक्ति, प्रिय के हृदय पर सुशोभित अनेक रंगों के फूलों की बनमाला तथा मोतियों की लड़ियों की याद दिलाती है जिससे लहर (आनन्द तरंग, विष चढ़ना) सी उठने लगती है। मयूर के शब्द से बंशी की ध्वनि याद आती और 'पी कहाँ'-'पी कहाँ' सुनते ही पति की बाँकी टेढ़ी-मेढ़ी छबि हृदय को बार-बार बेधती है। विद्युत् की चमक श्रीकृष्ण के पीताम्बर के छोर को स्मृति में लाकर हृदय को फड़-फड़ा देती है। कितना सुदर भाव सरल शब्दों से युक्त सुगठित भाषा में कहा गया है। प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कांति आदि सभी गुण इसमें मौजूद हैं। श्लेष, स्मरण, क्रम, स्वभावोक्ति, यमक, अनुप्रासादि अलङ्कारों का चमत्कार आप से आप आ गया है, कवि को उन्हें लाने के लिए कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ा है। भाषा की मधुर-धारा श्रोता तथा पाठक दोनों ही को मुग्ध कर देता है। दो-चार उदाहरण और दे दिए जाते हैं। सभी भाषा की दृष्टि से, जैसी ऊपर विवेचना की जा चुकी है, एक से एक बढ़ कर हैं।

३. हूलति हिए में प्रानप्यारे के बिरह-सूल,
फूलति उमंग भरी झूलति हिंडोरे पै।
गावति रिझावति हँसावति सबन 'हरि
चन्द्र' चाव चौगुनो बढ़ाइ घन घोरे पै।
वारि वारि डारौं प्रान हँसनि, मुरनि, बतरान,
मुँह पान, कजरारे दृग डोरे पै।
ऊनरी घटा में देखि दूनरी लगी है आहा,
कैसी आजु चूनरी फबी है मुख गोरे पै॥

४. छुरी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर
हारी सी बिकी सी सो तो सबही घरी रहै।
बोले तें न बोलै दृग खोलै ना हिंडोलै बैठि,
एक टक देखै सो खिलौना सी धरी रहै॥
'हरीचन्द' औरौ घबरात समुझाएँ हाय,
हिचकि-हिचकि रोवै जीवति मरी रहै।
याद आएँ सखिन रोवावै दुख कहि-कहि,
तौ लौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै॥

५. सिसुताई अजौं न गई तन तें तऊ जोवन जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचन्द' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी॥
बचि सासु जेठानिन सों पियतें दुरि घूँघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूख निचोरै लगी॥

६. आजु लौं जौ न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग कों पावैं॥
जो 'हरिचन्द' भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समै सब कंठ लगावैं॥

कुछ पद्यांश भी दिए जाते हैं जिनमें मुहाविरे की भी बहार मिलेगी—

१—कान्ह भए प्रानमय प्रान भए कान्हमय,
हिय में न जानी परै कान्ह है कि प्रान है।

२—गोप सों जो पै भए रजपूत लड़ो किन जोड़ को आपुने जानी।
भारत हौ अबलागन को तुम याही मैं वीरता आय खुटानी॥

३—प्रीतम के सुख में पिय मैं भई आए तें लाल के जान्यौ अकेली॥

४—प्रीतम पिआरे नन्दलाल बिनु हाय यह,
सावन की रात किधौं द्रौपदी की सारी है।
५—सो बनि पंडित ज्ञान सिखावत कूबरी हू नहिं ऊबरी जासों॥
६—मो दुखिया के न पास रहौ उड़िकै न लगै तुमहूँ को कहूँ दुख।
७—एक जो होय तो ज्ञान सिखाइए कूपहि में यहाँ भाँग परी है॥
८—साँचे में खरी सीं परी सींसीं उतरी सीं खरी,
बाजूबंद बाँधे बाजू पकरि किवार कै।
९—पगन में छाले परे नाँघिबे को नाले पर,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस कै॥
१०—रँग दूसरो और चढ़ैगो नहीं अलि साँवरो रंग रँग्यो सो रँग्यो।
११—सुख कौन सो प्यारि दियो पहिले जिहि के बदले यों सताय रहे॥

लोकोक्ति

भारतेन्दु जी कविता में नित्य के बोलचाल की कहावतों का बहुत ही अच्छा प्रयोग करते थे और इससे कविता के भावों की खूब पुष्टि होती थी। जिस प्रकार प्रत्येक जीव के लिए जन्म-मरण निश्चित है उसी प्रकार सुख-दुःख भी दोनों प्रत्येक जीव के भाग्य में लिखा रहता है। किसी को सुख अधिक है तो किसी को दुःख। इसका समाधान करने के लिये कितना भी तर्क-वितर्क किया जाय पर यह कमी तथा आधिक्य है और रहेगा। कृष्ण जी के मथुरा-गमन पर गोपिकाएँ जब सुनती हैं कि उन्होंने कुब्जा पर अपना प्रेम प्रदर्शित किया है, तब वे सोचती हैं कि क्या कुब्जा संसारोपरि है और मथुरा क्या मिट्टी पत्थर की भूमि नहीं है जो कृष्ण वहाँ रम गए हैं। अंत में कुछ न समझ पड़ने पर वे कहती हैं कि कुछ नहीं यह सब भाग्याधीन है।

कुबजा जग के कहा बाहर है नन्दलाल ने जा उर हाथ धर्‌यो।
मथुरा कहा भूमि की भूमि नहीं जहँ जाय कै प्यारे निवास कर्‌यो॥
'हरिचन्द' न काहू को दोष कछू मिलिहैं सोइ भाग में जो उतर्‌यौ।
सबको जहाँ भोग मिल्यौ तहाँ हाय वियोग हमारे ही बाँटे पर्‌यौ॥

साथ ही ये गोपिकाएँ समझती भी थीं कि मोहन को निर्मोही जानते हुए भी जो हम लोगों ने उससे प्रेम करने की भूल की है वही हमारे गले आ पड़ी है।

यामैं न और को दोष कछू सखि चूक हमारी हमारे गले परी।

और हमने उन्हें भला आदमी सुजान समझा था, जानती थी कि वे ऐसे हैं, नहीं तो—

जानि सुजान मैं प्रीति करी सहि कै जग की बहु भाँति हँसाई।
त्यों 'हरिचन्द जू' जो जो कह्यौ सो कर्‌यौ चुप ह्वै करि कोटि उपाई॥
सोऊ नहीं निबही उनसों उन तोरत बार कछू न लगाई।
साँची भई कहनावति वा अरी ऊँची दुकान की फीकी मिठाई॥

प्रेम भी बिचारा ऐसा दो के बीच में पड़ा है कि कुछ कहने को नहीं। प्रतिक्षण मिलना होता रहे तभी ठीक है, नहीं तो कभी एक पक्ष की विरहाग्नि प्रबल, कभी दूसरे पक्ष की। इसी प्रेम में दग्ध होकर सखी अपने आप को कोस रही है।

जानति हो सब मोहन के गुन तौ पुनि प्रेम कहा लगि कीनो।
त्यों 'हरिचन्द जू' त्यागि सबै चित मोहन के रस रूप में भीनो॥
तोरि दई उन प्रीति उतै अपवाद इतै जग को हम लीनो।
हाय सखी इन हाथन सों अपने पग आप कुठार मैं दीनो॥

इस प्रकार अपने को कोसती हुई इस विरहिणी की दशा की दूसरी सखी उसके प्रलाप का भी कथन करते हुए यों वर्णन करती है—

घेरि घेरि घन आए छाय रहे चहूँ ओर कौन हेत प्राननाथ सुरति बिसारी है।
दामिनी दमक जैसी जुगनू चमक तैसी नभ में विशाल बगपंगति सँवारी है॥
ऐसी समय 'हरिचन्द' धीर ना धरत नेकु बिरह बिथातें होत ब्याकुल पिआरी है।
प्रीतम पिआरे नन्दलाल बिनु हाय यह सावन की रात किधौं द्रौपदी की सारी है॥

इस प्रकार विकल नायिका को उसकी सखियाँ समझाने लगती हैं तो वह उन्हें कैसा उपालंभ देती है—

पहिले बहु भाँति भरोसो दियो अब ही हम लाइ मिलावती हैं।
'हरिचन्द' भरोसे रही उनके सखियाँ जे हमारी कहावती हैं॥
अब वेई जुदा ह्वै रहीं हम सो उलटों मिलि कै समुझावती हैं।
पहिले तो लगाइ कै आग अरी जल को अब आपुहि धावती हैं॥

खैर किसी प्रकार सखियाँ जब नायक को समझा-बुझाकर सीधा करती हैं तब वही प्रेम इस विरहिणी को मानिनी बना देता है। सखी कहती है—

प्रानपियारे तिहारे लिए सखि बैठे हैं देर सों मालती के तर।
तू रही बातैं बनाय बनाय मिलै न बृथा गहि कै कर सों कर॥

तोहि घरी छिन बीतत है 'हरिचन्द' उसे जुग सो पलहु भर।
तेरी तो हाँसी उतै नहिं धीरज नौ घरी भद्रा घरी में जरै घर ॥

अंत में मानिनी भी मान जाती है और प्रीतम से मिलती है। मान द्रवित होकर करुणरस में परिवर्तित हो जाता है। नायिका प्रीतम से जो प्रार्थना करती है उसके एक-एक अक्षर में उसका हृदयस्थ प्रेम उच्छलित होता ज्ञात हो रहा है—

तुम्हरे तुम्हरे सब कोऊ कहैं तुम्हैं सो कहा प्यारे सुनात नहीं।
विरुदावली आपुनी राखौ मिलौ मोहिं सोचिबे की कोऊ बात नहीं ॥
'हरिचन्द जू' होनी हुती सो भई इन बातन सों कछु हाथ नहीं।
अपुनावते सोच विचारि तबै जलपान कै पूछनी जात नहीं ॥

इनके सिवा भी अनेक ऐसी लोकोक्तियों की बराबर सुष्ठु-योजना इनके पदों में रही है। गद्य में, मुख्यतः नाटकों में, भी ऐसी योजना बहुत है।

अनुवाद

अनुवाद करना जितना सुगम समझा जाता है वैसा वास्तव में है नहीं। यह जब गद्य के लिये कहा जा सकता है तब पद्य का पद्यानुवाद करना तो अवश्य ही दुरूह है। मौलिक रचना से भी वह अधिक कष्टसाध्य है। अन्य कवि के भाव को उसी प्रकार सरस शैली में व्यक्त कर देना उससे श्रेष्ठतर नहीं तो कम से कम उसके समकक्ष कवि ही के लिए साध्य है। भारतेन्दु जी ने विशेषतः संस्कृत ही से अनुवाद किए हैं, केवल एक दुर्लभबन्धु अँगरेजी नाटक का अनुवाद है; इनके अनुवादों में मौलिक ग्रंथों ही का आस्वादन मिलता है।

गीतगोविन्दकार जयदेव जी की कविता के लालित्य और प्रसाद गुण से संस्कृत का कौन प्रेमी परिचित नहीं है। संगीत-प्रेमियों को भी इनकी रचना से जो आनन्द मिलता है वह किसी दूसरे कवि की रचना से नहीं मिलता। इसी सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गीतगोविन्द की अष्टपदी का 'गीत-गोविन्दानन्द' नाम से भारतेन्दु जी ने अनुवाद किया है। इसके विषय में एक समालोचक लिखते हैं, "भारतेन्दु जी के अनुवाद में जो सरसता और सुन्दरता है वह अन्य अनुवादों में नहीं। आपके अनुवाद में संगीत का मजा भी फीका नहीं होने पाता, वरन् ब्रजभाषा में होने के कारण मौलिक ग्रंथ से टक्कर लेता है।" गीतगोविन्द के दो-एक उदाहरण लीजिए। मंगलाचरण का प्रथक श्लोक इस प्रकार है।

मेघैर्मेदुरमंबरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः ।
नक्तं भीरुरयं त्वमेवतदिमंराधेगृहं प्रापय ।।
इत्थंनंदनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्व कुञ्जद्रुमं ।
राधामाधवयोर्जयंति यमुनाकूले रहः केलयः ।।

भारतेन्दु जी ने एक सवैये में इसका अनुवाद किया है, जिसके पढ़ने से साफ मालूम होता है कि इसमें अनुवाद करने का लेशमात्र प्रयास नहीं है। भाषा कितनी मधुर है और मूल-कवि के सभी भाव आ गए हैं।

मेघन सों नभ छाइ रहे बन भूमि तमालन सों भई कारी।
साँझ भई डरिहै घर याहि दया करिकै पहुँचावहु प्यारी ।।
यों सुनि नन्द निदेस चले दोउ कुञ्जन में हरि भानु-दुलारी।
सोई कलिन्दी के कूल इकन्त की केलि हरै भवभीति हमारी ।।

गीत-गोविन्द के पंचम पद का कुछ अंश अनुवाद सहित नीचे दिया जाता है—

संचरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशं ।
चलितदृगंचलचंचलमौलिकपोलविलोलवतंशं ।।
रासे हरिमिह विहित विलासं स्मरति मनो ममकृत परिहासं ।।ध्रुवपदं।।
चंद्रकचारुमयूरशिखंडक मंडलवलयितकेशं ।
प्रचुरपुरंदरधनुरनुरंजितमेदुरमुदिरसुवेशं ।।
मणिमयमकरमनोहरकुण्डलमंडितगंडमुदारं ।
पीतवसनमनुगतमुनिमनुजसुरासुरवरपरिवारं ।।
विशदकदंबतले मिलितं कलिकलुषभयं शमयंतं ।
मामपि किमपि तरंगदनंगदृशा मनसा रमयंतं ।।
श्रीजयदेवभणितमतिसुन्दर मोहनमधुरिपुरूपं ।
हरिचरणस्मरणं प्रतिसंप्रति पुण्यवतामनुरूपं ।।

जियतें सो छबि टरत न टारी।
रासविलास रमत लखि मो तन हंसे जौन गिरधारी ।।ध्रु०।।
अधर मधुर मधुपान छकी बंसी-धुनि देत छकाई।
ग्रीव डुलनि चंचल कटाच्छ मिलि कुण्डल-हिलनि सुहाई ।।
घुंघुरारी अलकन पै प्यारी मोर-चन्द्रिका राजै।
नवल सजल घन पैं मनु सुन्दर इन्द्रधनुष छबि छाजै ।।

गंडन पर मनिमंडित कुण्डल झलकत सब मन मोहै।
सुर-नर-मुनिगन-बन्दित कटि-तट लपटि पीतपट सोहै॥
बिसद कदम्ब तरे ठाढ़े जन-भव-भय-मेटनवारे।
काम भरी चितवन लखि मम उर काम-बढ़ावनहारे॥
श्री जयदेव कथित यह हरि को रूप ध्यान मन भायो।
बसै सदा रसिकन के हिय 'हरिचन्द' अनूप सुहायो॥

महाकवि विशाखादत्त-कृत मुद्राराक्षस नाटक का इनका अनुवाद बहुत ही अच्छा हुआ है। उसके भी दो उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं। मंगलाचरण के प्रथम श्लोक में महादेव जी के गंगा जी के छिपाने के प्रयास का वर्णन है—

१—धन्या केयं स्थिता ते शिरसि ? शशिकला; किन्तु नामैतदस्या ?
नामैवास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ?
नारीं पृच्छामि नेन्दुं; कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः॥

(अनुवाद सवैया)

'कौन है सीस पै ?' 'चन्द्रकला', कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी' ?
'हाँ यही नाम है भूल गई किमि जानत हू तुम प्रानपियारी ?'
'नारिहि पूछत चन्द्रहि नाहिं', 'कहै विजया जदि चन्द्र लबारी'।
यों गिरिजै छलि गंग छिपावत ईस हरौ सब पीर तुम्हारी॥

२—प्रत्यग्रोन्मेष जिह्मा क्षणमनभिमुखी रत्नदीप प्रभाणाम्।
आत्मव्यापारगुर्वी जनितजललवा जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः।
नागाङ्कं मोक्तुमिच्छोः शयनमुरुफणा चक्रवालोपधानं।
निद्राच्छेदाभिताम्रा चिरमवतु हरेर्दृष्टि राके करा वः॥

इसका अनुवाद पद में वैतालिक के गाने योग्य किया गया है—

हरौ हरि नैन तुम्हारी बाधा।
सरद-अन्त लखि सेस-अंक ते जगे जगत सुभ साधा॥
कछु-कछु खुले, मुंदे कछु सोभित आलस भरि अनियारे।
अरुन कमल से मद के माते थिर भे, जदपि ढरारे॥
सेस-सीस-मनि-चमक चकौंधन तनिकहूँ नहिं सकुचाहीं।
नींद भरे श्रम जगे चुभत जे नित कमला उर माहीं॥

'पाखंड विडंबन' तथा 'धनंजय विजय' दोनों ही संस्कृत से अनूदित हैं। इन दोनों के एक-एक पद नीचे दे दिए जाते हैं—

१—श्री रघुनाथ की प्राण-प्रिया मिथलेश-लली दससीस चही है।
वेद चुराय कै दानव के गन भागे पताल न जाय कही है॥
वाम मदालसा जो सुरलोक की सो छलिकै खल दैत लही है।
जो विधि बाम भयो सजनी तब जो जो करै सो अचर्ज नहीं है॥

२—सागर परम गँभीर नंध्यो, गोपद सम छिन मैं।
सीता-विरह-मिटावन की अद्भुत मति जिन मैं॥
जारी जिन तृन फूस हूससी लंका सारी।
रावन गरब मिटाइ हने निसिचर-बल भारी॥
श्री राम-प्रान-सम, बीर-बर, भक्तराज, सुग्रीव-प्रिय।
सोइ वायुतनय धुज बैठि कैं गरजि डरावत शत्रु-हिय॥

'कर्पूर-मंजरी' सट्टक शुद्ध प्राकृत भाषा में राजशेखर द्वारा निर्मित हुआ था। उसके अनुवाद से भी दो-एक पद यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

१—फूलैंगे पलास बन आगि सी लगाई कूर,
कोकिल कुहूकि कल सबद सुनावैगो।
त्यों ही सखी लोक सबै गावैगो धमार धीर,
हरन अबीर बीर सब ही उड़ावैगो॥
सावधान होहु रे बियोगिनी सम्हारि तन,
अतन तनक ही मैं तापन तें तावैगो।
धीरज नसावत बढ़ावत बिरह काम,
कहर मचावत बसंत अब आवैगो॥

२—गोरो सो रंग उमंग भर्यो चित, अंग अनंग को मंत्र जगाए।
काजर रेख खुभी दृग में दोउ, मोहन काम कमान चढ़ाए॥
आवनि बोलनि डोलनि ताकी, चढ़ी चित में अति चोप बढ़ाए।
सुन्दर रूप सो नैनन में बस्यो, भूलत नाहिनै क्यों हूँ भुलाए॥

पूर्वोक्त उद्धरणों के पढ़ने से उनमें अनुवाद की गंध तक नहीं आती प्रत्युत् मूल-सा आनन्द मिलता है। इस प्रकार सहज ही मूल के समान अनुवाद कर डालने का मुख्य कारण भारतेन्दु जी की जन्मसिद्ध काव्य-प्रतिभा थी। अनुवाद करने में वे इतने कुशल थे और उसे मूल में इस प्रकार मिला देते थे कि पाठकों को भ्रम हो

जाता है कि दोनों में कौन बढ़कर है। अंग्रेजी के अनुवाद 'दुर्लभ बंधु' का उल्लेख हो चुका है और उसकी रचना में अन्य लोगों की सहायता भी ली गई थी, इससे उस पर विशेष यहाँ नहीं लिखा जाता। इसके पात्रों के नामों का अनुवाद ही, जो वास्तव में इन्हीं का किया हुआ है, अति सुन्दर हुआ है। पोर्शिया का पुरश्री, जेसिका का यशोदा, ऐन्टॉनिया का अनन्त आदि नामकरण किए गए हैं, यह सब भारतेन्दु जी की सजीवता ही का फल है।

नवीन रस

सहृदय पुरुषों के हृदय में रति, शोक आदि अनेक भाव स्थायी रूप से पाए जाते हैं, जिनका वे बराबर अनुभव किया करते हैं। कभी वे किसी से प्रेम करते हैं, किसी पर क्रोध प्रकाश करते हैं, किसी अद्भुत वस्तु को देख कर चकित होते हैं या किसी के लिए शोक करते हैं। इस प्रकार के बहुत से भाव क्रमशः उनके हृदय में वासना रूप से स्थित हो जाते हैं जो अवलंबन पाते ही प्रस्फुटित हो सकते हैं। ऐसे भाव, जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति हो जाते हैं, स्थायी कहलाते हैं। ये 'विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणः तथा। रसतामेति ··' अर्थात् आलबन-उद्दीपन विभाव द्वारा प्रस्फुटित और उद्दीप्त होने पर कटाक्षादि अनुभावों तथा ग्लानि आदि संचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त होकर रसत्व को प्राप्त होते हैं। रति, शोक, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय, जुगुप्सा और निर्वेद नौ स्थायी भाव हैं, जिनके अभिव्यक्त होने पर शृङ्गार, करुण, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स तथा शांत रसों के परिपाक हो जाते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि इनमें से एक शांत रस नाटक में नहीं आ सकता। 'शांतस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्' अर्थात् नट में शांति असम्भव है। पर यह कथन ठीक नहीं है। जो नट अभी क्रोध और तुरन्त ही बाद को (परदा बदलने ही के फेर में) हास्य दिखला सकता है, वह शान्त क्यों नहीं हो सकता। यदि वह समाधिस्थ तपस्वी का स्वाँग धारण किए हुए है, तो वह क्या बन्दर की चंचलता दिखलावे ही गा। वह अभिनेता है, उसे तो सभी प्रकार के भावों का, बिना स्वयं उसे अनुभव किए, इस प्रकार स्वाँग दिखलाना है कि दर्शकगण पर उनका ठीक और सत्य प्रभाव पड़ जाय। यदि वह स्वयं क्रोध, प्रेम आदि के फन्दे में पड़ जाएगा, तो अभिनय का उसे ध्यान ही कहाँ रह जायगा।

पंडितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में 'अथ कथमेत एव रसाः' कहकर रसों के केवल नौ ही होने अर्थात् उससे अधिक न होने की चर्चा चलाई है। भक्ति को एक स्थायी भाव मानकर तर्क किया है। पूर्वाचार्यों का मत 'रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी'

कह कर तथा 'भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादि व्यवस्थापकत्व' मानकर चुप रह गए हैं। वात्सल्य प्रेम का भी उल्लेख मात्र इन्होंने किया है पर अन्य कोई रस माना नहीं है। इनके अनंतर संस्कृत में 'शृङ्गार-रत्नाकर' नामक एक ग्रन्थ काशिराज की आज्ञा से निर्मित होकर सं० १९१९ वि० में प्रकाशित हुआ था। इसके रचयिता प्रसिद्ध विद्वान् पं० ताराचरण तर्करत्न थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है—

'हरिश्चन्द्रांस्तु वात्सल्यसख्यभक्त्यानंदाख्यमधिक रसचतुष्टयं मन्वते।' उक्त ग्रंथ के प्रकाशित होते समय भारतेन्दु जी की अवस्था बारह वर्ष की थी पर उसी अवस्था में इनके अकाट्य तर्कों को सुनकर उक्त पंडित जी को इनकी सम्मति भी अपने ग्रंथ में लिखनी पड़ी थी। सं० १९४० वि० में लिखे गए 'नाटक' पुस्तक में भारतेन्दु जी ने शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स, वीर, भयानक, शांत, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य और प्रमोद वा आनंद चौदह रस लिखे हैं। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने पाँच नए रसों की कल्पना की है।

शृङ्गार रस रसराज है क्योंकि इसका स्थायी भाव प्रेम है। प्रेम की महत्ता अन्यत्र भी कुछ लिखी गई है पर यहाँ इतना ही कहना अलं है कि इस प्रेम ही से सृष्टि बनी हुई है और इन नवों रसों का मूलमंत्र भी यही प्रेम है। शृङ्गार के दो भेद हैं—संयोग और वियोग। भारतेन्दु जी ने दोनों ही पर कविता की है और बहुत की है। इनके शृङ्गार रस के कवित्त-सवैये अत्यंत रसावह तथा हृदयस्पर्शी होते थे। यहाँ दो ही चार उदाहरण दिए जा सकते हैं।

१—सिसुताई अजौं न गई तन तें तउ जोबन-जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचन्द' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी॥
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूँघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी॥

देखिए बिहारी के 'संक्रोन काल' की नायिका का कैसा मनोरंजक चित्र-सा खिंच गया है। शिशुताई, लड़कपन, अभी नहीं गई है पर यौवन का आगम आरम्भ हो गया है। पति का नाम सुनते ही भौंहें तिरछी हो जाती हैं और गुरुजनों से बचाकर तथा पति से भी छिपा कर घूँघट से उसकी ओर देखने लगी है। दो ही दिन से मुग्धा बाला के अंग ऐसे उमड़ रहे हैं मानों अमृत बरस रहा है। यहाँ अभी प्रेम का अंकुरण हो रहा है। आलंबन नायक-नायिका दृग जोर रहे हैं और एक-दूसरे के विषय की बाते सुनते हैं, जिससे उनके प्रेम को उद्दीप्ति मिलती है।

भौंह मरोरना और आँखें बचाकर देखना अनुभावों से स्थायी भाव रति के पुष्ट होने पर शृङ्गार रस का परिपाक हो जाता है।

२—हूलति हिये में प्रानप्यारे के बिरह-सूल,
फूलति उमंग भरी झूलति हिंडोरे पै।
गावति रिझावति हँसावति सबन हरि—
चन्द चाव चौगुनो बढ़ाइ घन घोरे पै॥
वारि वारि डारौ प्रान हँसनि मुरनि बतरान,
मुँह पान कजरारे दृग डोरे पै।
ऊनरी घटा में देखि दूनरी लगी है आहा,
कैसी आजु चूनरी फबी है मुख गोरे पै॥

सभी शोभाओं से युक्त वर्षाऋतु आ गई है, हिंडोला पड़ा हुआ है और एक गौरवर्णा नायिका उस पर बैठकर पेंग लगा रही है। सखियां उस मनहरण दृश्य का वर्णन कर रही हैं कि "देखो यह प्राण प्यारे के हृदय में, हिंडोले पर दूर रह कर, विरह शूल हूलते हुए किस प्रकार स्वयं उमंग के साथ झूल रही है। घोर घन के कारण अपना उत्साह बढ़ाते हुए गा रही है और सब को हँसाती रिझाती है। उसके हँसने, मुख फेरने, बोलने, मुख की लाली तथा आँखों के श्याम-रतनार डोरे पर, एक-एक अदा पर, प्राण निछावर हो रहा है। क्या कहें, देखो इस हलकी घटा में इसका झूलने में दोहरा हो जाना कैसा अच्छा लगता है और सबके ऊपर उसके गोरे मुख पर आज चूनरी कैसी फब रही है।" कितना सुन्दर चित्रण है, समा-सा बाँध दिया गया है। स्थायी भाव रति आलंबन तथा उद्दीपन दोनों ही के रहने से कैसी आनंदातिरेक में अनुभूत हो रही है। संयोग शृङ्गार रस का पूर्णरूप से इसमें परिपाक हो गया है।

३—मनमोहन तैं बिछुरी जब सों, तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचन्द जू' प्रेम के फंद परी कुल की कुल लाजहि खोवती हैं॥
दुख के दिन को कोउ भाँति बितै, बिरहागम रैन संजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानै सखी, निसि सोवती है किधौं रोवती हैं॥

विरहिणी अपनी दशा का सखी से वर्णन कर रही है। कितनी सादगी से वह अपना दुख कह गई है और इसका सहृदयों पर कितना असर पड़ता है, यह सहृदय ही समझ सकते हैं। ठीक ही कहती है कि 'हम हीं अपनी दशा जानें सखी।' विप्रलंभ शृङ्गार का यह अति सुन्दर उदाहरण है।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह भी अमूल्य वस्तु है। इसके मुख्यतः चार भेद कहे गए हैं––युद्ध, धर्म, दान तथा दया। कर्मवीर, सत्यवीर आदि भी कुछ भेद माने जाते हैं। इस रस के आलंबन नायक और प्रतिनायक होते हैं। प्रतिनायक या दानपात्र आदि की चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव हैं। युद्ध-दान-सत्य-व्रतपालन आदि के सहायक कार्य अनुभाव हैं। वीर रस के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं––

१––सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदा हीं।
जागत हीं सब रहैं रैन हूँ सोअहिं नाहीं॥
कसे रहैं कटि रात-दिवस सब वीर हमारे।
अस्वपीठ सों होहिं चारजामे जिनि न्यारे॥
तोड़ा सुलगत चढ़े रहैं घोड़ा बन्दूकन।
रहैं खुली ही म्यान प्रतंचे नहिं उतरें छन।
देखि लेहिंगे कैसे पामर यवन बहादुर।
आवहिं तो चढ़ि सनमुख कायर कूर सबै जुर॥
दैहैं रन को स्वाद तुरन्तहि तिनहिं चखाई।
जो पै इक छनहू सनमुख ह्वै करहिं लराई॥

इन पंक्तियों के एक-एक शब्द से उत्साह छलका पड़ता है, जो स्थायीभाव है। राजा नायक तथा यवन आक्रमणकारी प्रतिनायक है। युद्ध में शत्रु को परास्त करने की चेष्टा उद्दीपन है। शस्त्र लिये हुए सैनिकों को युद्धार्थ तैयार रखना अनुभाव है। गर्व, धैर्य आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार युद्ध वीररस का पूर्ण-रूपेण परिपाक इन पदों में हुआ है। वीररस की कविता में शब्दों को तोड़-मरोड़ कर और दो-दो तीन-तीन अक्षरों को एक में कूट कर एक कर डालना तथा ट-वर्ग का खूब उपयोग करना प्रधान लक्षण माना गया था, पर भारतेन्दु जी ने यह सब खड्डबड्ड अकार्य न कर भी उद्धृत पदों को वीर रस से परिप्लुत कर डाला है। इन्हें सुनकर केवल कानों ही तक कटु उत्साह नहीं रह जाता वरन् हृदय तक पहुँचकर श्रोताओं को उत्साह से भर देता है।

२––तनहि बेंचि दासी कहवाई। मरत स्वामि आयसु बिनु पाई।
करु न अधर्म सोचु मन माहीं। 'पराधीन सपने सुख नाहीं॥'

धर्मवीर, दानवीर तथा सत्यवीर महाराज हरिश्चन्द्र पुत्रशोक पीड़िता महारानी शैव्या को आत्महत्या करने पर उद्यत देखकर कहते हैं कि "जिस शरीर को बेंचकर दासी हुई उसको स्वामी की आज्ञा बिना लिए किस प्रकार नष्ट कर

सकती हो ? मन में इस प्रकार विचार कर अधर्म न करो क्योंकि परतंत्र को स्वप्न में भी सुख नहीं है।'' वह असह्य कष्ट पाती हुई उनसे छुटकारा पाने के लिये अपनी मृत्यु भी नहीं बुला सकती। धर्म की कैसी मर्मस्पर्शी-व्यंजना है। हृदय भर जाता है, धर्म वीरत्व के सभी लक्षण होने से इस पद में वीररसत्व प्रचुरता से आ गया है।

३—जेहि पाली इक्ष्वाकु सों, अब लौं रवि-कुल-राज।
ताहि देत हरिचंद नृप, विश्वामित्रहिं आज॥

समग्र राज्य को बिना किसी प्रकार के प्रतिफल की इच्छा से राजा हरिश्चन्द्र विश्वामित्र को दान कर देते हैं। राज्य-दान में उत्साह स्थायी भाव है। दानपात्र विश्वामित्र आलंबन और दान देने की चेष्टा उद्दीपन है। सर्वस्व दान देने से अनुभावित होकर तथा मति आदि संचारियों से परिपोषित होकर यह दोहा दानवीर रसत्व को प्राप्त हुआ। इस दोहे में यह शंका उठाई जा सकती है कि दान देने में राजा हरिश्चन्द्र को कुछ कष्ट ज्ञात हो रहा है पर नहीं आगे का दोहा इसे स्पष्ट कर देता है—

बसुधे ! तुम बहु सुख कियो, मम पुरुषन की होय।
धरम बद्ध हरिचन्द को, छमहु सु परबस जोय॥

अर्थात् धर्मबद्ध होने ही के कारण राजा हरिश्चन्द्र उस पृथ्वी को जिसका पालन उनके कितने पूर्वजों ने किया था और जो उस समय उनकी संरक्षा में थी, दूसरे को सौंप रहे थे और उसे इस कारण किसी प्रकार का यदि दुःख पहुँचे तो वह उन्हें क्षमा करे। पृथ्वी के प्रति उनकी समवेदना ही ने यह कहलाया था। वे सोच रहे थे कि इतने बड़े राज्य का उत्तरदायित्व, जिसके लिये वे निरंतर दत्तचित्त रहते थे, ऐसे अकारण क्रोधी ब्राह्मण को सौंप रहे थे, जो न जाने किस समय इस पर गजब ढहा दे। सब कुछ समझने पर भी दान की हुई वस्तु को दान-पात्र को देकर वे सच्चे दानवीर हुए थे।

हास्य रस का स्थायी भाव हास है। जिस विकृत आकार, वाणी, वेष, तथा चेष्टा को देख कर लोग हँसें वही आलंबन और उसकी चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव हैं। आँखों का खिल उठना, मुस्कराना, हँसना आदि अनुभाव है और निद्रा, आलस्य आदि संचारी भाव होते हैं। हास्य के छः भेद स्मित, हसित विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अविहसित हंसने के छः भेदों के अनुसार होते हैं। दो-एक उदाहरण लीजिए—

१—जोर किया जोर किया जोर किया रे।
आज तो मैंने नशा जोर किया रे।
साँझहि से हम पीने बैठे, पीते पीते भोर किया रे।

२—गेंदा फूले जैसे पकौरी। लड्डू से फले फल बौरि बौरि॥
खेतन में फूले भात दाल। घर में हम फूले कुल के पाल॥
आयो आयो बसंत आयो आयो बसंत।

उपर्युक्त दोनों ही गाने विकृत आकार, वाणी तथा चेष्टा वालों द्वारा पागलपन में हँसने की सी चेष्टा करते हुए गाया जा रहा है। इन्हें सुनने से कोरी हँसी आती है और इनमें हास्य रस है।

करुण रस का स्थायी भाव शोक है। जिस इष्ट के नाश के कारण शोक हो रहा है, वही आलंबन है। उसके शव को देखना, उसका संस्कार करना आदि उद्दीपन विभाव हैं। अपने कर्म को कोसना, रोना, प्रलाप आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, मोह, ग्लानि, स्मृति, उन्माद आदि व्यभिचारी हैं। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक में करुण-रस विशेष रूप से आया है, उसी से एक छोटा-सा अवतरण दिया जाता है—

जाकी आयसु जग नृपति सुनतहि धारत सीस।
तेहि द्विज बटु आज्ञा करत अहह कठिन अति ईस॥

"जिसकी आज्ञा संसार के राजे सुनते ही सहर्ष शिर पर धारण करते थे उस पर आज साधारण विद्यार्थी बालक हुक्म चलाता है। हे दैव! आप अत्यंत कठोर हैं।" यहाँ राजा हरिश्चन्द्र स्वपत्नी के कष्टों का अनुभव करके दैव की निंदा कर रहे हैं। दुःखी महारानी शैव्या आलंबन, उनके कष्ट उद्दीपन तथा कर्म को कोसना अनुभाव हैं। स्मृति, ग्लानि आदि इसके व्यभिचारी हैं। राजा हरिश्चन्द्र को पुनः रानी से मिलने तथा उनके कष्टों को दूर कर पुनः महारानी बनाने की रत्ती भर आशा नहीं है, इसलिए यहाँ करुण रस ही है। यदि कुछ भी मिलने की आशा होती तो यहाँ करुण रस न होकर करुण विप्रलंभ शृंगार हो जाता।

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। शत्रु आलंबन तथा मुक्का चलाना, मार-काट करना, युद्ध के लिये घबड़ाना आदि चेष्टाएँ उद्दीपन हैं। क्रोध से ओठ चबाना, आँखें लाल करना, उग्रता आदि अनुभाव हैं। आक्षेप, व्यंग्य, घूरना, अमर्ष, मोह आदि संचारी हैं। एक उदाहरण लीजिए—

तोरि गदा सों हृदय दुष्ट दुस्सासन केरो।
तासों ताजो सद्य रुधिर करि पान घनेरो॥

ताही कर सों कृष्णा की बेनी बँधवाई ।
भीमसेन हीं सो बदलो लैहै चुकवाई ।।

इसमें दुश्शासन आलंबन है और उसे मार कर उसका रक्तपान तथा उस रक्त से द्रौपदी के वेणी बँधवाने के लिए घबराहट उद्दीपन है। क्रोध में हाथ-पैर चलाते हुए कहना अनुभाव है और इधर-उधर घूरना, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं।

भयानक रस का स्थायी भाव भय है। भय का कारण आलंबन, भयोत्पादक चेष्टाएँ उद्दीपन और विवर्णता, मूर्छा, कंप आदि अनुभाव होते हैं। त्रास, आवेग, आदि व्यभिचारी भाव हैं। देखिए—

ररुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि के नर-नारी ।
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी ।।
अंधकार बस गिरत काक अरु चील करत रव ।
गिद्ध-गरुड़-हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव ।।
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूंकि डरपावई ।
सँग दादुर झींगुर रुदन-धुनि, मिलि स्वर तुमुल मचावई ।।

इस अवतरण में भयोत्पादक वस्तुएँ अनेक हैं और ररना, फटफटाना आदि कई उद्दीप्तिकारक कार्य हो रहे हैं। हृदय में कंप उठना, विवर्ण होना अनुभाव हैं। इन सब के होने से भयानक रस पूर्णरूप से इस पद में व्याप्त है।

वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा, घृणोत्पादकवस्तु आलंबन, घृणित वस्तु के अत्यधिक घृणित होने वाले कार्य उद्दीपन, घृणा से मुख फेर कर थूकना आदि अनुभाव और आवेग, मोह आदि संचारी हैं। एक उदाहरण दिया जाता है।

सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत ।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनंद उर धारत ।।
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै माँस उचारत ।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खान बिचारत ।।
कहुँ चील नोचि लै जात तुच मोह बढ्यो सबको हिय ।
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो ।।

आलंबन शव को देख कर स्थायीभाव जुगुप्सा उद्बुद्ध हो उठती है। शरीर की दुर्दशा देख कर उसकी उद्दीप्ति होती है। मुख फेर लेना अर्थात विचारों को उस ओर से हटाकर दूसरी ओर ले जाना अनुभाव है। मोह संचारी है।

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है, आलंबन आश्चर्यजनक वस्तु है और उद्दीपन

अलौकिकता का वर्णन है, अनुभाव स्तंभ, स्वेद, रोमांच आदि हैं और भ्रांति, हर्ष आदि संचारी हैं। उदाहरण लीजिए—

> चलै मेरु बरु प्रलय जल पवन झकोरन पाय।
> पै बीरन के मन कबहुँ चलहिं नहीं ललचाय॥

'सत्य-हरिश्चन्द्र' में जब कापालिक रूप में धर्म ने राजा हरिश्चन्द्र को रसेन्द्र देना चाहा था तब उनके इस कथन पर कि "जब मैं दूसरे का दास हो चुका तो इस अवस्था में मुझे जो कुछ मिले सब स्वामी का है। क्योंकि मैं तो देह के साथ ही अपना स्वत्व मात्र बेंच चुका"—वह अत्यंत आश्चर्यान्वित होकर कहता है कि "चाहे मेरु पर्वत प्रलय के आँधी पानी से झटके पाकर चलने लगे तो चले, पर सत्य-वीरों का मन कभी चलायमान नहीं होता।" यहाँ धर्म का विस्मय स्थायी भाव है। हरिश्चन्द्र का रसेन्द्र न लेना आलंबन है। न लेने का कारण परदासता बतलाना उद्दीपन है। धर्म का इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र की महिमा का वर्णन करना अनुभाव है।

शांत रस का स्थायी भाव शम है। संसार की असारता तथा परमेश्वर का स्वरूप आलंबन और तीर्थयात्रा, सत्संग, मंदिर आदि उद्दीपन हैं। रोमांच आदि अनुभाव और निर्वेद, हर्ष, स्मृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। उदाहरण—

> ब्रज के लता पता मोहिं कीजै।
> गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै॥
> आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै।
> श्री राधे राधे मुख, यह बर मुँह माँग्यो हरि दीजै॥

यह पद श्रीनारद जी ने श्रीशुकदेव जी के ब्रजभूमि के विषय में पूछने पर गाया था। सांसारिक झंझटों से मन हटकर श्रीकृष्ण भगवान तथा श्री राधिका जी के प्रति लगे, इसलिए ब्रज का लता-पता होने की इच्छा ही शम स्थायी भाव है। इसका आलंबन युगल-मूर्ति श्रीराधा-कृष्ण हैं। तीर्थयात्रा (ब्रजयात्रा) और श्रीशुकदेव जी का सत्संग उद्दीपन हैं। स्मृति, हर्ष, निर्वेद संचारी भाव हैं और रोमांच, नेत्र में आँसू तथा प्रेमावस्था अनुभाव हैं, जिनसे इस रस का परिपाक पूर्णरूपेण होना स्पष्ट है।

इन नव रसों के सिवा, जैसा लिखा जा चुका है, भारतेन्दु जी ने वात्सल्य, सख्य, भक्ति या दास्य, आनंद या प्रमोद और प्रेम या माधुर्य पाँच नव्य रसों की कल्पना की है। "योंही शृङ्गार रस में भी ये अनेक सूक्ष्म भेद मानते थे, जैसे ईर्ष्या-मान के दो भेद, विरह के तीन, शृङ्गार के पंचधा, नायिका के पाँच और [illegible]

गर्विता के आठ; यों ही कितने ही सूक्ष्म विचार हैं जिनको तर्करत्न महाशय ने सोदाहरण इनके नाम से अपने उक्त ग्रन्थ में मानकर उद्धृत किए हैं। इनके इन नए-नए मतों पर उस समय पंडित-मंडली में बहुत कुछ लिखा-पढ़ी हुई थी, इसका आंदोलन कुछ दिनों तक सुप्रसिद्ध 'पंडित' पत्र में (जो 'काशी विद्या-सुधानिधि' के नाम से संस्कृत कॉलेज से निकलता है) चला था। खेद का विषय है कि इस विषय का पूरा निराकरण वह अपने किसी ग्रंन्थ में न कर सके।"

अलंकार

विभावों को पाकर भावों का जो स्वाभाविक उद्रेक होता है, उसका प्रत्यक्षीकरण अनुभावों द्वारा होता है। इसी प्रकार से रसपुष्ट काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म अलंकार कहलाते हैं, जिन्हें अस्थिर भी कहा गया है। जिस प्रकार मनुष्य के गुण स्थिर होते हैं, पर उसके अलंकरण (गहने) अस्थिर होते हैं उसी प्रकार काव्य के भी गुण तथा अलंकार होते हैं। अलंकार के दो भेद होते हैं। काव्य के शब्द तथा अर्थ दोनों शरीर हैं इसी लिए शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दो भेद हो गए। शब्दों में चमत्कार उत्पन्न करने वाले अनुप्रास, यमक आदि अलंकार तभी तक सुन्दर ज्ञात होते हैं जब तक वे बिना प्रयास के आपसे आप सहज ही आ जाते हैं पर जब जबरदस्ती अकारण ऐसे अलंकारों की भरती की जाती है तब व भूषण नहीं रह जाते। अर्थालंकार काव्य के भावों की अनुभूति को तीव्र करने या वर्णित वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया आदि का उत्कर्ष दिखलाने में सहायक होते हैं। यदि वे ऐसा न कर सकें तो वे अलंकार न होकर भार-मात्र हो जाते हैं। अलंकार अलंकार ही है, वह कोई विलक्षण अज्ञेय आश्चर्यजनक तिलस्मी वस्तु नहीं है, इसलिए उसका चमत्कार या उसकी रमणीयता काव्यांगों की शोभा ही बढ़ाना है और अन्य कुछ नहीं है।

महाराज हरिश्चन्द्र स्त्री-पुत्र के विरह से दुखी तथा राजोचित सभी सुखों से वंचित थे ही, उस पर छायारहित श्मशान-घाट पर वर्षा भी जोर-शोर से होने लगी। इस पावस का असर स्वभावतः दुःखी हृदय के कष्ट को अधिक करना ही मात्र था। पावस की सारी शोभा उन्हें श्मशानवत् दृष्टिगोचर हुई। उन्होंने पावस की शोभा का जो वर्णन किया है, वह उनके हृदयस्थ भाव का पूर्ण द्योतक है। विद्युन्माला की चमक चिता की लपटें, खद्योतगण चिनगारी, बगुलों की माला ऊपरी श्वेत लपट, काले बादल काली भूमि, बीरबहूटी रक्तबिंदु, जलधार अश्रुधारा और दादुर की रट दुःखी संबंधियों का रुदन ज्ञात होता है। अर्थात् वियोगियों के

कष्ट को बढ़ाने के लिए यह पापी पावस श्मशान-सा बनकर आया है। उत्प्रेक्षा-युक्त सांग रूपक कितना सुन्दर बना है, जिससे भाव की अनुभूति तीव्र होती है और वर्णित विषय का भी उत्कर्ष बोध होता है। कवित्त इस प्रकार है—

चपला की चमक चहूँधा सों लगाई चिता,
चिनगी चिलक पटबीजना चलायो है।
हेती बगमाल स्याम बादर सु भूमि कारी,
बीरबधू लहू बूंद भुव लपटायो है॥
'हरीचन्द' नीर-धार आँसू सी परत जहाँ,
दादुर को सोर रोर दुखिन मचायो है।
दाहन बियोग दुखियान को मरे हूँ यह,
देखो पापी पावस मसान बनि आयो है॥

एक और रूपक लीजिए। विरहिणी श्रीचंद्रावली जी से उनकी सखियाँ हिंडोला पर झूलने के लिये आग्रह कर रही हैं। दुःखी हृदय को यह सब खेल कहाँ सुहाता है! वह कहती हैं कि "मेरा जी हिंडोरा पर और उदास होगा"। उनके तो नेत्र आप ही आप हिंडोले झूलते रहते हैं। पूरे हिंडोले का रूपक खड़ा कर दिया गया है। वर्षा भी मौजूद है तथा मलार का भी आलाप हो रहा है।

पल पटुली पै डोर प्रेम की लगाय चारु,
आसा ही के खंभ दोय गाड़ कै धरत हैं।
झुमका ललित काम पूरन उछाह भर्यो,
लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं॥
'हरीचन्द' आँसू दृग नीर बरसाइ प्यारे,
पिया गुन-गान सो मलार उचरत हैं।
मिलन मनोरथ के झोंटन बढ़ाइ सदा,
बिरह हिंडोरे नैन झूल्योई करत हैं॥

किसी दानवीर सज्जन की दुर्दशा का वृत्त सुनिए। यथाशक्ति दान करते हुए वह कितने प्रकार के कष्ट सहता है और उससे लाभ उठाने वाले उसका क्या प्रतीकार देते हैं, इसे वृक्ष पर घटा कर कवि इस प्रकार कहता है—

क्यौं उपज्यौ नरलोक? आम के निकट भयो क्यौं?
सघन पात सों सीतल छाया दान दयो क्यौं?

मीठे फल क्यौं फल्यौ ? फल्यौ तो नम्र भयो कित ?
नम्र भयो तो सहु सिर पै बहु बिपति लोक कृत ॥
तोरि मरोरि उपारिहैं पाथर हनिहैं सबहि नित ।
जे सज्जन ह्वै नै कै चलहिं तिनकी यह दुर्गति उचित ॥

इसके उत्तर में घन की अन्योक्ति की जाती है कि सब कुछ दे देने पर भी मेघ की बड़ाई है। दानी प्रतिफल नहीं चाहता, उसे दान देने ही में सुख मिलता है। कवि कहता है—

चातक को दुख दूर कियो पुनि दीनो सबै जग जीवन भारी।
पूरे नदी-नद ताल-तलैया किए सब भाँति किसान सुखारी ॥
सूखे हू रूखन कीने हरे जग पूज्यौ महामुद दै निज बारी।
हे घन आसिन लौं इतनी करि रीते भए हू बड़ाई तिहारी ॥

वृक्ष और मेघ पर अन्योक्तियाँ कहकर दानी ही की प्रशंसा की गई है और इनमें अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार भावों की व्यंजना का पूर्वोत्कर्ष करता है।

भ्रमर आम की बौर देखकर लोभ के मारे उसी पर बौराया हुआ मंडरा रहा है। यहाँ भ्रमर के बहाने प्रिय में प्रिया-प्रति प्रीति पैदा होने का कथन किया गया है, इसलिए समासोक्ति है। पद है—

भौंरा रे बौरान्यो लखि बौर ।
लुब्धयौ उतहि फिरत मँडरान्यौ जात कहूँ नहिं और ॥

तपस्वी सत्यवान को बन में देखकर उसके सौंदर्य पर सभी मोहित हो जाती हैं और कहती हैं कि—

लखो सखि भूतल चन्द खस्यो ।
राहु-केतु-भय छोड़ि रोहिनिहि या बन आइ बस्यो ॥
कै सिव-जय-हित करत तपस्या मनसिज इत निबस्यो ।
कै कोऊ बनदेव कुञ्ज में बन बिहार बिलस्यो ॥

इसमें संदेहालंकार द्वारा सत्यवान के सौंदर्य का तथा उसके रूप का अतीव अनुरंजक वर्णन किया गया है। रूप का अनुभव तीव्र करने में यह अलंकार हर पहलू से सहायक हो रहा है।

ऊधो जी ज्ञान छाँट रहे हैं पर ब्रजबालाओं पर उसका कुछ भी असर नहीं हो रहा है। श्याम की खरी प्रीति के आगे इनकी शिक्षा कौन मानता है ? सारी

मंडली ही बिगड़ गई है। एक हो तो उसे कोई सिखलाए यहाँ तो सब की सब मदमस्त हैं। एक नहीं दो लोकोक्तियाँ साधारण कथन को अलंकृत कर रही हैं। सुनिए—

ऊधो जू सूधो गहो वह मारग ज्ञान की तेरे जहाँ गुदरी है।
कोऊ नहीं सिख मानिहैं ह्याँ इक श्याम की प्रीति प्रतीति खरी है॥
ये बृजबाला सबै इक सीं 'हरिचन्द जू' मण्डली ही बिगरी है।
एक जौ होय तो ज्ञान सिखाइए कूप ही में यहाँ भाँग परी है॥

जब कुछ विशेष अभिप्राय लिए हुए विशेषण का प्रयोग किया जाता है तब उसे परिकर अलंकार कहते हैं। 'सुजान' अर्थात् अच्छे जानकार, खूब जानने वाले कहलाकर भी दूसरों के मन की पीड़ा नहीं जानते। यहाँ सुजान शब्द साभिप्राय है और कुल पद को चमत्कृत करता है—

लै मन फेरिबो जानौ नहीं बलि नेह निबाह कियो नहिं आवत।
हेर कै फेरि मुखै 'हरिचन्द जू' देखन हूँ को हमैं तरसावत॥
प्रीत पपीहन को घन साँवरे पानिप रूप कबौं न पिआवत।
जानौ न नेक बिथा पर की बलिहारी तऊ हौ सुजान कहावत॥

प्रेम

जेहि लहि फिर कछु लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय॥

प्रेम एक मनोवृत्ति या भाव है, जो जीवमात्र में स्थायी रूप से रहता है। यह विकार है, जो किसी अन्य जीव, वस्तु आदि के देखने से या उसके गुण-श्रवण करने से या इसी प्रकार के किसी दूसरे साधन से हमारे हृदय में उद्बुद्ध होता है और हम उससे विलग रहना नहीं चाहते। जिस वस्तु पर हमारा प्रेम हो जाता है उस वस्तु को हम सदा अपने पास रखना चाहते हैं या उसके पास रहना चाहते हैं। यदि ऐसा हम कर सकते हैं तो हम संतुष्ट रहते हैं और यदि नहीं कर सकते हैं तो हमें अतीव कष्ट होता है। इस प्रेम के अनेक प्रकार के भेद हो सकते हैं। प्रेम एकांगी तथा पारस्परिक दोनों होता है। यदि हमारे प्रेम-पात्र का भी हम पर प्रेम है तो वह पारस्परिक है, नहीं तो वह एकांगी ही रह जायगा। प्रेम उत्तम, मध्यम तथा अधम भी होता है। एक रस रहने वाला निःस्वार्थ प्रेम, जो भक्ति में बदल जाता है, पहला है। मित्रता आदि अकारण प्रेम दूसरा है। स्वार्थमय

प्रेम अंतिम है पर इसे वास्तव में ऐसा पवित्र नाम न देना ही उचित होगा। इन सब भेदों के सिवा भी यह कहना उचित होगा कि प्रेम अत्यन्त व्यापक शब्द है जिसके अंतर्गत दांपत्यप्रेम, देशप्रेम, ईश्वरोन्मुख प्रेम, वात्सल्य स्नेह आदि सभी आ सकते हैं।

'परम प्रेमनिधि रसिकवर' भारतेन्दु जी उसी को सच्चा आदर्श प्रेम मानते हैं जो एकांगी, अकारण, निःस्वार्थ, सदा समान रूप से रहने वाला और पति ही को सर्वस्व मानने वाला हो। सुनिए—

एकांगी बिनु कारने इक रस सदा समान।
प्रियहिं गनै सरवस्व जो सोई प्रेम समान॥

प्रेम का महत्त्व भी कवि इस प्रकार प्रकट करता है कि—

बँध्यौ सकल जग प्रेम में, भयो सकल करि प्रेम।
चलत सकल लहि प्रेम को, बिना प्रेम नहिं छेम॥

भारतेन्दु जी ने अपनी कविता में जिस प्रेम का अधिक वर्णन किया है वह दांपत्य प्रेम के अंतर्गत होते हुए भी ईश्वरोन्मुखी है। कुछ कविता कोरी सांसारिक प्रेम की भी है। इनके मौलिक नाटकों में शुद्ध शृङ्गारिक एक भी नहीं है, जिससे इनके दांपत्य-प्रेम की पद्धति का कुछ पता लगे। स्फुट कविताएँ प्रेम-विषयक बहुत हैं पर इनमें विषय-वासनादि से लिप्त साधारण पद बहुत कम हैं।

रसराज शृङ्गार का स्थायी भाव प्रेम है और इसी प्रेम के कारण ही शृङ्गार रसराज कहलाया है। यह प्रेम सत्य, स्थायी, अत्यंत व्यापक तथा आकर्षक है। यही प्रेम दो हृदयों को एक कर देता है, इसी प्रेम के कारण संसार की सभी वस्तुओं का आदर होता है, और अंत में इसी प्रेम के सहारे जीव ईश्वर में लीन हो जाते हैं। शृङ्गार रस के देवता श्रीकृष्ण इस प्रेम के आधार हैं और इनके प्रति गोपियों तथा विशेषकर श्रीराधिका जी का जो प्रेम है उसको लेकर जो कविता शुद्ध हृदय से भक्त कवियों द्वारा की गई है, वह अत्यंत पावन है या यों कहा जाय कि पतितपावन है। श्रीकृष्ण जी में शक्ति तथा शील के साथ सौंदर्य, प्रेम, ज्ञान आदि का भी पूर्ण विकास हुआ था। इनमें माधुर्य की अधिकता थी और यह वृन्दावन, गोकुल आदि में प्रजा के साथ-साथ, घर-घर और वन-वन सुख तथा दुःख में रहकर सबसे ऐसे मिल गए थे कि यह वहाँ सर्वप्रिय हो उठे थे। यही कारण था कि इनके मथुरा चले आने पर स्त्री, बालक, पुरुष का क्या कहना, गायें, पशु-पक्षी तक इनके लिये दुःखित हुए थे। मथुरा में कंस को मारने पर स्वयं

राज्य न लेकर मंत्री तथा सरदार ही बने रहे। महाभारत से विध्वंसकारी महायुद्ध में पांडवों को पार लगाने वाले होकर भी सारथी बने रहे। इसी युद्ध में ज्ञान, दया तथा शक्ति का अति उज्ज्वल प्रभाव दिखलाया है। ऐसे ही नायक पर पूर्ण भक्ति रख कर की गई कविता का हिंदी साहित्य में विशेष स्थान है।

एक हृदय दूसरे को देख कर प्रेम-बिद्ध हो गया है और वह सहृदया अपनी दशा अपनी एक सखी से कह रही है। यद्यपि वह "उनके मन की गति" नहीं जानती, वह उसे प्यार करते हैं या नहीं, यह ज्ञात नहीं है तब भी वह निःस्वार्थ रूप से उन पर प्रेम रखती है। एकांगी ही प्रेम हो या न हो पर वह प्रेम करने वाली उसका कुछ न ध्यान कर तन-मन-सर्वस्व उन पर निछावर कर रही है। उसके प्रत्येक अंग इस प्रेम से प्लावित हो रहे हैं, वह "प्रेम-रस-मग्न" हो रही है। वह कहती है--

सखी हम कहा करैं कित जायँ ?
बिनु देखे वह मोहिनि मूरति नैना नाहिं अघायँ ॥१॥
कछु न सुहात धाम धन गृह सुख मात पिता परिवार।
बसत एक हिय मैं उनकी छबि नैनन वही निहार ॥२॥
बैठत उठत सयन सोवत निसि चलत फिरत सब ठौर।
नैनन में वह रूप रसीलो टरत न इक पल और ॥३॥
हमरे तो तन मन धन प्यारे मन बच क्रम चित माहिं।
पै उनके मन की गति, सजनी, जानि परत कछु नाहिं ॥४॥
सुमिरन वही, ध्यान उनको ही, मुख मैं उनको नाम।
दूजी और नाहिं गति मेरी, बिनु पिय और न काम ॥५॥
नैना दरसन बिनु नित तलफैं, बैन सुनन को कान।
बात करन को मुख तलफैं, गर मिलिबे को ये प्रान ॥६॥

ईश्वरोन्मुख प्रेम

"जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप से आप खुल जाता है, वह किसी को नहीं मिली।" "इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है और कोई क्या पियेगा ? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकतीं, धन्य है, धन्य है, और दूसरा कौन ऐसा है ? नहीं, नहीं ब्रज की गोपियों ने इन्हें भी जीत लिया

है। अहा, इनका कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय है क्योंकि जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है, वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता।'' भक्ति में माहात्म्य-ज्ञान तथा प्रेम दोनों ही होने चाहिएँ।

भक्तितत्व की विवेचना करने के पहले भक्ति के विकास पर कुछ विचार करना जरूरी है। मानव जाति आदिम काल में बड़े-बड़े नगर बसा कर नहीं रहती थी प्रत्युत् कुछ परिवार एक स्थान पर बस जाते थे और कृषि तथा पशु-पालन कर जीवन-निर्वाह करते थे। खेती, पशु तथा मनुष्य संबंधी अनेक प्रकार के कष्ट भी इन्हें झेलने पड़ते थे। ये सभी कष्ट अपनी ही कृति के परिणाम न थे, इसलिये वे किसी परोक्ष शक्ति द्वारा प्रेरित माने जाने लगे और उस शक्ति के प्रति इनमें भय की उत्पत्ति हुई। तब ऐसी शक्ति की अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल भावनाएँ की गईं और उन्हें तुष्ट रखने के लिये बलिदान आदि देकर वे उन्हें पूजने लगे। प्रेतपूजा, नागपूजा आदि उसी आदिम काल के उपासना के द्योतक हैं। इसके अनंतर केवल दु:ख ही दूर करना ध्येय नहीं रह गया वरन् अधिक सुख पाने की इच्छा मनुष्यों में उत्पन्न हुई। वर्षा के कृषि को लाभ पहुँचता है, इसलिये उसके देवता इन्द्र की भावना की गई। जलदेवता वरुण, धनदेवता कुबेर, स्वयं प्रकाशमान् प्रत्यक्ष देव सूर्य आदि की उपासना इस लाभ के लोभ से की जाने लगी कि वे प्रसन्न होकर अपने भक्तों को सब प्रकार से लाभ पहुँचावें। इस तरह देखा जाता है कि दो प्रकार के देवताओं की भावना की गई, जिनमें कुछ अनिष्टकारक और कुछ इष्ट लाभदायक थे। यह भावना बहुत दिनों तक या यों कहिए कि अब तक बनी हुई है।

मानव जाति में यह धारणा बहुत दिनों तक बनी रही कि देवगण पूजा पाने से प्रसन्न और न पाने से अप्रसन्न होते हैं तथा वे अपने पूजकों के सुकर्मों और कुकर्मों पर विचार नहीं करते। साथ ही इस प्रकार देवताओं की संख्या में वृद्धि होते-होते यह भी भावना उठने लगी थी कि इन सबसे भी बड़ा, या इन सब का मुखिया, कोई अव्यक्त अचिंत्यादि गुणों से विभूषित कोई परब्रह्म परमेश्वर भी होगा जिससे ये देवगण अपनी-अपनी शक्ति पाते होंगे। यह भावना निर्गुण ज्ञानमार्ग की थी, जिसकी उपासना करना साधारण जनसमुदाय की शक्ति के बाहर था। वे देखते थे कि मनुष्य की उत्पत्ति होती है, उसका पालन होता है और अंत में उसका नाश होता है। उस निर्गुण परब्रह्म को इन तीनों कार्यशक्तियों से युक्त समझकर उसके तीन सगुण रूपों की भावना की गई और उसका ध्यान स्रष्टा रूप में ब्रह्मा,

पालक रूप में विष्णु तथा संहारक रूप में शिव नामकरण किया जाने लगा। उसी आदिम काल की भावना की प्रबलता ने भय के कारण शिव की तथा लाभार्थ विष्णु के उपासना की ओर जनसमुदाय को विशेष आकृष्ट किया था।

समय के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था उन्नत होती जा रही थी, ग्राम-नगर बस रहे थे और विचारों के आदान-प्रदान बढ़ रहे थे। समाज में एक ओर दुष्ट आततायियों की नृशंसता, अत्याचार आदि दृष्टिगोचर हो रहे थे तो दूसरी ओर ऐसे क्रूरों का नाश कर लोक-रक्षा करने वाले आदर्श वीर भी अवतरित होते पाए जाते थे। ऐसे आदर्श वीरों में दया, उदारता, शील, शक्ति आदि लोक-रक्षक उदात्त वृत्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति पाकर जनता उन पर ऐसी मुग्ध हुई कि उसने उन्हें परब्रह्म के लोक-पालक सगुण-रूप विष्णु का अंश मान लिया। लोक-पालक विष्णु ही इष्टदेव हुए, जिनमें मानव-मंगल की समग्र आशाएँ केन्द्रीभूत हो उठीं। ये ही बार-बार लोकरक्षा के लिये असाध्य नृशंस राक्षसों का संहार करने को इस पृथ्वी पर आते दिखलाई पड़ने लगे और इनके ऐसे ही अनेक अवतारों में श्रीरामचंद्र और श्रीकृष्णचंद्र ही वैष्णवों के विशेष प्रिय उपास्य-देव हुए। इसका कारण यही है कि इन दोनों महान् आत्माओं ने मानव समाज में मिलकर उसको अपने स्थितिविधायक धर्म, शील तथा अन्य गुणों से एकदम मुग्ध कर लिया था। इनके प्रति मनुष्यों के हृदय में जो प्रेमभाव भर उठा था वह 'माहात्म्य-ज्ञान' अर्थात् उपासना बुद्धि से मिलकर भक्ति में परिवर्तित हो उठा। यही कारण है कि भक्ति का पूर्ण विकास वैष्णवों ही में हुआ है।

वैष्णव-संप्रदाय के दो मुख्य विभाग हो गए, एक कृष्णोपासक तथा दूसरा रामोपासक। श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने बंग देश में तथा श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु ने पश्चिमोत्तर प्रांत में कृष्ण भक्ति-भाव को प्रवाहित कर जनसाधारण के निराशा-मय खाली हृदयों को आशा तथा आनंद से परिपूर्ण कर दिया। अष्टछाप के सुकवियों तथा अन्य भक्तजनों की वीणाओं की स्वर-लहरी भी उनके हृदयों को तरंगित करने लगी। इन महात्माओं ने बालमुकुंदोपासना ही का विशेषतः प्रचार किया था पर ब्रजलीला के समग्र प्रेम की आधारभूता श्रीराधिका जी की उपासना अवश्यंभावी थी, इसी लिए आज तक कृष्णोपासकगण या तो बालगोपाल की या युगलमूर्त्ति की पूजा करते आए हैं।

भारतेन्दु जी तदीय नामांकित अनन्यवीर वैष्णव थे और इनके यहाँ युगलमूर्त्ति की सेवा होती आई थी। इन्होंने तदीयसर्वस्व में श्री नारदीय-सूत्र की व्याख्या करते हुए भक्ति का बहुत ही अच्छा प्रतिपादन किया है। इसके समर्पण में अपने

इष्टदेव श्रीकृष्ण के प्रति कह रहे हैं कि "जीवन का परम फल तुम्हारा अमृतमय प्रेम है, यदि वही नहीं तो फिर यह क्यों ? क्या संसार में कोई ऐसा है जिससे प्रेम करें। जो फूल आज सुन्दर कोमल हैं और जो फल आज सुस्वादु हैं, पर कल न इनमें रंग है न रूप न स्वाद, सूखे गले मारे मारे फिरते हैं, भला उनसे अनुराग ही क्या ? प्रेम को तो हम चिरस्थायी किया चाहें यहाँ प्रेमपात्र ही स्थायी नहीं। तो चलो, बस हो चुकी फिर इनसे प्रीति का फल हो क्या ? फल शब्द से आप कोई वांछा मत समझियेगा। प्रेम का यह सहज स्वभाव है कि वह प्रत्युत्तर चाहता है सो यहाँ दुर्ल्लभ है। हमने माना कि ऐसे सत् लोग हैं जो प्रेम का प्रत्युत्तर दें, वह भी तो परिणाम दुःख स्वरूप ही है। 'संयोगास्त्वप्रयोगान्ताः' कहा ही है। तो जिसके परिणाम में दुःख है वह वस्तु किस काम की। फिर उस दुःख में जीवन की कैसी बुरी दशा होगी। तो ऐसे प्रेम ही से क्या और जीवन ही से क्या ? इसी से न कहा है 'जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिर जहाज पर आवै'। और जाय कहाँ। तो देखो संसार से वह कितना उदासीन है जिसको तुम्हारे प्रेम का लेश भी है। तो नाथ ! जो फिर उस उत्तम जीव को इसी संसार के पंक में फँसाओ तो कैसे बने। हमने माना कि हमारी करनी वैसी नहीं। हाय ! भला यह किस मुँह से और कौन कह सकता है कि हम इसके योग्य हैं पर अपनी ओर देखो। नाथ ! अब नहीं सही जाती। कृत्रिम प्रेम-परायण और स्वार्थपर संसार से जी अब बहुत ही घबड़ाता है। सब तुम्हारे स्नेह के बाधक ही हैं, साधक कोई नहीं, और जो स्वार्थपर नहीं हैं वे बिचारे भी क्या हैं कि कुछ सन्तोष देंगे। हाय ! क्या करें। हार करके स्नेह करके जैसे हो वैसे तुम्हारे ही शरण जाते हैं और वहाँ से भी दुरदुराए जाँय तो फिर क्या करें।"

इनका अनन्य प्रेम बहुत चढ़ा हुआ था। अपने 'गोपाल' की मूर्त्ति का कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

सकल की मूलमयी वेदन की भेदमयी,
ग्रंथन की तत्त्वमयी बादन के जाल की।
मन बुद्धि सीमामयी सृष्टिहु की आदिमयी,
देवन की पूजामयी जीवमयी काल की ॥
ध्यानमयी ज्ञानमयी सोभामयी सुखमयी,
गोपी-गोप-गाय-व्रज-भागमयी भाल की।
भक्त-अनुरागमयी राधिका-सुहागमयी,
प्राणमयी प्रेममयी मूरत गोपाल की ॥

और फिर कहते हैं कि यदि संसार में हमें कुछ करना है तो वह सब 'गोपाल' ही के निमित्त है। सुनिए—

> भजौं तो गोपाल ही को सेवौं तो गुपालै एक,
> मेरो मन लाग्यो सब भाँति नन्दलाल सों।
> मेरे देव देवी गुरु माता पिता बन्धु इष्ट,
> मित्र सखा हरि नातो एक गोप बाल सों॥
> 'हरीचंद' और सों न मेरो सनबन्ध कछू,
> आसरो सदैव एक लोचन बिसाल सों।
> माँगौं तो गुपाल सों न माँगौं तो गुपाल ही सों,
> रीझौं तो गुपाल पै औ खीझौं तो गुपाल सों॥

सत्य ही इस अनित्य संसार के एक भी सम्बन्ध अंत में काम नहीं आते हैं और यह बड़ा ही क्रूर सत्य है। यह वह बात है कि प्रत्येक जीव उसे जानते हुए भी भयादि कारणों से उसे न जानने का स्वाँग करता है—

> द्वारहिं पै लुटि जायगो बाग औ आतिशबाजी छिनै में जरैगी।
> ह्वै हैं बिदा टका लै हय हाथिहु खाय पकाय बरात फिरैगी॥
> दान दै मात-पिता छुटिहैं 'हरिचंद' सखीहु न साथ करैगी।
> गाय बजाय जुदा सब ह्वै हैं अकेली पिया कै तू पाले परैगी॥

इस अनन्यता से यह तात्पर्य नहीं है कि भारतेन्दु जी में हठधर्मी थी। 'हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैनमन्दिरम्' के रहते भी वे ऐसे मंदिर में गए थे और शोर-गुल मचाने पर 'जैनकुतूहल' ही लिख डाला। 'सियाराममय' के भाव में कहते हैं—

> बात कोउ मूरख की यह मानो।
> हाथी मारै तौ हू नाहीं जिन मन्दिर में जानो॥
> जग में तेरे बिना और है दूजो कौन ठिकानो।
> जहाँ लखो तहाँ रूप तुम्हारो नैनन माहिं समानो॥
> एक प्रेम है, एकहि प्रन है हमरो एकहि बानो।
> 'हरीचंद' तब जग में दूजो भाव कहाँ प्रगटानो॥

इनका प्रेम सर्वतोमुखी था। धर्म की व्याख्याएँ करते हुए भी यह देश को नहीं भूले। 'वैष्णवता और भारतवर्ष' में धर्म की प्राचीनता स्थापित करते हुए अंत

में लिखते हैं कि "उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है उसको कार्यक्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं। वैष्णव, शैव, ब्राह्म, आर्यसमाजी सब अलग अलग पतली-पतली डोरी हो रहे हैं इसी से ऐश्वर्यरूपी मस्त हाथी उनसे नहीं बँधता। इन सब डोरी को एक में बाँध कर मोटा रस्सा बनाओ, तब यह हाथी दिगदिगंत भागने से रुकैगा। अर्थात् अब वह काल नहीं है कि हम लोग भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकाया करैं। अब महाघोर काल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अँगरेजों से जो नौकरी बच जाती है उन पर मुसलमान आदि विधर्मी भरती होते जाते हैं। आमदनी वाणिज्य की थी नहीं, केवल नौकरी की थी, सो भी धीरे-धीरे खसकी। तो अब कैसे काम चलेगा। हिन्दू नामधारी वेद से लेकर तंत्र वरंच भाषा ग्रन्थ मानने वाले तक, सब एक होकर अब अपना परम धर्म यह रक्खो कि आर्य जाति में एका हो। इसी में धर्म की रक्षा है। भीतर तुम्हारे चाहे जो भाव और जैसी उपासना हो ऊपर से सब आर्य मात्र एक रहो। धर्म संबंधी उपाधियों को छोड़कर प्रकृत धर्म की उन्नति करो।"

देश-प्रेम

जैसा लिखा जा चुका है, भारतेन्दु जी ने देश-काल-समाज के अनुसार पद्य-साहित्य क्षेत्र को भी, केवल प्राचीन रूढ़िगत विषयों ही में संकुचित न रख कर, अनेक नए-नए क्षेत्र जोड़कर अधिक विस्तृत किया था। इन सभी नए-पुराने क्षेत्रों में देशभक्ति के रंग ही का प्राधान्य था। राजभक्ति, लोकहित, समाज-सेवा सभी में देशभक्ति व्याप्त थी या यों कहा जाय कि इनकी देशभक्ति मूल थी तथा राजभक्ति, लोक-हित, मातृभाषा-हितचिंतन आदि उसी की शाखा-प्रशाखाएँ थी। भारतेन्दु जी ने स्वदेश के लिये तन-मन-धन सभी कुछ अर्पित कर दिया था और देश ही की चिंता में सदा व्यग्र रह कर इन्होंने अपना छोटा-सा जीवन बिता दिया था। "भारतवर्ष के पुरावृत्त के प्रारम्भ काल से आज तक जो बड़े-बड़े दृश्य यहाँ बीते हैं और जो महायुद्ध, महाशोभा और महादुर्दशा भारतवर्ष की हुई है उनके चित्र नेत्र के सामने लिख जाते हैं।" यही कारण है कि उनकी समग्र कृति में देश के प्रति उनका जो प्रेम था वह किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता रहता है। भारत की करुण कथा के तीन स्पष्ट विभाग हैं और इन तीनों की भारतेन्दु जी ने जो मार्मिक व्यंजना की है उसे पढ़ कर सहृदयों के हृदय में अतीत के प्रति गर्व, वर्तमान के लिये क्षोभ और भविष्य के लिए मंगलकामना एक के बाद दूसरी उठ कर उन्हें

उद्वेलित कर देती है। इतिहास, नाटक, काव्य सभी में इन्होंने देश-दशा पर जो कुछ कहा है उनके एक-एक शब्द इनके हृदय-रक्त से रंजित है।

किसी स्थान-विशेष की दुर्दशा का वर्णन तभी किया जा सकता है जब वह उस कुदशा को प्राप्त होने के पहले बहुत ही समुन्नता अवस्था में रहा हो। भारत पहले कितनी उन्नत अवस्था में था, इसका कवि ने बहुत उदात्त-पूर्ण वर्णन किया है पर साथ ही ध्यान रहे कि वह सब कविता भारत की दुर्दशा देखकर कवि के दग्ध हृदय से निकली है। कवि कहता है "हा ! यह वही भूमि है जहाँ साक्षात् भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के दूतत्व करने पर भी वीरोत्तम दुर्योधन ने कहा था 'शूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव' और आज हम उसी भूमि को देखते हैं कि श्मशान हो रही है। इसी भाव से देशभक्त कवि मर्माहत हो रहा है, उसका भारत की प्राचीन अवस्था का वर्णन करना मानो जले हुए दिल के फफोले फोड़ना है। देखिए—

ये कृष्ण-बरन जब मधुर तान।
करते अमृतोपम वेद-गान॥
तब मोहत सब नर-नारि-बृन्द।
सुनि मधुर बरन सज्जित सुछंद॥
जग के सबहीं जन धारि स्वाद।
सुनते इनहीं को बीन नाद॥
इनके गुन होतो सबहि चैन।
इनहीं कुल नारद तानसेन॥
इनहीं के क्रोध किये प्रकास।
सब काँपत भूमण्डल अकास॥
इनहीं के हुंकृति शब्द घोर।
गिरि काँपत है सुनि चार ओर॥
जब लेत रहे कर में कृपान।
इनहीं कहँ हो जग तृन समान॥
सुनि कै रनबाजन खेत माहिं।
इनहीं कहँ हो जिय संक नाहिं॥

प्रथम पंक्ति का 'कृष्ण-बरन' कितने अर्थों से गर्भित है और कैसा क्षोभ-पूर्ण है। ये काले हैं, ऐसा कह कर आज हमें घृणा की दृष्टि से देखते हो। पर इन्हीं कृष्णकाय

पुरुषों के दिग्विजय से पृथ्वी किसी समय थर्रा उठती थी, कपिलदेव, बुद्ध आदि इसी वर्ण के थे और भास, कालिदास, माघ आदि कविगण भी काले-कलूटे थे। इन लोगों के विजय-यात्रा-वर्णन, उपदेश तथा काव्यामृत काले ही अक्षरों में लिखे जाते हैं, पर फल क्या ? आज—

हाय वहै भारत भुव भारी। सबहीं बिधि सों भयो दुखारी ॥

भारत का स्वातंत्र्य-सूर्य पृथ्वीराज चौहान के साथ-साथ अस्त हो गया और यह देश दूर देश से आए यवनों से पदाक्रांत होकर परतंत्रता की बेड़ी में जकड़ गया। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में हिन्दुओं ने स्वातंत्र्य के लिए घोर प्रयत्न किया और स्यात् वे उसमें सफल भी होते पर नई-नई वाह्य शक्तियों ने आ कर उनके उस प्रयास को विफल कर दिया। उसकी वही दशा ज्यों की त्यों बनी रह गई। स्वभावतः यह भी देखा जाता है कि समान दुःख के साथी यदि मिल जाते हैं तो दुःखी हृदय को बहुत धैर्य मिल जाता है। भारत ही के समान ग्रीस और रोम भी पहले बहुत उन्नत अवस्था में थे, सभ्यता की दीक्षा देने में ये ही दोनों समग्र योरोप के गुरु माने जाते थे, पर बाद को अर्वाचीन-काल में इनकी अवस्था बहुत खराब हो गई थी। इसके अनन्तर इन दोनों ने पुनः उन्नति कर ली है पर भारत वैसा ही बना रह गया है। दुःख के साथियों के रहने से जो धैर्य था वह भी भारत के भाग्य में न रह गया। जिससे उसे—

रोम ग्रीस पुनि निज बल पायो। सब बिधि भारत दुखी बनायो।

इसमें क्षोभ, अधैर्य, द्वेष, विषाद सभी का सरल सम्मिश्रण है। कवि कह उठता है—

कहा करी तकसीर तिहारी। रे बिधना भारतहि दुखारी ॥
सोइ भारत की आज यह भई दुरदशा हाय।
कहा करैं कित जायँ नहिं सूझत कछू उपाय ॥

जब कुछ उपाय नहीं सूझता, तब मनुष्य 'क्षीणा नराः कापुरुषा भवंति' के अनुसार प्राण देना ही उत्तम समझता है। सुनिए—

काशी प्राग अयोध्या नगरी। दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी ॥
चंडालहु जेहि निरखि घिनाई। रहीं सबै भुव मुँह मसि लाई ॥
हाय पंचनद ! हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत ॥
हाय चित्तौर ! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहि मँझारी ॥
जा दिन तुव अधिकार नसायो। सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो ॥

तुम में नहिं जल जमुना गंगा। बढ़हु बेग करि तरल तरंगा॥
धोवहु यह कलंक की रासी। बोरहु किन झट मथुरा कासी॥
कुस कन्नौज अंग अरु बंगहि। बोरहु किन निज कठिन तरंगहि॥
अहो भयानक भ्राता सागर। तुम तरंगनिधि अति बल-आगर॥
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई। देहु भरत भुव तुरत डुबाई॥
घेरि छिपावहु विन्ध्य हिमालय। करहु सकल जल भीतर तुम लय॥
धोवहु भारत अपजस पंका। मेटहु भारत भूमि कलंका॥

अयोध्या, चित्तौर, पंचनद आदि नामों का केवल उल्लेख ही सच्चे देश-भक्त के हृदय में किन-किन भावों का प्रस्फुरण कर देता है, यह अकथनीय है। कहाँ रामराज्य का गर्व और कहाँ वर्तमान काल की उसकी कुदशा पर क्षोभ ! इन थोड़ी सी पंक्तियों के एक-एक शब्द में हमारे भारत की करुण-कथा भरी है। गौरव-काल के बाद अधोगति को प्राप्त न होना ही श्रेय है पर मनचाही मृत्यु भी नहीं मिलती, इसलिए पुनः कवि ईश्वर से अपनी करुण-गाथा कहकर स्वदेश के लिये मंगलकामना की इच्छा से प्रार्थना करता है—

कहाँ करुनानिधि केसव सोए !
जागत नेक न जदपि बहुत बिधि भारतवासी रोए॥
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराए।
इतके पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए॥
इक इक दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई।
अपनी सम्पति जानि इनहिं तुम गह्यो तुरन्तहि धाई॥
प्रलय काल सम जौन सुदरसन असुर-प्रानसंहारी।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी बेर मुरारी॥
दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास 'साग सम काटैं।
एक-एक दिन सहस-सहस नर सीस काटि भुव पाटैं॥
ह्वै अनाथ आरत कुल-बिधवा बिलपहिं दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं तुम नहिं लजत खरारी॥
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई।
भक्तबछल करुनानिधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई॥
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई।
सब बिधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहूँ बचाई॥

भारत के मेवे फूट और बैर, यहाँ के विभीषणों तथा विषय-भोगलोलुप राजाओं, अविद्या अंधकार आदि के मारे दुर्दशाग्रस्त देश को देख कवि ने घबड़ाकर एक देवता से इस प्रकार कहला डाला है—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥
इत कलह विरोध सबन के हिय घर करिहै।
मूरखता को तम चारहुँ ओर पसरिहै॥
वीरता एकता ममता दूर सिधरिहै।
तजि उद्यम सब ही दासवृत्ति अनुसरिहै॥
नसि जैहैं सगरे सत्यधर्म अविनासी।
निज हरि सो ह्वै हैं बिमुख भरतभुववासी॥

"धन्य भारत भूमि! तुझे ऐसे ही पुत्र-प्रसव करने थे। हाय! मुहम्मदशाह और वाजिद अलीशाह तो मुसलमान होके छूटे पर मल्हारराव का कलंक हिन्दुओं से कैसे छूटेगा। विधवा-विवाह सब कराना चाहते हैं पर इसने सौभाग्यवती-विवाह निकाला।" ऐसे अयोग्य कर्णधारों के हाथ में पड़ कर देश की दशा और बिगड़ेगी, इसी से घबड़ा कर कवि कहता है—

परतिय परधन देखि, न नृपगन चित्त चलावैं।
गाय दूध बहु देहिं, मेघ सुभ जल बरसावैं॥
हरि पद में रति होइ, न दुख कोऊ कहँ व्यापै।
अँगरेजन को राज ईस, इत थिर करि थापै॥
श्रुति-पंथ चलैं सज्जन सबै, सुखी होहिं तजि दुष्टभय।
कवि बानी थिर रस सों रहै, भारत को नित होइ जाय॥

यहाँ कवि अपने देशवासियों की त्रुटियों को देख कर ही ऐसा लिखने को बाध्य हुआ है, वह मिल्टन के पिशाच के समान नरक के राज्य को स्वर्ग की दासता से बढ़ कर नहीं मान सका है। वह इन त्रुटियों तथा दोषों का परिहार इस प्रकार कह कर कराना चाहता है। वह अच्छी प्रकार जानता है कि 'बढ़ै बृटिश वाणिज्य पै हमको केवल सोक।' और 'जज्ज कलक्टर होइहैं हिन्दू नाहिं तित धाइ। ये तो केवल मरन हित द्रव्य देन हित हीन।' परतंत्रता दुःखमूलक ही है पर जब गृह ही में द्वंद्व मचा रहता है तभी दूसरे सबल पुरुष वहाँ शांति स्थापित करने आ पहुँचते हैं। भारतेन्दु जी के समय भारत का क्या हाल था, उसे सुनिए।" विद्या की चरचा

फैली, सबको सब कहने-सुनने का अधिकार मिला देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, भाँग के गोले, ग्रामगीत, वही बाल्यविवाह, भूतप्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि ! वही थोड़े में संतोष, गाय हाँकने में प्रीति और सत्यानाशी चालें ! हाय अब भी भारत की यही दुर्दशा ! अरे अब क्या चिता पर सम्हलेगा।' ऐसे ही लोगों का प्रबन्ध दूसरे करते हैं, कितने पीर-नाबालिगों आदि का प्रबन्ध कोर्ट ऑव वार्ड्स अब भी कर रहा है। वह समय और था तथा उसी का कवि के हृदय पर जैसा प्रभाव पड़ा था उसी के अनुसार उद्गार निकले थे। यह देशभक्त के हृदय का नीरव रुदन है, 'बधावे बजाना नहीं है।'

हिन्दी कवि परंपरा में भारतेन्दु जी के पहले वीर रस के अनेक कवि हो चुके हैं जिनमें अंतिम महाकवि 'भूषण' थे। इन्होंने छत्रपति महाराज शिवाजी के विजयों, उनकी वीरता, देश-सेवा, धर्मोन्नति तथा धर्मरक्षा के कार्यों आदि का अत्यंत ओजपूर्ण वर्णन किया है पर यह सब, कहा जा सकता है कि वास्तव में, धनाकांक्षा तथा ऐसे प्रातःस्मरणीय सुपात्र के पा जाने के कारण लिखा जा सका है। यदि इनकी कविता शिवाजी के लिए न होकर किसी 'अवधूत सिंह' आदि के लिए ही होती तो एक सवार ही के समग्र पृथ्वी को कंपा देने के वर्णन के समान मजाक ही समझी जाती। भूषण के बाद वीर रस के कोई अच्छे कवि हुए भी नहीं। वीर रस के इन्हीं कवि ने समग्र भारतवासियों को संबोधित कर उनको तथा उनके देश की प्राचीन उन्नत अवस्था, मध्यकाल की परतंत्रता तथा अवनत अवस्था और वर्तमान काल में भी अवसर पाकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर न होने की कायरता या मूर्खता का डंके की चोट वर्णन किया और उन्हें राष्ट्रभाषा की उन्नति करते हुए देश-सेवा करने को अनेक प्रकार से उत्साह दिलाया। काव्य, नाटक, लेख जो कुछ लिखा है, उनमें कहीं न कहीं अवसर लाकर इन विषयों पर अपने पाठकों, दर्शकों, श्रोताओं को निरंतर आकर्षित करते रहे। इनके चरित्र तथा इनकी रचनाएँ सभी इस देश-भक्ति के रंग से रंजित हैं और इनको यह ऐसी निजी विशेषता है कि यह हिन्दी तथा हिन्दुस्थान के इतिहास में भी अमर हो गए हैं।

आरसी

आरसी को लेकर कवि ने प्रेम का अत्यंत भव्य रूप खड़ा कर दिया है। नायिका नायक को हठवश आरसी नहीं देखने दे रही है। क्यों ? जिसमें वह अपना रूप

देखकर अपने ही पर मोहित न हो जाय और उसे भूल जाय। पुरुषों का रूपलोभ प्रसिद्ध ही है। नायिका का ऐसा दृढ़ विश्वास है कि उसके पति का या प्रेमी का रूप उससे कहीं बढ़ा-चढ़ा हुआ है और वह अपने रूप को देख कर उसे भूल सकता है। यह उसकी अपने प्रिय पर की दृढ़तम आसक्ति है। यह स्त्री सुलभ स्वभाव है कि वे किसी दूसरे को अपने से बढ़ कर सुन्दर देखना नहीं चाहतीं पर यहाँ उसे प्रिय के अपने से बहुत अधिक सुन्दर होने का विश्वास है। कहा है—

देखन देहुँ न आरसी सुन्दर नन्दकुमार।
कहुँ मोहित ह्वै रूप निज मति मोहिं देहु बिसार॥

साथ ही वह पति के उस रूप-सुधा को अनेक उपाय से सुरक्षित रखना चाहती है जिसमें उसका कोई अन्य स्वाद न ले सके। उसे वह आँखों में और हृदय में बन्द रखना चाहती है। ऐसा प्रेमोन्माद है कि सवतों की कौन कहे टँगे हुए चित्रों से इठलाती है कि वे भी उसे न देख लें। इस प्रकार सबसे लाग-डाट करती हुई वह अनुरागिणी प्रिय के रूप-सुधा का सर्वग्रास कर जाना चाहती है, यहाँ तक कि बेचारे प्रेमी को अपने मुख तक देखने के लाले पड़ गए हैं। वह प्रिय और आँखों के बीच आईना के आ जाने का वियोग तक नहीं सह सकती।

राखति नैनन मैं हिय मैं भरि दूर भये छिन होत अचेत है।
सौतिन की कहे कौन कथा तसबीर हू सों सतराति सहेत है॥
लाग भरी अनुराग भरी 'हरिचन्द' सबै रस आपुहि लेत है।
रूप-सुधा इकली ही पियै पियहु को न आरसी देखन देत है॥

दो सखियाँ आपस में तर्क बितर्क कर रही हैं। एक का कृष्णप्रति प्रेम उसी समय जब दूसरे पर प्रगट हुआ तब वह उसके नित्य बराबर आरसी देखते रहने पर अपना विचार यों कहती है—

हौं तो याही सोच मैं विचारत रही री काहे,
दरपन हाथ तें न छिन बिसरत है।
त्योंही 'हरिचन्द जू' वियोग और संयोग दोऊ,
एक से तिहारे कछु लखि न परत है।
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बान,
तू तौ परम पुनीत प्रेम पथ बिचरत है।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसत ताहि,
आरसी में रैन-दिन देखिबो करत है॥

सखी के ये ऊहात्मक विचार कितने ऊँचे तथा पवित्र प्रेम के हैं। आरसी हाथ से नहीं छूटती, सो ठीक है पर प्रेमिका का वियोग तथा संयोग दोनों ही में एक सी दशा देख कर वह चकित है। एकान्त में वियोग से वह विरहिणी चाहे कितना भी विलाप करे पर वह संसार के सामने अपने प्रेम के कारण प्रिय के प्रति लोगों की सहानुभूति नहीं कम कराना चाहती, इसी से सखी कहती है कि ऐसे श्रेष्ठ पवित्रतम प्रेममार्ग पर विचरण करने वाली केवल तू ही है। आरसी में दिन-रात देखने का भी वह एक कारण यह बतलाती है कि प्रिय की मूर्ति तुम्हारे नेत्रों में बसी हुई है और तू उसी प्रेममूर्ति का रात-दिन दर्पण ही में दर्शन किया करती है। इस ऊहा पर प्रेमिका जो उत्तर देती है वह प्रत्येक सच्चे प्रेमी के लिए आदर्श है। वह कहती है कि 'नहीं सखी! ऐसा नहीं है। मैं जो आरसी देखती थी उसका कारण कुछ दूसरा ही है। हा! (लम्बी साँस लेकर) सखी! मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी, तब भगवान से हाथ जोड़कर मनाती थी कि भगवान्, मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे, हा!' (आँसू टपकते हैं)

कैसा दैवी प्रेम है। विरह कष्ट को प्रेमिका नहीं चाहती कि उसका प्रेमी भी उठावे। वह चाहे जीवन भर इस कष्ट को भोगे पर उसके प्रति कृष्ण भी प्रेम कर वैसा कष्ट क्षण भर भी न पावें। उसकी प्रेम-लालसा इच्छा रहित है। वह स्वयं आदर्श देखकर निरीह प्रेम का आदर्श हो रही है। यही प्रेम धन्य है, आदर्श है, दैवी है। 'यह तेरो चाल संसार से निराली है। इसी से मैंने कहा था कि तू प्रेमियों के मंडल को पवित्र करने वाली है!, नहीं कह सकता कि किसी अन्य कवि ने प्रेम का ऐसा ऊँचा आदर्श दिखलाया है। कविश्रेष्ठ महात्मा तुलसीदास जी ने भी राम तथा सीता का विरह वर्णन किया है। सीता जी का हनुमान जी से पहला प्रश्न यही होता है कि 'भगवान रामचन्द्र कभी मेरी याद करते हैं या नहीं?'

एक खंडिता नायिका आरसी ही को लेकर अपने पति को कैसी मीठी चुटकी देती है। वह कुछ उपालंभ नहीं देती, अपना विरह, दुर्भाग्य आदि सुनाकर अपने को नहीं कोसती और न सवति ही पर कुछ फफोले फोड़ती है। वह केवल यही कहती है कि 'देखिए यह हीरक जटित मीने के चित्रों से चित्रित दर्पण दिखलाने के लिये मैं रात्रि भर हाथ में लिए जागती रही। देखिए यह कैसी बनी है?, सहृदय प्रिय के लिये यह चुनौती बड़ी ही कठोर है, वह स्वयं आईना बन जाता है, वह किसे देखे? देखिए—

हौं तो तिहारे दिखाइबे के हित जागत ही रही नैन उजार सी।
आए न रात पिया 'हरिचंद' लिए कर भोर लौं हौं रही भार सी॥
है यह हीरन सो जड़ी रंगन तापै करी कछु चित्र चितार सी।
देखो जू लालन कैसी बनी है नई यह सुन्दर कंचन आरसी॥

नेत्र

हिन्दी में नखशिख और उर्दू में सरापा लिखने की प्रथा प्राचीन है पर दोनों ही में वैसी स्वतंत्र कविताएँ कम हैं। सर्वाङ्ग पर उतनी कविताएँ नहीं मिलती जितनी विशेष-विशेष अंगों पर मिलती हैं। इनमें भी नेत्र का स्थान बहुत ही ऊँचा है और क्यों न हो? एक साधारण सूरदास का यह कहना है कि 'अँखिया हजार निआमत है।' बहुत ही ठीक है। सारी सृष्टि का दर्शन इसी से होता है। काव्य जगत के रसराज का आधार प्रेम का अंकुरण इन्हीं आँखों द्वारा ही होता है। आँखों ने जिसे अपनाया उसी के हाथ मन ही नहीं सारा शरीर 'बिकान'। साथ ही 'वे नैना औरै कछु जेहि बस होत सुजान।' (बिहारी) आँखें तो सभी का होती हैं, अनेक प्रकार की होती हैं, पर विशेषता उसी में कुछ है जिसमें आकर्षक शक्ति हो, जादू हो।

एक बेर नैन भरि देखे जाहि मोहै तौन,
मार्‍यो ब्रज गाँव ठाँव-ठाँव में कहर है।

और अन्त में कहना ही पड़ा कि,

यामें न सँदेह कछू दैया हौं पुकारे कहौं,
मैया की सौं मैया री कन्हैया जादूगर है।

और यदि तरफैन की, दोनों ओर की, वैसी ही आँखें हुई तब वे 'का करौ गोइयाँ अरुझि गईं अँखियाँ' का दृश्य हो जाता है और सुलझाना बेकार हो जाता है।

होत सखि ये उलझौंहैं नैन।
उरझि परत सुरझ्यौ नहिं जानत सोचत समुझत हैं न॥
कोऊ नहिं बरजै जो इनको बनत मत्त जिमि मैन।
कहा कहौं इन बैरिन पाछे होंत लैन को दैन॥

सत्य ही बरजै कौन और सुनै कौन? इनके व्यवहार में विवेक की भी कमी है। सोचना, समझना ये आलसियों का काम समझती है। 'योग्यं योग्येन युज्यते' के

अनुसार जब दो से चार हुईं तभी प्रेम का लेन-देन जारी हुआ। यह प्रेम-व्यवहार भी विलक्षण है, लेन के बदले देन और देन के बदले लेन। उस पर तुर्रा यह कि 'ये आँखें ऐसी बुरी हैं कि जब किसी से लगती हैं तो कितना भी छिपाओ नहीं छिपतीं।' जो देखता है उसी से वे अपनी विरह-कथा कह डालती हैं, न हया है, न शील है। निशंक होकर, लाज को तिलांजलि देकर अपना गुणगान करती फिरती हैं—

> छिपाये छिपत न नैन लगे।
> उघरि परत सब जानि जात हैं घूँघट में न खगे॥
> कितनौं करौ दुराव दुरत नहिं जब ये प्रेम पगे।
> निडर भये उघरे से डोलत मोहन रंग रँगे॥

प्रीतिबद्ध हो जाने पर उन नेत्रों का कुछ और ही रंग हो जाता है—

> लगौं हीं चितवनि औरहि होति।
> दुरत न लाख दुराओ कोऊ प्रेम झलक की जोति॥

दोष भी 'इन्हीं नेत्रों का है, यही रीझते, यही अपने को छिपा नहीं सकते और यही दुष्ट अंत में अपने किए पर रोते हैं।' ये अपने होकर भी पराए होते है। 'अमृत भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे।' बेचारे नेत्रों पर ये आक्षेप अंशतः ठीक हैं पर वे क्या करें? ईश्वर ने भी तो इन पर विशेष कृपा कर इनकी स्मरण शक्ति तीव्र कर दी है—

> नैना वह छबि नाहिंन फूले।
> दया भरी चहुँदिसि की चितवनि नैन कमल दल भूले॥
> परबस भए फिरत हैं नैना एक छन टरत न टारे।
> हरि-ससिमुख ऐसी छबि निरखत तन मन धन सब हारे॥

इसी लिए कवि कहता है—'आँखें तरस रही हैं सूरत इन्हें दिखा जा।' पर क्या एक बार दर्शन देकर चले जाने से इन नेत्रों की तृप्ति होगी। नहीं, नहीं, दिखलाते जाइए आर्थात् दिखला कर चले न जाइये प्रत्युत् बराबर इनके आगे मूर्तिवत् बैठे रहिए।

इन्हीं सब कारणों से अपनी ही आँखों पर उनकी करतूत देखकर आप ही अमर्ष होता है, उनपर कैसी फटकार पड़ती है। प्रश्न पर प्रश्न होते हैं और अन्त में उनसे स्पष्ट कह दिया जाता है कि जैसी करनी वैसी भरनी।

धाइकै आगे मिलीं पहिले तुम कौन सों पूछि कै सो मोहि भाखौ ।
क्यों सब लाज तजी छिन मैं केहि के कहे एतो कियो अभिलाखौ ।
काज बिगारि सबै अपनो 'हरिचंद जू' धीरज क्यों नहिं राखौ ।
क्यों अब रोइ कै प्रान तजौ अपने किए को फल क्यों नहिं चाखौ ।।

यह सब डाँट-फटकार बतलाने पर भी तुरन्त ही कवि की उन पर सहानुभूति भी पैदा हो जाती है । 'बरियाई लखौ इनकी उलटी अब रोवहिं आपु निहारे बिना' । इसी एकनिष्ठा के कारण समवेदना भी कैसी है और क्यों न हो ? देखिए ये आँखें उर्दू शायरी की बेवफाई छोड़ कर यहीं 'लहद' तक ही देखने को नहीं तरसतीं बल्कि जन्मजन्मांतर में जिस-जिस लोक में वे जाएँगी वहाँ-वहाँ उन्हें इस अदर्शन की याद बनी रहेगी ।

इन दुखियान को न सुख सपने हू मिल्यो,
यों ही सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगी ।
प्यारे 'हरिचन्द जू' की बीती जानि औध जौ पै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी ।।
देख्यो एक बार हू न नैन भरि तोहिं यातें,
जौन जौन लोक जैहैं तहीं पछितायँगी ।
बिना प्रानप्यारे भए दरस तिहारे हाय,
देखि लीजौ आँखैं ये खुली ही रहि जायँगी ।।

कवि समवेदना ही नहीं करके रह जाता प्रत्युत उनकी ओर से प्रार्थना करता है कि—

पिया प्यारे तिहारे निहारे बिना अखियाँ दुखिया नहिं मानती हैं ।

यदि कोई कहे कि संसार में सौंदर्य की कमी नहीं है, कुछ और देखो, तब इन आँखों की ओर से कवि कहता है कि—

बिछुरे पिय के जग सूनो भयो, अब का करिए कहि पेखिए का ।
सुख छाँड़ि के संगम को तुम्हरे, इन तुच्छन को अब लेखिए का ।।
'हरिचन्द जू' हीरन को व्यवहार कै काँचन को लै परेखिए का ।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो, उन आँखिन सो अब देखिए का ।।

आँसू

जिन नेत्रों के परस्पर मिलने से प्रेम की मूलोत्पत्ति होती है, उन्हीं से उत्पन्न जल से उस प्रेमवल्लि को 'अँसुअन जल सींचि सींचि' भक्त मीरा ने लहलहाया था ।

प्रेम की विरह दशा के अश्रुकण आँखों से निकलने वाले हैं। नेत्र दर्शन न पाने से अत्यन्त दु:खी हो रहे हैं, उनका धैर्य छूटा जा रहा है, अत: कवि उनकी ओर से कहता है—

सदा व्याकुल हीं रहैं आपु बिना इनको हू कछू। कहि जाइए तो।
इक बारहु तोहिं न देख्यौ कभू तिनको मुखचन्द दिखाइए तो॥
'हरिचन्द जू' ये अँखियाँ नित की हैं बियोगी इन्हें समुझाइए तो।
दुखियान को प्रीतम प्यारे कबौं बहराइ के धीर धराइए तो॥

पर ये नेत्र बिना दर्शन पाए भला बहलाने से मानते हैं। इनकी दशा बिगड़ जाती है और अश्रु उमड़ पड़ते हैं। यह विरहव्याधि साधारण नहीं है, इसे दूर करने का उपाय धन्वन्तरि भी नहीं जानते। उद्धव से ज्ञानी भी समझाकर धैर्य नहीं दिला सके। मर्ज बढ़ता ही जाता है ज्यों-ज्यों दवा की जाती है। इसके एक-मात्र वैद्य या मसीहा वही 'लालन' हैं जिनके 'लालन' से इन्हें धैर्य हो सकता है और ये अपना रोना छोड़ सकते हैं—

घर बाहर केन को काम कछू नहिं को यह रार निकार सकै।
'हरिचन्द जू' जो बिगरीं बदि कै तिन्हैं कौन है जौन सँवारि सकै।
समुझाइ प्रबोधि कै नीति कथा इन्हें धीरज कोऊ न पारि सकै।
तुम्हरे बिनु लालन कौन है जो यह प्रेम के आँसू निवारि सकै॥

सत्य ही जिसकी दृष्टि में एक के सिवा अन्य कोई दूसरा रही नहीं गया और जो उसका अनन्य प्रेमाराध्य देव बन गया है उसके सिवा किसकी सामर्थ्य है, जो उस प्रेम के आँसू को दूर कर सकता है। यह उपाय उसी शक्तिमान के हाथ में है जो ऐसी आग लगा सकता है, जिससे निरन्तर अश्रुजल बहता रहे। शरीर छीजता रहता है पर उसका जला दिल, विरह-दग्ध हृदय, जल का अजस्र स्रोत बना रहता है। अग्नि से उत्पन्न होते अश्रुजल को रोकना उसी जादूगर के हाथ में है। विरह-विधुरा को समझाई ही नहीं देता कि यह कैसी आग है—

बाढ्यौ करै दिन दिन छिन ही छिन कोटि उपाय करौ न बुझाई।
दाहत लाज समाज सुखै गुरु की भय नींद सबै सँग लाई॥
छीजत देह के साथ में प्रानहु हा 'हरिचन्द' करौं का उपाई।
क्यों हूँ बुझै नहिं आँसू के नीरन लालन कैसी दवारि लगाई॥

विरह के आँसू गर्म होते ही हैं और इस प्रकार अग्नि के संपर्क से उमड़ती हुई आँसू की इस बाढ़ को देखकर प्रेमिका घबड़ा जाती है और अन्य कुछ न माँग

कर केवल यही चाहती है कि आँसुओं को अपने दामन से पोछ कर इन्हें बड़भागी बना दो, हम तो दुःख भोग लेंगे पर ये नित की दुखिया आँखें बेचारी तुम्हारी ही हैं, इससे इन पर तो जरा दया करो। आँसुओं की झड़ी के मारे ये बेचारी और भी कष्ट में हैं, कहीं तुम आ गए तो भी ये न देख सकेंगी और पुछ जाने पर ही रूप सुधा पा सकेंगी। यदि इतने पर भी प्रियतम कष्ट न करे तो क्या कहा जा सकता है—

रोवैं सदा नित की दुखिया बनि ये अँखियाँ जिहि द्यौस सों लागीं ॥
रूप दिखाओ इन्हैं कब हूँ 'हरिचन्द जू' जानि महा अनुरागीं ॥
मानिहैं औरन सों नहि ये तुव रंग रँगी कुल लाजहिं त्यागीं।
आँसुन को अपने अँचरान सों लालन पोंछि करौ बड़ भागीं ॥

भारतेन्दु जी का विरह-वर्णन

भारतेन्दु जी का विरह वर्णन पुरानी रूढ़ि के कवियों के वर्णन से कुछ भिन्न है। इनमें अतिशयोक्ति की कमी और स्वाभाविकता की पूर्णता है। यद्यपि पुराने कवियों ने कल्पनाओं की खूब उड़ान मारी है, बड़े बड़े बाँधनू बाँधे हैं, पर सभी में अनैसर्गिकता पद-पद पर साथ चली आई है। हिन्दी तथा उर्दू दोनों ही के कवियों ने विरह के ऐसे-ऐसे चित्र खींचे हैं जिन्हें जयपुर के चित्रकारों की बारीक से बारीक कलम की नजाकत भी नहीं दिखला सकती। उर्दू के दो उस्तादों की उस्तादी की बातें सुनिए और आँखें मूँद कर ध्यान कीजिए, कुछ समझ में आता है।

इन्तहाए लागरी से जब नजर आया न मैं।
हँस के वह कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए ॥
नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
कोने कोने ढूंढ़ती फिरती कजा थी मैं न था ॥

पहले साहब चुचुक कर ऐसे अमहर हो गए थे कि नहीं से हो रहे थे और उन्हें न देख कर माशूक हँस पड़ा, देखते तो शायद रो पड़ते पर जब वह दिखलाई ही न पड़े तब सिवा हँसने के झेंप मिटाने का और उपाय ही क्या था। हाँ खोजने के लिये बिस्तर झाड़ने का हुक्म हुआ, मानों आशिक पिस्सू बन कर उसके नीचे दबक गया था। दूसरे साहब की बात ही निराली है। पहले तो यही ज्ञात होता है कि बेचारे इस हिज्र से बड़े प्रसन्न हैं कि उसने इन्हें ऐसा कर दिया है कि मौत भी उन्हें ढूँढ़ कर न पा सकी और उनकी जान बच गई। यदि हिज्र न होता तो स्यात् उनकी मुटाई से कजा को अधिक परिश्रम न करना पड़ता और 'मैं न था' सत्य हो जाता।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि बिहारी की विरहिणी को परमाणुता को पहुँची थी।

वह भी गलपच कर ऐसी बेमालूम हो गई थी कि मीच (मृत्यु) चश्मा लगाकर भी उसे नहीं देख सकती थी। यद्यपि विरहिणी सामने से हटती नहीं थीं पर वह स्यात् मृत्यु चाहने में कुछ आगा पीछा कर रही थी, नहीं तो झट मृत्यु से कह कर ऐसे विरह-कष्ट से छुटकारा पा जाती। दोहा इस प्रकार है—

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाँड़तु नीच।
दीने हू चसमा चखनि चाहै लखै न मीच॥

इसके सिवा विरहिणी की विरहाग्नि उसी तक नहीं रह जाती, उसके पास आने वाली सखी झुलसने लगती है, गुलाब का कंटर सूख जाता है, सीसी पिघल जाती है, पिसा अरगजा सूख कर अबीर हो जाता है इत्यादि। अग्नि और बढ़ती है, गाँव का गाँव ही गर्मी से तड़फड़ाने लगता है, जाड़े में ग्रीष्म से बढ़कर तपन हो जाती है। अति हो गई, खसखाने में विरहिणी अपनी ही गर्मी से औटी जाती है। धन्य है अतिशयोक्ति, जो न तू सम्भव कर दे। चुहलबाज इन्शा ने ऐसी ही विरहिणी के आह को भाड़ कहा है।

जो दानेहाय अंजुमे गर्दूं को डाले भून।
उस आह शोलाखेज को इंशा तू भाड़ बाँध॥

विरहाग्नि से गाँव की नदी ऐसी खौल उठी कि समुद्र तक पहुँच उसे गरम कर डाला और बड़वाग्नि को जलाने लगी। जायसी ने भी कुछ अंट-संट बातें कही हैं। विरही के लिखे पत्र के अक्षर अँगारे हो रहे थे, जिससे कागज के न जलने पर भी उसे कोई छूता न था, तब सुग्गा उसे ले चला। अन्य स्थान पर कहते हैं कि विरह कथा जिस पक्षी से वह कहता था उसके पक्ष सुनते ही जल जाते थे। मालूम होता है कि वह सुग्गा भी कागज की तरह किसी विरह-साबर मंत्र से सुरक्षित किया गया था।

इस प्रकार के ऊहात्मक अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों के आधार असत्य हैं, जिन्हें सुनने से विरही-विरहिणी के असीम दुःखों के अतिशयाधिक्य का अन्दाजा शायद कुछ लोगों को लगता हो पर श्रोतागण उनसे समवेदना करने के बदले इन बातों की करामात में फँस जाते हैं और उनकी तीव्र वेदना से उत्पन्न तपन की जो जोख (नाप) बतलाई जा रही है, उसके विचार में लग जाते हैं। तात्पर्य इतना है कि ऐसे वर्णन के श्रोता या पाठक की दृष्टि, जिसके प्रति कवि को उनकी समवेदना उत्पन्न करानी थी उन पर न रह कर, उनकी अत्युक्ति पूर्ण असम्भाव्य बातों के घटाटोप में बन्द हो जाती है। यदि यही अत्युक्तियाँ संभाव्य हों, ऐसे वर्णनों का

आधार सत्य और स्वाभाविक हो तो पाठकों के हृदय में उनके चित्र तुरन्त खचित हो जायँगे और विरही-विरहिणी के प्रति उनकी समवेदना तुरन्त आकृष्ट हो जायगी। 'आह रूपी नागिन ने उड़कर आकाश को काट लिया जिससे वह नीला हो गया, ऐसे वर्णन में आधार आकाश का नीला होना सत्य है पर उसका जो कारण बतलाया गया है, वह असत्य है। इस प्रकार के वर्णन में सत्य आधारों का विरह के कारण वैसा होना दिखलाने के लिये ऐसे हेतु का आरोपण किया जाता है जिससे वैसा होना सम्भव है। सर्प के दंशन से विष फैलने पर मनुष्य नीला हो जाता है, इसलिये आह रूपी सर्प के दंशन से आकाश का नीला होना कहना उचित हुआ। कल्पना की उड़ान इसमें भी ऊँची उठी है पर इस प्रकार की अत्युक्तियों में तब भी गाम्भीर्य है, कोरा मजाक नहीं।

विप्रलंभ श्रृंगार के चार भेद होते हैं, पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण। केवल दर्शन, गुण-श्रवण आदि से प्रेम के अंकुरित हो जाने पर मिलन तक का विरह पूर्वानुराग के अंतर्गत है। प्रेमियों के एक दूसरे से कारणवश रुष्ट होने पर उत्पन्न वियोग मान कहलायगा। जब दो में से एक कहीं विदेश चला जाय तब प्रवास विप्रलंभ होता है। प्राचीन आचार्यों ने, प्रेमियों में कितना अन्तर पड़ने पर ऐसे वियोग को प्रवास विप्रलंभ कहना चाहिए, इस पर विचार नहीं किया है पर एक आधुनिक आचार्य एक स्थान पर लिखते हैं कि 'वन में सीता का वियोग चारपाई पर करवटें बदलवाने वाला प्रेम नहीं है—चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपाल के लिये गोपियों को बैठे-बैठे रुलाने वाला वियोग नहीं है, झाड़ियों में थोड़ी देर के लिये छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आँखों से आँसुओं की नदी बहाने वाला वियोग नहीं है। यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमाने वाला, सेना एकत्र कराने वाला, पृथ्वी का भार उतरवाने वाला वियोग है। इस वियोग की गम्भीरता के सामने सूरदास द्वारा अंकित वियोग अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी बालक्रीड़ा सा लगता है।' इस उद्धरण में पहले यही नहीं पता लगता कि रामचन्द्र से सबल तथा राधा-गोपी आदि सी अबलाओं की समता क्यों की गई? क्या ये अबलाएँ रणचंडी बन कर मथुरा या लाखों 'चार कदम' दूर द्वारिका पर चढ़ जातीं और कृष्ण को पकड़ लातीं। मान-विरह तो चार कदम क्या एक कदम की दूरी भी न रहने पर हो सकता है। जब रावण के सामान कोई नृशंस पुरुष किसी की प्रणयिनी को उड़ा ले जाय तभी न वह विरही होते भी वीर पुरुष के समान उससे अपने प्रणयिनी को छीन लाने का प्रयत्न करेगा। जब दो प्रेमी वन्यप्रदेश में घूमते-फिरते किसी प्रकार एक-दूसरे से रुष्ट होने के कारण अलग हो गए उस समय,

प्रेमी चाहे झाड़ी में छिपा तमाशा देख रहा हो, प्रणयिनी अबला अवश्य ही मान, रोष, विरह-दुःख आदि के कारण रो बैठेगी। इसमें रत्ती भर भी अस्वाभाविकता नहीं है। कुछ समालोचक जब एक कवि की आलोचना करते रहते हैं तो अन्य कवियों पर कुछ फबतियाँ कसते जाते हैं, ऐसी एक प्रथा सी हो गई है।

करुण विप्रलंभ नायक तथा नायिका दो में से एक के मरण पश्चात् दूसरे के शोक को कहा जा सकता है पर उसी अवस्था तक यह करुण-विप्रलंभ रहेगा जब इस बात की उसे आशा होती है कि वह पुनर्जीवित हो उठेगा। सत्यवान की मृत्यु पर सावित्री का रुदन इसी प्रकार का था, क्योंकि उसे दृढ़ आशा थी कि उसका पति पुनः जी उठेगा। यदि जी उठने की आशा ही न रहे तो करुण विप्रलंभ न रह कर करुण रस हो जायगा।

श्री चन्द्रावली नाटिका हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि है और इसको सारी विशेषता केवल एकमात्र शब्द प्रेम में भरी पड़ी है। इसमें का विरह-वर्णन इतना स्वाभाविक, इतना हृदयग्राही और समवेदना-उत्पादक है कि इसके पाठक या श्रोतागण इसे पढ़-सुन तन्मय हो जाते हैं। इस समय नाटक में शृङ्गार रस का वियोग पक्ष ही प्रधान है, केवल अन्त में मिलन होता है। 'प्रेमियों के मंडल को पवित्र करनेवाली' चन्द्रावली में श्रीकृष्ण के बाल-सुलभ चपलता, सौंदर्य तथा गुण सुनने से पुर्वानुराग उत्पन्न होता है। आसपास के गाँव में रहने से देखा-देखी भी होती है और वह प्रेम रूप में परिणत हो जाता है।

वह सुन्दर रूप विलोकि सखी, मन हाथ ते मेरे भग्यो सो भग्यो।

इस प्रकार मन के भाग जाने से अनमनी हुई किसी नायिका का कवि यों वर्णन करता है—

भूली सी भ्रमी सी चौंकी जकी सी थकी सी गोपी,
दुखी सी रहत कछू नाहीं सुधि देह की।
मोही सी लुभाई कछु मादक सी खाए सदा,
बिसरी सी रहै नेक खबर न गेह की॥
रिस भरी रहैं कबौं फूलि न समाति अंग,
हँसि हँसि कहैं बात अधिक उमेह की।
पूछे ते निसानी होय उत्तर न आवै तोहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेह की॥

इस प्रकार प्रेम का आधिक्य हो जाने पर उसे छिपाना कठिन हो जाता है।

सखियाँ प्रश्न करती हैं, हठ करती हैं, तब बतलाना पड़ता है। विरह कष्ट के विशेष रूप से प्रकट न मालूम होने से जब शंका होती है तब उत्तर मिलता है कि—

मनमोहन ते बिछुरी जब सों तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
'हरिचन्द जू' प्रेम के फंद परी कुल की कुल लाजहि खोवती हैं॥
दुख के दिन को कोऊ भाँति बितै बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपुनी दशा जानैं सखी निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं॥

सत्य ही दूसरे का दुःख कौन समझ सकता है। कष्ट के दिन तो किसी प्रकार बीत भी जाते हैं पर रात्रि कैसे व्यतीत होती है यह दुखिया ही समझ सकती है। इस पद का पूर्वानुराग नीली राग ही कहलाएगा यद्यपि आगे चलकर चंद्रावली जी का यह अनुराग मंजिष्ठा राग में परिवर्तित हो गया है। किस प्रकार यह अनुराग बढ़ा है, इसके कथन के साथ-साथ इस पद में विरह की प्रथम तीन दशाएँ—अभिलाषा, चिंता तथा स्मृति —भी लक्षित हो रही है।

पहिले मुसुकाइ लजाइ कछू क्यों चितै मुरि मो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ कै प्रीति निबाहन को क्यौं कलाम कियो।
'हरिचन्द' भए निरमोही इते निज नेह को यों परिनाम कियो।
मन माँहि जो तोरन ही की हुती अपनाइ के क्यौं बदनाम कियो॥

विरह से उद्वेग बढ़ा, उन्माद के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे और जड़ तथा चेतन का भेद न रह गया। 'राजा चन्द्रभानु की बेटी चन्द्रावली' पक्षियों पर बिगड़ उठती है, कहती है—'क्यों रे मोरो! इस समय नहीं बोलते? नहीं तो रात को बोल-बोल के प्राण खाए जाते थे। कहो न वह कहाँ छिपा है? (गाती है)

अहो अहो बन के रूख कहूँ देख्यो पिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहौ वह कितै सिधारो॥
अहो कदंब अहो अंब-निंब अहो बकुल तमाला।
तुम देख्यौ कहुँ मनमोहन सुन्दर नँदलाला॥
अहो कुञ्ज बन लता विरुध तृन पूछत तोसों।
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों॥
अहो जमुन अहो खग मृग हो अहो गोबरधन गिरि।
तुम देखे कहुँ प्रानपियारे मनमोहन हरि॥

कैसी उन्मत्त दशा है, ये पेड़-पक्षी भी अपने साथ सहानुभूति दिखलाते हुए

ज्ञात होते हैं पर बेचारों का कुछ वश चलता नहीं। विरहिणी उनसे बड़े दुलार के साथ, आदर के साथ पूछती है पर वे निरुत्तर हैं। उन्मादिनी के कान में किसी ने वर्षा का शब्द पहुँचा दिया बस वह अपने 'घनश्याम आनन्दनघन' का स्वप्न देखने लगी। वह कहती है—

बलि साँवली सूरत मोहिनी मूरत आँखिन को कबौं आइ दिखाइए।
चातक सी मरैं प्यासी परीं इन्हें पानिप रूप सुधा कबौं प्याइए॥
पीत पटै बिजुरी से कबौं 'हरिचन्द जू' धाइ इतै चमकाइए।
इतहू कबौं आइकै आनँद के घन नेह को मेह पिया बरसाइए॥

सच्चे प्रेमी चातक ही के स्वरूप हैं, इनकी प्यास, हृदय तृष्णा, उन्हीं के प्रेमपात्र के मिलने से तृप्त होती है, उससे हजार गुणा बढ़ कर सौंदर्यादि गुणों से युक्त पात्र को देखने से नहीं होती। ऐसी विरहिणी को दिन होता है तो शोक, संध्या होती है तब भी शोक। चन्द्र की सुधामयी किरणें तथा सूर्य की उत्तम रश्मियाँ उनके लिए समान हैं। चन्द्रोदय होने पर पहले उसमें वह अपने प्रिय—"गोप-कुल-कुमुद निसाकर उदै भयो" मानती है और जब वह भ्रांति मिटती है तब उसे सूर्य समझ कहती है—

निसि आजहू की गई हाय बिहाय पिया बिनु कैसे न जीव गयो।
हतभागिनी आँखिन कों नित के दुख देखिबे कों फिर भोर भयो॥

जब चन्द्रमा बादल के आ जाने से छिप जाता है तब एकाएक उसे रात्रि का पता चलता है। वह घबड़ाकर कहती है—'प्यारे देखो, जो-जो तुम्हारे मिलने में सुहावने जान पड़ते थे वही अब भयावने हो गए। हा! जो बन आँखों से देखने में कैसा भला दिखाता था वही अब कैसा भयंकर दिखाई पड़ता है। देखो सब कुछ है, एक तुम्हीं नहीं हो।'

विरह दशा में यदि सहायक मिल जायँ तो अवश्य ही विरह कष्ट कुछ कम हो जाता है, आशा बड़ी बलवती होती है पर इस दशा में निरबलंवता ही अधिक मालूम होती है और इसी से यह कष्टकर होती है। विरहिणी कहती है—अरे मेरे नित के साथियो, कुछ तो सहाय करो।

अरे! पौन, सुख-भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यौं न कहौ राधिका-रौन सों मौन निवारो।
अहो! भँवर, तुम श्याम रंग मोहन-व्रतधारी।
क्यौं न कहौ वा निठुर श्याम सों दसा हमारी॥

अहो ! हंस, तुम राजबंस सरवर की सोभा ।
क्यौं न कहौ मेरे मानस सों दुख के गोभा ।।

विरह में सुखद वस्तु भी दुःखद प्रतीत होती हैं। श्याम घन को देख घनश्याम की, इन्द्रधनुष तथा बगमाल देखकर श्री कृष्ण की वनमाला और मोतीमाला की, मोर पिक आदि के शब्द सुनकर वंशीनाद करनेवाले की छबि की और 'देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीतपट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै ।'

यह दुःख अनुपम है, और सब दुःख दवा करने, सांत्वना देने, धैर्य धराने से कुछ कम ज्ञात होते हैं, पर यह इन सबसे और बढ़ता है । एक ऐसी ही विरहिणी का वर्णन कितना स्वाभाविक हुआ है कि सुनने वाले का मन बरबस उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण होकर उमड़ पड़ता है ।

छरी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर,
हरी सी बिकी सी सो तो सबही घरी रहै ।
बोले ते न बोलै दृग खोलै ना हिंडोलै बैठि,
एकटक देखे सो खिलौना सी धरी रहै ।
'हरीचन्द' औरौ घबरात समुझाए हाय,
हिचकि-हिचकि रोवै जीवति मरी रहै ।
याद आएँ सखिन रोवावै दुख कहि कहि,
तौ लौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै ।

वह तभी तक कुछ आराम पाती है जब तक अपने होश में वह नहीं रहती । यही जड़ता नवीं काम दशा है । विरही-विरहिणी प्राय: अपना दुःख दूसरे स्त्री-पुरुष से नहीं कहते और कहते भी हैं तो जड़-पदार्थों से कह कर अपने जी का बोझ हलका करते हैं । वे ऐसा क्यों करते हैं, यह कवि ने एक पद में इस प्रकार कहलाया है—

मन की कासों पीर सुनाऊँ ।
बकनो बृथा और पत खोनो सबै चबाई गाऊँ ।।
कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहै धरिहै उलटो नाऊँ ।
यह तो जो जानै सोइ जानै क्यों करि प्रगट जनाऊँ ।।
रोम रोम प्रति नैन श्रवन मन केहि धुनि रूप लखाऊँ ।
बिना सुजान-सिरोमनि री केहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ ।।

मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों कहि निज दसा रोआऊँ ।
'हरीचन्द' पिय मिले तो पग धरि गहि पटुका समुझाऊँ ।।

विरह प्रलाप भी विचित्र होता है। एक वियोगिनी इस दुःख से घबरा कर बूढ़े ब्रह्मा को दोष दे रही है कि क्या संसार भर में यही ब्रजमंडल मुझे जन्म देने के लिये बच रहा था और यदि जन्म दिया भी तो न मालूम किस बैर से उसने हमारा सब सुख ठगकर हमें दुख देने ही को जिला रखा है—

बृजबासी वियोगिन के घर में जग छाँड़ि कै क्यों जनमाई हमैं ।
मिलिबो बड़ी दूर रह्यो 'हरिचंद' दई इक नाम धराई हमैं ।।
जग के सगरे सुख सों ठगि कै सहिबे को यही है!जिवाई हमैं ।
केहि बैर सो हाय दई बिधिना दुख देखिबे ही को,बनाई हमैं ।।

मान प्रणय तथा ईर्ष्या दोनों ही मे होता है और इसलिए इसका इस प्रकार दो भेद माना गया है। प्रणय मान का एक उदाहरण लीजिए—

पिय रूसिबे लायक होय जो रूसनो वाही सों चाहिए मान किये ।
'हरिचंद' तो दास सदा बिन मोल कों बोलै सदा रुख तेरो लिये ।।
रहै तेरे सुखी सों सुखो नित ही मुख तेरो ही प्यारी बिलोकि जिये ।
इतने हूँ पै जानै न क्यों तू रहै सदा पीय सौं भौंह तनेनी किये ।।

इसमें पति का पत्नी के प्रति सच्चा प्रेम है और उसने कोई ऐसा कार्य नहीं किया है जिससे प्रेमिका को मान करने का अवसर मिले पर वह स्यात् प्रणयाधिक्य से मान की साध पूरी करने के लिए 'भौंह-तनेनी किए' रहती है। ईर्ष्या से उत्पन्न मान होने पर उस मानवती को विरह कष्ट विशेष रूप से होता है। कार्यवश, शाप या भयवश प्रिय का प्रवास हो जाने पर प्रेमी-प्रेमिका को जो विरह कष्ट होता है उसकी प्रतीति पूर्वानुराग तथा मान के विरह-कष्ट से अधिक तीव्र होती है। इसी से प्रवासोद्यत नायक से प्रेमिका कहती है—

करिकैं अकेली मोहिं जात प्राननाथ अबै,
कौन जानै आय कब फेर दुखि हरिहौ ।
औधि को न काम कछू प्यारे घनश्याम, बिना
आप कै न जीहैं हम जोपैं इतै धरिहौ ।।
'हरिचन्द' साथ नाथ लेन मैं न मोहिं कहा,
लाभ निज जीअ मैं बताओ तो बिचरिहौ ।

देह संग लेते तो टहलहू करत जातो,
एहो प्रानप्यारे प्रान लाइ कहा करिहौ ॥

कैसी सुन्दर व्यंजना है। विरह में वह जीवित रहेगी ही नहीं और इसलिये उसके प्राण निकल कर साथ ही चले जायँगे। ऐसी अवस्था में केवल प्राणरूपी साथी को साथ ले जाने से उसे किसी भी प्रकार का लाभ न होगा। ऐसी ही एक विरहिणी ने प्राण को त्याग दिया पर प्राण ही बेचारा उस महागुण रूपराशि को शरीर को न छोड़ सका। इस प्रकार यह पद करुण-विप्रलंभ शृङ्गार रसपूर्ण हो गया है। संवाददाता कहता है --

हे हरि जू बिछुरे तुम्हरे नहिं धारि सकी सो कोऊ बिधि धीरहिं।
आखिर प्रान तजे दुख सों न सम्हारि सकी वा वियोग की पीरहिं ॥
पै 'हरिचन्द' महा कलकानि कहानी सुनाऊँ कहा बलबीरहिं।
जानि महा गुनरूप की रासि न प्रान तज्यो चहै वाके सरीरहिं ॥

संयोग शृङ्गार

किसी कवि की उक्ति है कि —

न बिना विप्रलंभेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायितेहि वस्त्रादौ भूयान्रागो विवर्धते ॥

संभोग शृङ्गार की रस-पुष्टि बिना वियोग के नहीं होती, जैसे रंग अच्छा प्रकार चढ़ने के लिए पहले कपड़े पर कषाय रंग दिया जाता है। 'जो मजा हिज्र यार में' होता है, वह संयोग में नहीं होता। वास्तव में दोनों ही का सम्बन्ध पारस्परिक है। 'मीठा भावै लोन पर अरु मीठे पर लोन' कहा ही गया है। जब तक जीव वियोग में कष्ट नहीं उठा लेता तब तक उसे संयोग का आनंद नहीं मिलता। इसी लिए विप्रलंभ का वर्णन कर लेने पर संयोग शृङ्गार पर भी थोड़ा कुछ लिखा जाता है।

संयोग शृङ्गार का आरम्भ पूर्वानुराग में होता है पर इसमें वियोग ही का अंश अधिक होता है। केवल दूर से देख लेना, गुण सुनना, अवसर निकालकर क्षण मात्र एक दूसरे को देख मुस्कराकर प्रेम प्रकट करना, चवाइनों (चुगुलखोरों) को फटकार आदि संयोग के अंतर्गत हैं। देखिए, एक दिन एकाएक पहली बार दोनों की आँखें चार हो रही हैं —

जा दिन लाल बजावत बेनु अचानक आय कढ़े मम द्वारे।
हौं रही ठाढ़ी अटा अपने लखि कै हँसे मो तन नन्ददुलारे ॥

लाजि कै भाजि गई 'हरिचंद' हौं भौन के भींतर भीति के मारे।
ताहि दिना तें चवाइन हूँ मिलि हाय चवाय कै चौचँद पारे॥

इस प्रकार नन्ददुलारे को पहली बार एकाएक देख कर बेचारी डरकर घर के भीतर भाग गई, पर जिनके डर से भागी वे चवाइनें कब पीछा छोड़ती हैं। उनके लिए उतना ही बहुत था, उन्होंने चौआई बहा दी। इन चवाइनों की तारीफ सुनिए—

ब्रज मैं अब कौन कला बसिए बिनु बात ही चौगुनों चाव करैं।
अपराध बिना 'हरिचंद जू' हाय चवाइन बात कुदाव करैं॥
पौन मों गौन करे हीं लरीं परैं हाय बड़ोई हियाव करैं।
जौ सपने हूँ मिलें नँदलाल तौ सौतुख मैं ये चबाव करैं॥

प्रेमाधिक्य में ये इन चवाइनों की उपेक्षा कर जाती हैं, वे ज्यों-ज्यों इन्हें बदनाम करती हैं, त्यों-त्यों ये अपना प्रेम बढ़ाती जाती हैं और उनकी ओर ध्यान भी नहीं देती।

ब्रज के सब नाँव धरैं मिलि ज्यौं ज्यौं बढ़ाई कै त्यौं दोउ चाव करैं।
'हरिचन्द' हँसैं जितनो सब ही तितनो दृढ़ दोऊ निभाव करैं॥
सुनि कै चहुँधा चरचा रिसि सों परतच्छ ये प्रेम प्रभाव करैं।
इत दोऊ निसंक मिलैं बिहरैं उत चौगुनो लोग चबाव करैं॥

इनकी ढिठाई और बढ़ती है, प्रेम इन्हें परले दर्जे का बेहया बना देता है, ये इन चवाइनों से बेतरह चिढ़ जाती हैं और उन्हें ललकार कर कहती हैं—

मिलि गाँव के नाँव धरौ सबही चहुँधा लखि चौगुनो चाव करौ।
सब भाँति हमैं बदनाम करौ कढ़ि कोटिन कोटि कुदाँव करौ॥
'हरिचन्द जू' जीवन को फल पाय चुकी अब लाख उपाव करो।
हम सोवत हैं पिय अंक निसंक चवाइने आओ चबाव करौ॥

उद्दीपन रूप में वर्षा ऋतु जिस प्रकार वियोग में दुःखदायी होती है उसी प्रकार संयोग में वह रति की उद्दीपक हो उठती है, उसके बादलों के घिर जाने, ठंढी हवा चलने, दादुर की बोल, मयूर का नृत्य, हरे-हरे खुले पत्तों का हिलना तथा कदम्ब पर कोयलों का कूकना संयोगियों के हृदय को गुदगुदाने लगता है।

कूकै लगीं कोइलैं कदम्बन पै बैठि फेरि धोए धोए पात हिलि हिलि सरसै लगे।
बोलै लगे दादुर मयूर लगे नाचै फेरि देखि कै संयोगी जन हिय हरसै लगे॥

हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी लखि 'हरिचंद' फेर प्रान तरसै लगे।
फेरि झूमि झूमि बरषा की ऋतु आई फेरि बादर निगोरे झुकि झुकि बरसै लगे॥

चन्द्रावली नाटिका में विप्रलम्भ शृङ्गार ही की प्रधानता है और उसका उल्लेख भी हो चुका है चन्द्रावली जी की सखियों के परिश्रम से जब श्रीकृष्ण भगवान जोगिन का रूप धारण कर उससे मिलने आए और विरहोन्माद में गाते-गाते बेसुध हुई चन्द्रावली को अपने अंक में लिपटा लिया, उस समय विरह का उन्माद हर्ष के उन्माद में परिणत हो गया। वह पागल के समान श्रीकृष्ण के गले में लिपट कर कहती है—

पिय तोहिं राखौंगी भुजन मैं बाँधि।
जान न दैहौं तोहि पियारे धरौंगी हिए सों नाँधि॥
बाहर गर लगाइ राखौंगी अन्तर करौंगी समाधि।
'हरीचन्द' छूटन नहिं पैहो लाल चतुरई साधि॥

वह घबड़ाकर कहती है, सोचती है कि अब पिय को ऐसी कौन जगह छिपा लूँ कि वह कहीं भाग ही न सकें। आँखों की पुतली में रख लें या हृदय के भीतर रखें, यह उसे समझाई ही नहीं देता। तब वह प्रिय से प्रार्थना करती है कि तुम्हीं अब हमें छोड़कर मत जाओ और जहाँ चाहो हमारे हृदय या आँखों में निवास करो यहाँ तक क्षणमात्र के लिए भी हमारे आँखों से दूर न हो। अंत में वह कहती है—

पिय तोहिं कैसे बस करि राखौं?
तुव दृग मैं तुव हिय मैं निज हियरो केहि बिधि नाखौं॥
कहा करौं का जतन बिचारौं बिनती केहि बिधि भाखौं।
'हरीचन्द' प्यासी जनमन की अधर-सुधा किमि चाखौं॥

इस सब हर्षोन्माद में किलकिंचित् हाव पूर्णतया विकसित हो गया है। इसमें विहृत हाव भी मिला है क्योंकि आगे श्री चन्द्रावली जी कहती हैं कि "जब कभी पाऊँगी तो यह पूछूँगी वह पूछूँगी पर आज सामने पाकर कुछ नहीं पूछा जाता।"

नायिकाओं के अट्ठाईस सात्विक अलंकार कहे गए हैं, जिनमें भाव, हाव और हेला अगज कहलाते हैं। शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य अयत्नज इस कारण कहे जाते हैं कि ये आपसे-आप उत्पन्न होते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति विव्वोक, किलकिंचित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि ये यत्नज अर्थात् साध्य हैं। भाव तो, वही है जो प्रत्येक प्राणी में स्थायी रूप से होते हुए भी अवस्था या अवसर प्राप्त होने पर उद्बुद्ध हो जाता है। शृङ्गार रस में यह भाव रति है। यह काम जब

विकार नेत्र-चालनादि से व्यक्त हो जाता है तब उसे हाव कहते हैं। जब यह व्यंजना अधिक स्पष्ट हो जाती है तब हेला कहलाती है।

सिसुताई अजौं न गई तन तें तऊ जोबन जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचंद' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी॥
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूंघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी॥

इस छन्द में नायिका में यौवन का आगम हो चला है, रति-भाव उद्‌बुद्ध हो गया है और प्रिय की चर्चा सुन कर भौंह मरोरना आदि हाव भी व्यक्त हो रहा है। शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य सभी के होते धैर्य के साथ आँखें बचा-बचा कर पति से आँखें लड़ाना प्रगल्भता प्रगट करती हैं।

नव कुंजन बैठे पिया नँदलाल जू जानत हैं सब कोक-कला।
दिन मैं तहाँ दूती भुराय कै लाई महाछबिधाम नई अबला॥
जब धाय गही 'हरिचन्द' पिया तब बोली अजू तुम मोहिं छला।
मोहिं लाज लगै बलि पाँव परौं दिन ही हहा ऐसी न कीजै लला॥

इस पद में कुट्टमित हाव स्पष्ट है। पति के नायिका को अंक में लेने पर वह हाथ छुड़ाकर घबराती हुई सो नहीं-नहीं कहने लगती है। अब दो-एक नायिका भेद के भी उदाहरण दे दिए जाते हैं।

वासकसज्जा नायिका उसे कहते हैं जो पति से मिलने के लिए शृङ्गार करके तथा अन्य सब तैयारी करके दुरुस्त बैठी हो। भारतेन्दु जी ने ऐसी ही एक नायिका का एक सवैया में अनूठा वर्णन किया है। प्रेमाधिक्य तथा औत्सुक्य ने मिलकर उस अकेली नायिका का एकाकिनीपन मिटा दिया और उसे प्रीतम के वहाँ होने का ऐसा भान होने लगा कि वह अकेली ही केलि करने लगी। वह मानों पति के मिलने का स्वप्न देख रही थी और पति के आने पर उसे अपने अकेले होने का ज्ञान हुआ, जिससे वह अति लज्जित हुई।

आजु सिंगार कै केलि के मन्दिर बैठी न साथ मैं कोऊ सहेली।
धाय के चूमै कबौं प्रतिबिंब कबौं कहै आपुहिप्रेम पहेली॥
अंक मैं आपुने आपै लगै 'हरिचन्द जू' सी करै आपु नवेली।
प्रीतम के सुख मैं पियमै भई आए तें लाल के जान्यौ अकेली।

कितना सहज स्वाभाविक वर्णन है और वैसी ही सरल भाषा भी है। प्रीतम से मिलने के लिए जानेवाली नायिका को अभिसारिका कहते हैं। एक नायिका

ने इस प्रकार के बहुत प्रयास किए पर उसे दर्शन के लाले ही पड़े रहे। कहती है—

काले परे कोस चलि-चलि थक गए पाँय सुख के कसाले परे ताले परे नस के।
रोय-रोय नैनन में हाले परे काले परे मदन के पाले परे प्रान पर बस के॥
'हरीचन्द' अंकहू हवाले परे रोगन के सोगन के भाले परे तन बल दरस के।
पगन में छाले परे नाँघिबे को नाले परे तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के॥

चलते-चलते उसके पैर ऐसे थक गए कि मानों उनमें ताले पड़ गए। महाविरा है कि बहुत थक जाने पर जब कोई चल नहीं सकता तब कहता है कि पैरों में ताला पड़ गया है। वास्तव में नसों के अकर्मण्य हो जाने पर पैर आगे नहीं पड़ते तभी ऐहा कहा जाता है, इसीलिए कवि ने नस के ताले कहा है। नेत्रों की रोते-रोते बुरी दशा है, शरीर भी रोगों तथा शोक के भालों से जर्जरित हो गया है। सुकुमार स्त्रियों के लिए न करने योग्य नाले तक लाँघने पड़े तब भी 'रावरे दरस के लाले परे' ही रहे। मुहाविरों की अच्छी छटा है।

खंडित नायिका उसे कहते हैं जिसका पति रात्रि भर कहीं अन्य के यहाँ व्यतीत कर सुबह लौट आवे। निम्नलिखित पद ऐसी एक नायिका की उक्ति है जो क्रोध को बिल्कुल हृदयस्थ करके पति का उसी प्रकार स्वागत कर रही है, जिस प्रकार दिन भर के भूले-भटके का संध्या को घर पहुँचने पर होता है। यह नायिका प्रौढ़ा धीरा है। वह पति के इस प्रकार लौटने पर अपना सौभाग्य सराह रही है कि आज सबेरे ही उनके दर्शन हो गए। सबसे बढ़कर व्यंग्य वह यह कहती है कि भला हमें भूले तो नहीं यही सब कुछ है। सुनिए वह कहती है—

आजु मेरे भोरहि जागे भाग।
आये पिया तिया रस भीने खेलत दृग जुग फाग॥
भलौ हमैं भूले तौ नाहीं राख्यौ जिय अनुराग।
साँझ भोर हूँ एक हीं हमारें तुव आवन को लाग॥
मंगल भयो भोर मुख निरखत मिटे सकल निसि दाग।
'हरीचन्द' आओ गर लागो साँचो करौ सुहाग॥

कितनी मधुर तथा सरल चुटकियाँ हैं जो हृदय को तिलमिला डालती हैं। ऐसे व्यंग्य-वाणों को पूरा 'शठ या धृष्ट' नायक ही सहन कर सकता है।

हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु जी का स्थान

जो कुछ आलोचना लिखी गई है, वह अनेक भावों से भावित तथा अनेक

विषयों पर लिखित शताधिक रचनाओं के लिए पर्याप्त नहीं है और इसके लिए एक से अधिक विद्वानों को लेखनी उठानी पड़ेगी। इतने पर भी जो कुछ लिखा गया है उससे इनकी विशेषताओं का बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो गया है। यह केवल कवि ही नहीं, गद्य के सुलेखक भी थे। यह राजभक्त तथा देशभक्त दोनों ही थे। प्राचीन गौरव का पूर्ण आदर करते हुए यह नवीन विचारों के प्रति भी पूर्णतया उदार थे। इस प्राचीनता तथा नवीनता के सुन्दर सामंजस्य के साथ इनकी सबसे बड़ी विशेषता आधुनिक हिन्दी को जन्म देकर, उसे भारत को राष्ट्रभाषा बनाने का सफल प्रयास है और इसी से वे आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता कहे गए हैं। इनके समय के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों तथा सुलेखकों ने इनको जिस सम्मान की दृष्टि से देखा था, वह अभूतपूर्व है और इसका उल्लेख कई स्थलों पर हुआ भी है। भारतेन्दु जी भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत भी थे और इन्होंने सबसे पहले समग्र भारत को एक मंच पर एकत्र होकर देश की दशा सुधारने तथा उन्नति करने के लिए आमंत्रित किता था।

पं० श्रद्धाराम जी हिन्दी के सच्चे हितैषी और सिद्धहस्त लेखक थे। इनकी सं० १९३८ में मृत्यु हुई थी। जिस दिन इनका देहान्त हुआ था उस दिन इनके मुँह से सहसा निकला कि "भारत में भाषा के लेखक दो हैं—एक काशी में, दूसरा पंजाब में। परन्तु आज एक ही रह जायगा।" कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी के लेखक से अभिप्राय हरिश्चन्द्र से था।

जिस प्रकार भारतेन्दु जी हिन्दी गद्य को सुव्यवस्थित चलता मधुर रूप देकर उनमें नाटक, इतिहास, पुरावृत्त, धर्म, आख्यान, निबन्धादि अनेक विषयों के ग्रथों की रचना की थी उसी प्रकार हिन्दी पद्य-साहित्य की भाषा को परिमार्जित कर उसमें नवीनयुग के अनुकूल कविता-धारा को प्रवाहित कर हिन्दी साहित्य को अपना चिरऋणी कर रखा है। इनकी प्रतिभा अपनी मातृभूमि तथा मातृभाषा की त्रुटियों के निरीक्षण में जितनी पटु थी उतनी ही उसके उत्थान के प्रयत्न में भी दत्तचित्त रही। भारत की चिन्ता में व्यग्र तथा हिन्दी के प्रेम के मतवाले भारतेन्दु जी ने अपना तन, मन, धन सब कुछ इन्हीं दो पर निछावर कर दिया। हिन्दी साहित्य में इनका स्थान बहुत ऊँचा है और अमर है।

जब लौं ये जागृत रहैं जग में हरि और चन्द।
तब लौं तुव कीरतिलता फूलहु श्री हरिचन्द॥

परिशिष्ट—अ

पत्र-व्यवहार

सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवियों के पत्र-व्यवहार अन्य साहित्य जगत् में बड़े आदर से देखे जाते हैं पर हिन्दी के दुर्भाग्य से इसमें इस तरह के संग्रह बहुत ही कम हैं। हिन्दी के प्रत्येक पाठक का यह धर्म होना चाहिए कि यदि इस प्रकार के पत्र उनके पास हों तो वे उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कर दिया करें। यहाँ कुछ चुने हुए पत्र, जो या तो भारतेन्दु जी के लिखे हैं या उनको लिखे गए हैं, पाठकों के मनोरंजनार्थ प्रकाशित कर दिए जाते हैं।

१—श्रीगोस्वामी राधाचरण जी को लिखित

अनेक कोटि साष्टाङ्ग प्रणाम—

आपका कृपा पत्र मिला, चन्द्रिका सेवा में भेजी है स्वीकृत हो। आप अनेक ग्रंथों का अनुवाद करते हैं तो चैतन्य चन्द्रोदय[1] का क्यों नहीं करते? बड़ा प्रेममय नाटक है। इसके छन्द मात्र मैं दत्तचित्त हो कर बना दूँगा, उत्साह कीजिए, जातीय गीत भी कुछ बनें और छपें, मैं बहुत उद्योग करता हूँ किन्तु किसी ने न बना कर भेजे।

आपका

गुरु हरिश्चन्द्र

२—श्रीगोस्वामी राधाचरण जी को लिखा गया

श्रीकृष्ण

हम लोगों का बड़ा दिन

अनेक कोटि साष्टाङ्ग दंडवत् प्रणामानन्तर निवेदयति—

महात्माओं ने जो पद बनाए हैं उनमें प्रियापीतम का जो संवाद है वा अन्य सखियों की उक्ति है उन्हीं सबों के यथास्थान नियोजन से एक रूपक बने तो बहुत ही चमत्कार हो, अर्थात् नाटक की और जितनी बातें हैं, अमुक आया गया

---

[1] कवि कर्णपूर रचित नाटक, जो सं० १६२९ में समाप्त हुआ था।

इत्यादि अंक दृश्य इत्यादि मात्र तो अपनी सृष्टि रहै किन्तु संवाद मात्र उन्हीं प्रवीनों के पदों की योजना से हों। जहाँ कहीं पूरा पद रहै वहाँ पूरा कहीं आधा चौथाई एक टुकड़ा जितना अवश्य हो उतना मात्र उनमें से ले लिया जाय। यह भी यों ही कि एक बेर पदों में से चुनकर अत्यन्त चोखे-चोखे जो हों वा जिनमें कोई एक टुकड़ा भी अपूर्व हो वह चिह्नित रहै फिर यथा-स्थान उनकी नियोजना हो। ऐसा ही गीतगोविन्द से एक संस्कृत में हो, बहुत ही उत्तम ग्रंथ होगा। आप परिश्रम करें तो हो मैं तो ऐसा निर्बल हो गया हूँ कि बरसों में सुधरूँगा।

दासानुदास
हरिश्चन्द्र

३—उक्त ही सज्जन को लिखा हुआ

श्री हरिः

अनेक कोटि साष्टाङ्ग दंडवत् प्रणामानन्तरं निवेदनम्—

आज के भारतेन्दु में प्रथम पत्र आर्यसमाजियों के विषय में जो है उसमें मेरी बुद्धि में यह बात आती है कि ब्राह्मणों को एक ही बेर छोड़ देने की अपेक्षा उनको सुधारना उत्तम है—

भारतेन्दु टाइप में छपै तो बड़ी उत्तम बात है। २४ पेज मै टाइटिल पेज के २५० कापी छपाई कागज समेत २५) रु० में उत्तम छप सकता है, यहाँ छपे तो मैं प्रूफ आदि भी शोध दिया करूँ।

मैं इन दिनों महात्माओं के चित्रों की फोटोग्राफ कापी करके संग्रह कर रहा हूँ, नागरीदास, श्री महाप्रभु आदि कई चित्र तो हैं, कुछ वहाँ भी मिलेंगे?

आगरे के उपद्रव का वृत्तान्त मैंने विलायत कई मित्रों को लिखा है उसके प्रमाण के हेतु कई समाचार पत्र भी भेजे हैं। इस मास का भेजूँगा इससे इसकी एक कापी और दीजिए।

अब की इसमें समालोचना छोटी-छोटी बहुत सुन्दर हैं। शृङ्गारलतिका पर नकछेदी जी ने रजिस्टरी भी करा ली। यह मजा देखिए, राजा मानसिंह के मानों आप पोष्यपुत्र हैं। ललिता ना० चन्द्रावली का छाया पर बनी है, अस्तु, बिचारे वैष्णवमत का न भेद जानें न आप वैष्णव, पर वैष्णव पत्रिका के संपादक तो हैं—नाटकों में गँवारी बैसवारे की मेरी बुद्धि में उत्तम होगी क्योंकि इस प्रदेश में दूर तक बोली जाती है।

दासानुदास
प्रतिपदा हरिश्चन्द्र

४—उक्त सज्जन ही को पत्र

अनेक कोटि साष्टाङ्ग दंडवत् प्रणामानन्तरं निवेदयति—

निस्संदेह आप मुझसे व्यर्थ रुष्ट हुए, इस वर्ष के पहले ही नवम्बर में आप का प्रतिवाद छपा है, भला इसमें मेरा क्या दोष है। जिसने आपकी निन्दा किया है उसको दो हजार गाली आप दीजिए देखिए छपता है कि नहीं। चन्द्रिका भेजने का प्रबन्ध आदि सब अब पं० गोपीनाथ जी के जिम्मे है। मैं उनसे पूछूंगा कि क्यों नहीं गई और भिजवा दूँगा। संसार में भले बुरे सब प्रकार के लोग हैं कोई किसी की निन्दा, कोई स्तुति करता है। हम तो केवल तटस्थ हैं, हमारे चित्त में कल्मष तो तब आप को प्रतीत करना था जब आपका प्रतिवाद न छपता।

श्री वन से हमें कई पुस्तकें मँगाना है आप कृपापूर्वक उसका प्रबन्ध कर दें तो हम नामादिक लिख भेजें। और सर्व्व कुशल है।

शनि आप का दासानुदास

हरिश्चन्द्र

५—उक्त सज्जन को पत्र

शतकोटि दण्डवत् प्रणामानन्तरं निवेदयति—

बाबू राजेन्द्रलाल मित्र ने एक प्रबन्ध में इस बात का खंडन किया है कि महाप्रभु जी माध्वमतावलम्बी थे। इसमें प्रमाण, उन्होंने यह आज्ञा किया था कि "यत श्रीधर विरुद्धं तन्नामास्माकमादरणीयम्।" वह कहते हैं कि माध्वमत के ग्रंथ मात्र ही श्रीधर के विरुद्ध हैं। इसका क्या उत्तर है? वैष्णव दीक्षा आप ने कब और किससे लिया था? मैं इन दिनों महाप्रभु जी के चरित्र का नाटक लिखता हूँ उसी के हेतु इन बातों के जानने की जल्दी है।

दासानुदास

हरिश्चन्द्र

६—श्रीराधाकृष्णदास जी उर्फ बच्चा बाबू को लिखा गया

अज़ीज़ अज़ जान मन[1] बच्चा बहादुर।
मेरे दिल के सदफ़[2] के बेबहा[3] दुर[4]॥
बहुत ही जल्द भेजो नीलदेवी।
इसी दम चाहिये इक उसकी कापी॥

[1] मेरी जान से अधिक प्रिय। [2] सीप। [3] अमूल्य। [4] मोती।

वहाँ पर कृष्ण खैरीयत से पहुँचा।
तुम इसका हाल भी चट हमको लिखना॥
कोई था माधवी के याँ से आया।
य भी दर्याफ़्त कर इर्क़ाम करना[1]॥
मँगाना चाहिए चन्द्रावली कल।
बिरज, बी०, दास के ह्याँ से मुबद्दल॥

हरिश्चन्द्र

७—भारतेन्दु जी का राजा शिवप्रसाद को लिखा गया पत्र

श्रीयुत राजा शिवप्रसाद साहब, सी० एस० आई० को मैंने एक बेर एक रुक्का लिखा था। (उन्होंने अपना फोटोग्राफ देने को कहा था वह माँगने के हेतु)

इसी शैर के मुताबिक जवाब दीजिएगा।

कमाल शौके मुलाकात उसने लिक्खा है।
चलूं मैं आप ही कासिद जवाब के बदले॥

उन्होंने लिफाफे में अपना फोटोग्राफ रख दिया और मेरे रुक्के को यों काट दिया।

इसी शैर के मुताबिक जवाब दीजिएगा, दिया है,

कमाल शौके मुलाकात उसने लिक्खा है।
चला मैं आप ही कासिद जवाब के बदले॥

८—विष्णुलाल मोहनलाल पंड्या जी को यह पत्र उदयपुर पहुँचने के पहले लिखा गया था

श्री चरण युगल सरसीरुहेषु निवेदनम्।
कह्यो बृत्त सब आजु को, पंड्या जू समझाय।
जल प्रयान सह श्री चरन, दरसन हेतु उपाय॥१॥
कवि स्यामल-स्यामल करत, कच स्यामल उद्यान।
मोहन राजसभा रहे, काज करन के ध्यान॥२॥
मैं बिनु तिनके श्रीसभा, ह्वै इकलो हत ज्ञान।
संकित हौ रहिहौं सतत, सब बिधि इतहि अजान॥३॥

---

[1] लिखना।

तासों उचित बिचारि जौ, आयसु दीजै जोह।
मोहन मोहिं न छाड़हीं, पद जोहन लौं मोह॥४॥

९—बा० रामदीनसिंह को यह पत्र लिखा था

प्रियवरेषु

अब की बकरीद में भारतवर्ष के प्रायः अनेक नगरों में मुसलमानों ने प्रकाश रूप जो गोबध किया है उससे हिन्दुओं की सब प्रकार से मानहानि हुई है वह अकथनीय है। पालसी-परतन्त्र गवर्नमेन्ट पर हिन्दुओं का अकिंचित्करता और मुसलमानों की उग्रता भलीभाँति विदित है। यही कारण है कि जान बूझ कर भी वह कुछ नहीं बोलती, किन्तु हम लोगों को जो भारतवर्ष में हिन्दुओं के ही वीर्य्य से उत्पन्न हैं ऐसे अवसर पर गवर्नमेन्ट के कान खोलने का उपाय अवश्य करणीय है। इस हेतु आप से इस पत्र द्वारा निवेदन है कि जहाँ तक हो सके इस विषय में प्रयत्न कीजिए। भागलपुर, मिर्जापुर, काशी इत्यादि कई स्थानों में प्रकाश्यरूप में केवल हमारा जी दुःखाने के हाँका ठोकी यह अत्याचार हुआ है जो किसी समाचार पत्र में प्रकाश भी हुआ है। आप भी अपने पत्र में इस विषय का भलीभाँति आन्दोलन कीजिएगा। सब पत्र एक साथ कोलाहल करेंगे तब काम चलेगा। हिन्दी, उर्दू, बंगाली, मराठी, अँग्रेजी सब भाषा के पत्रों में जिनके संपादक हिन्दू हों एक बेर बड़े धूम से इसका आन्दोलन होना अवश्य है, आशा है कि अपने शक्य भर आप इस विषय में कोई बात उठा न रक्खेंगे। भवदीय

हरिश्चन्द्र

१०—पं० लोकनाथ जी का पत्र

श्री ब्रजराज समाज कौ, तुम सुन्दर सिरताज।
दीजै टिकट नेवाज करि, नाथ हाथ हित काज॥

चतुर्वेद्युपाह्वय श्री लोकनाथशर्म्मणो विज्ञप्ति पत्रमेतत्॥

शुभम्

२२ जनवरी स० १८७४

११—श्री शालिग्रामदास जी का पत्र

श्री जानकीजानिर्जयति

श्री तदीय समाजसभापतिसभासदसमुदायेषु समुचित सम्मान पुरस्सर निवेदनमिदम्। परम पवित्र हृदयाह्लाददायक पत्र देखि महामहोत्साह प्रकट भया।

आप लोगों के धन्यवाद देने में असमर्थ हूँ। यदि सहस्त्र मुख होता तो कुछेक धन्यवाद दे सक्ता। धन्य वह करुणा-वरुणायतन परमेश्वर है कि मेरे मनोभिलाष को परिपूर्ण किया है। महाशय! बहुत दिन से उत्कंठा थी कि कोई ऐसा अनन्य भक्त होवै। प्रभु के अनन्य पद्धति को शोधन करि अनन्त जीवों की व्यथा विध्वंस करै। इसी चिन्ता में मग्न था कि दो मास हुए एक हमारे परम मित्र अनन्योपासक श्री युक्त जवाहिर लाल जी ने अत्युद्योग से सभा बनाने में नियुक्त भये और शीघ्र ही सकल श्री वैष्णव महाशयों को एकत्र किया। तब मैंने सब महानुभावों से विज्ञापन किया कि हम लोगों को योग्य है कि श्रीमन्नारायण का संकीर्तन स्मरण सतत किया करें और प्रति सप्ताह में एक दिन एकत्र होके गोष्ठी किया करें। इस सलाह को सब महानुभावों ने सोत्साह स्वीकार किया और उक्त महाशय को अत्यन्त धन्यवाद दिया तिसी समय यह नियत भया कि प्रति गुरुवार को सात बजे से प्रारम्भ हो नव बजे तक यह सभा लगा करैगी। निरंतर श्रीमन्नारायण की अनुवृति किया करैंगे। और श्रीवैष्णव सभा इसका नाम धरा गया तब से प्रति गुरुवार को यह सभा लगा करती है। और श्री महाराज रत्नहरिदास महानुभाव इस सभा के सभापति हैं तथा श्री संप्रदाय के विविध ग्रंथों की इसमें चर्चा हुआ करती है। अब आपका परमोत्साह संपादक पत्र पाय के अत्युल्लास प्राप्त भया। और अब आनन्दवन का काशी नाम सार्थक प्रतीत हुवा और यह भी निश्चित किया कि अब तक तो रस बिगड़ा था परंच अब बनारस नाम भी वाराणसी का अन्वर्थक भया। तथा अब से तदीय समाज की वृद्धि परमेश्वर से याचना किया करैंगे और आप कृपा करि निज डोर से तदीय समाज में जो प्रश्न वा उत्तर वा सिद्धान्त हुआ करै सो अवश्यमेव भेजि के इस शाखा को भी सिंचन किया करिये। क्योंकि आज कल के समय में अनन्त विघ्न विस्तरित हो रहे हैं प्रतिदिन सिंचन से सदा हरित बना रहैगा और दुर्जन अजा भी आश्रित हो जाँयगे। इत्यलम्बहुना

संवत् १९३० पौष शुक्ल १३

विज्ञवरेषु
शालिग्राम दास
श्री वैष्णव सभा कार्य्य साधक
अमृतसर

परिशिष्ट—आ

भारतेन्दु के विषय में कुछ सम्मतियाँ

[श्रीयुत पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के तृतीय साहित्य-सम्मेलन के भाषण से उद्धृत]

एक दिन मैं अपने अभिन्न-हृदय माननीय मित्र भारतेन्दु से कह उठा कि मैंने सब की लिखी हिन्दी पढ़ी, परन्तु जो स्वाद मुझे राजा साहिब की लिखावट में मिलता है, दूसरों की में कदापि नहीं। वह मुसकुरा कर बोले, कि "क्या कहें, वैसी लच्छेदार इबारत कोई लिखी नहीं सकता, पसन्द कैसे आवै ? सचमुच उनके कलम में जादू का असर है।" अवश्य ही वह सरल उर्दू शब्दों के मेल को बुरा नहीं समझते थे और अप्रचलित संस्कृत शब्दों के भरने के विरोधी थे। वह केवल ठेठ बोल-चाल की हिन्दी के पक्षपाती थे। एक दिन भारतेन्दु के साथ मैं उनके घर पर गया, तो और बातों के साथ हिन्दी लिखावट की बात चली, तो कहा कि "आप लोग क्या पाणिनि का जमाना लाना चाहते हैं ? इबारत वही अच्छी कही जायगी कि जो आम फहम और खास पसन्द हो।" बाबू साहब ने कहा कि "हुजूर क्या किया जाय, अरबी फारसी के अलफाज के मेल से तो उर्दू हिन्दी में कुछ भेद नहीं रह जाता।" कहा कि "भेद तो दर अस्ल हुई नहीं है, लोग दोनों तरफ से खींच तान करके भेद बढ़ा रहे हैं।"

पिछले दिनों राजा साहेब अपनी भाषा में उर्दूपन अधिक ला चले थे, जिसके कारण शायद उनके अफसर डाइरेक्टर शिक्षाविभाग हुए हों, अथवा सर्कारी कचहरियों में उर्दू के स्थान पर हिन्दी के प्रचार के अर्थ बहुत उद्योग करके भी हताश हो, कदाचित् उन्होंने यह सिद्धान्त कर लिया था कि, अब हिन्दी को ही उर्दू बना चलो। क्योंकि राजभाषा से प्रजा को परिचित करना अति ही आवश्यक है। जो हो, उन्होंने पाठ्य-पुस्तकों में अपनी भाषा की शैली बदल दी। तृतीय भाग इतिहास तिमिरनाशक के अन्त की भाषा खरी, वरञ्च उच्च कोटि की उर्दू कही जा सकती है, जिसे कम लियाकत के मुदर्रिस तो प्राय: समझ भी नहीं सकते, पढ़ाते क्या ? वैसा ही उन्होंने अपनी भाषा के लिए एक व्याकरण भी बनाया,

जिसमें फारसी और अरबी के नियम और गर्दान लिखकर अवश्य ही हमारी भाषा में एक अच्छी वस्तु छोड़ गए, पर उस काम के लिए उपयुक्त नहीं, जिसके लिए उनका श्रम था। यह तो अनहोनी बात थी कि दूसरे वर्णों द्वारा दूसरी-दूसरी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान हो सके। कविवचनसुधा में बहुत दिनों तक उसकी समालोचना हुई थी। फजीहत राय के नाम से बाबू हरिश्चन्द्र लिखते थे। उस लेखमाला का एक शीर्षक ही था कि— 'भला यह व्याकरण पढ़ावेगा कौन ?"

हमारी गवर्नमेन्ट यह चाहती है कि एक ही भाषा दो भिन्न भिन्न अक्षरों में लिखी जाय, परन्तु यह कब सम्भव है। परिणाम यह होता है कि हिन्दी उर्दू बनती जाती है। क्योंकि फारसी अक्षरों में हिन्दी के शब्द तो पढ़े ही नहीं जाते, इसी से हिन्दी का गला घोंटा जाता है। निदान जब तक सर्कार इस भूल को न सुधारेगी प्रजा की दशा न सुधरेगी और न हमारी भाषा का उद्धार होगा।

बाबू हरिश्चन्द्र आरम्भ में उन्हीं के अनुकरणकर्ता हुए। वे राजा साहिब को अपना गुरु मानते थे। कुछ दिनों दोनों की भाषाएँ एक सी थीं। परन्तु पीछे दोनों की शैलियाँ भिन्न-भिन्न हो गयीं। वे विदेशी शब्दों पर झुके और ये स्वदेशी पर। वे कदाचित् गवर्नमेन्ट की इच्छा से लाचार थे, क्योंकि तब से आज तक पाठ्य-पुस्तकों की भाषा उर्दू मिली ही देखी गई। बहुतेरों ने इधर नई-नई पुस्तकें लिखीं, परन्तु भाषा उनकी निरी उर्दू ही है। यों ही लेख भी सर्वथा सूखे और निर्जीव से थे जिनमें राजा साहिब की उर्दू मिली भाषा की शतांश भी रोचकता और पुष्टता नहीं। कुछ अन्य लोग भी इसी भ्रम में पड़कर अपनी भाषा में उर्दूपन ला चले। कदाचित् उन्होंने समझा कि, फारसी अरबी शब्द भर देने से ही इबारत दिलचस्प हो जायगी। परन्तु सिर्फ इसी बात से उस नबात को मिठास कब आ सकती थी।

अस्तु, राजा साहिब केवल पाठ्य-पुस्तकों को ही लिख गए और केवल अच्छा गद्य ही लिख सकते थे, परन्तु बाबू हरिश्चन्द्र ने साहित्य का कोई भाग ही अछूता न छोड़ा और सब में अपनी समान योग्यता दिखला कर सभी रुचि के लोगों के मन में स्थान किया। न स्वयं उन्होंने ही लिखा, परन्तु औरों से भी लिखवाया एवं लोगों में लिखने पढ़ने की रुचि फैलाई। लिखने में वे स्वयं इतने अभ्यस्त और सिद्धहस्त थे कि, यदि यह कहें कि, यावज्जीवन उनकी लेखनी चलती ही रही, तौ भी अयुक्त न होगा। वास्तव में वह सदैव लिखने ही पढ़ने में व्यस्त रहते थे, और विचित्रता तो यह कि सैकड़ों मनुष्यों में बैठे भाँति-भाँति का गप्पाष्टक होता, तौ भी उनकी लेखनी चली ही जाती थी। इसीसे वे इतनी थोड़ी अवस्था में

इतने ग्रंथ लिख सके। चार सामयिक पत्रों का सम्पादन भी करते थे, अर्थात् कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन वा हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, बालाबोधनी (जो बरस ही ६ महीने चली) और भगवद्भक्ति तोषिणी (यह दोई चार संख्या छप सकी) सब में प्रधान कविवचनसुधा थी, जो प्रथम मासिक, फिर साप्ताहिक हुई और जो उनकी ख्याति की प्रधान सामग्री थी। उससे आगे नागरी में दो एक पत्र और भी छपते थे, परन्तु वह गिनती के योग्य नहीं थे। अतः प्रथम पत्र यही कहा जा सकता है। पहले उसमें केवल कवित्तों का संग्रह, फिर काल के सब प्रकार के ग्रंथ, फिर समाचार आदि छपने लगे। उस समय जितने अच्छे लेखक थे सभी उसमें लिखते थे, जिनमें से कई पीछे से पत्र सम्पादक हो गए और अपने-अपने नए पत्र निकाल चले।

बाबू हरिश्चन्द्र न केवल अनेक प्रकार के गद्य ही लिख सकते थे, किन्तु कविता भी सभी चाल की करते थे। उनके पिता उनसे भी अच्छे कवि थे, किन्तु केवल पुरानी चाल की ब्रजभाषा के ही। उनके रचित ४० ग्रंथ हैं, जिनमें उनकी प्रौढ़ कवित्वशक्ति का परिचय मिलता है। बाबू हरिश्चन्द्र सभी कुछ लिख सकते थे। परन्तु समाचार पत्र सम्पादक वैसा कोई फिर आज तक न हो सका। हँसी दिल्लगी के मजमून तो वह ऐसा लिखते थे; कि जैसा कुछ। उन्होंने हमारी भाषा में सामयिक लेख और कविता की चाल चलाई, स्वदेशानुराग उत्पन्न किया और जातीयता का बीजारोपण किया, इस अंश में वे सर्वथा अनूठे हुए।

राजा साहिब यदि कनसर्वेटिव थे, तो बाबू साहिब लिबरला। वे यदि सदैव राजा के पक्षपाती थे तो ये प्रजा के। वे यदि अपनी उन्नति को प्रधान समझते, तो ये देश और जाति की उन्नति को। इसी से उनसे और इनसे क्रमशः वैमनस्य भी बढ़ा। उन्होंने इनकी वृद्धि में बड़ी हानि की और इन्होंने उन्हें देश की आँखों से गिरा दिया। अन्त तक इन दोनों का बैर बढ़ता ही गया और मेल न हुआ।

जो हो, ये दोनों काशीवासी गुरु और चेले हमारे समान सम्मान के भाजन है, क्योंकि हमारी वर्तमान भाषा के यही दो प्रधान संस्कारक वा परिपोषक हैं। इस देश रूपी खेत में जो हमारी भाषा का बीज छिप रहा था, उसे लल्लूलाल रूपी वर्षा ऋतु ने अँकुरित किया, तो शिवप्रसाद शरद ने उसे बेल बूटे का आकार दिया और हरिश्चन्द्र बसन्त ने उसमें फूल फल दिखलाये अथवा यों कहें कि लल्लूलाल उसके जन्मदाता तो राजा साहिब उसके पालनकर्ता है, क्योंकि उन्हीं ने उस भाषा को ऐसा रूप दिया कि जिससे वह उर्दू से टक्कर लेने में समथ हुई, जिसे पढ़कर लोग लेख का आनन्द पाने लगे और यह समझ सके कि उर्दू को

छोड़ हिन्दी में भी लेख लालित्य दिखलाया जा सकता है। बाबू साहिब मानों उसके शिक्षक थे कि, जो उसे अनेक गुणों से युक्त कर लोगों को दिखला सके, अथवा राजा साहिब की जगाई भूख को वह भाँति भाँति की सामग्री देकर वाचक वृन्द को तृप्त कर सके।

काशी हमारा सदा का विद्यापीठ है। वहाँ से यदि संस्कृत की धारा बहती थी, तो उसकी बच्ची हमारी भाषा की सोती का भी वहाँ से निकलना परम स्वाभाविक है। भारतेन्दु के अस्त होने पर जो वहाँ काशी नागरी प्रचारिणी सभा खुली, मानों वह आज भी उनकी प्रतिनिधि बनी बहुत कुछ उनके किये की लाज रख रही है। उसने कई काम ऐसे किये कि, जो हमारी भाषा के हितैषियों के धैर्य के हेतु है। विशेषत: पृथ्वीराज रासो का प्रकाशित करना, हिन्दी कोष का निर्माण, प्राचीन भाषा ग्रंथों की खोज और उनमें कुछ का उद्धार करना। सम्मेलन-स्थापन का सुयश भी उसी को मिला और यह भी उसके बड़े कामों में है। आज ईश्वर की कृपा से यह जिसका तृतीय अधिवेशन है, मानो काशी क्षेत्र से जो हमारी भाषा का नया अंकुर उगा था, वह क्रमश: इतना बड़ा वृक्ष हो गया कि जिसकी छाया आज भारत की सीमाओं तक पहुँची है। एक दिन वह था कि जब उसके एकमेव हितैषी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का किसी अंग्रेजी कवि के कथनानुसार—

जुगजुगात छोटे से तारे अचरज मोहि अहै तू क्या रे।
धरनी सों अति ऊपर ऐसे चमकत नभ में हीरक जैसे॥

काशी आकाश से कुछ प्रकाश फैल चला था कि, साथ ही उससे उसका अनुयायी भारतेन्दु भी उगा एवं अपनी द्वितीय की सूक्ष्म कला की मन्द ज्योत्स्ना उद्योग के संग साहित्य सुधा सिञ्चन में प्रवृत्त हुआ और हमारे नवीन भाषाशस्य को लहलहा चला, जिसका उद्योग पूर्ण सफलता को प्राप्त हो आज मानों द्वादशी की मयङ्कमरीचिमाला से भारत को उँजाला कर रहा है।

एलेन्स इण्डियन मेल, लंडन

(मार्च सन् १८८३ ई०)

'विजयिनी विजय वैजयंती' के विषय में लिखा गया है कि यह एक वीर रसात्मक काव्य है, जो लॉर्ड बेकन्सफील्ड की नीति का समर्थन करता है। यह बाबू हरिश्चन्द्र कृत है, जिनका नाम सभी को बहुत दिनों से अच्छी तरह विदित है और जो हिन्दी के कवियों में बड़े ही प्रसिद्ध हैं। जो लोग यह कहते फिरते हैं

कि भारतवासियों में सच्ची देशभक्ति नहीं है उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे इसका अवलोकन करें ।

माननीय आनरेरी मैजिस्ट्रेट और विजयानगरम् राज के सुपरिंटेंडेंट डाक्टर लाजरस साहब

बा० हरिश्चन्द्र के कहने पर उनके विषय में मैं अपनी सम्मति इस प्रकार देता हूँ कि कुछ वर्ष हुए कि मुझसे और उनसे परिचय हुआ था और तब से मैं बराबर उन्हें बड़े सम्मान और आदर की दृष्टि से इसलिये देखता आता हूँ क्योंकि उनमें सामाजिक तथा राजनैतिक बहुत से गुण हैं । इस नगर में मैं उनके साथ चार वर्ष तक ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट रहा था ।

यहाँ के गण्यमान रईस की हैसियत से इन्होंने सभी नागरिक कार्यों में योग दिया है जिसके लिये यह शिक्षा आदि के कारण बहुत ही योग्य हैं । बालकों के लिये इन्होंने बहुत दिन हुए एक स्कूल संस्थापित किया था, जिससे बहुत लाभ पहुँच रहा है । राजनैतिक लेखक की हैसियत से तथा उनके पारिवारिक और नागरिक जीवन से मैं सर्वदा विश्वास करता आया हूँ कि सच्चे और पूर्ण राजभक्त हैं । देशीय भाषाओं पर विस्तृत अधिकार रखते हुए और उच्च कोटि के कवि होते हुए यह अपनी रचना में हास्य रस का पुट अवश्य देते थे जिससे यह कभी-कभी व्यंग्यात्मक लेख लिख देते थे । दुर्भाग्य से ऐसे ही लेख से तत्कालीन हाकिम इन पर क्रुद्ध हो गया और यह कोप दृष्टि अब तक उन पर बनी रही । बनारस के प्रत्येक नगरवासी बा० हरिश्चन्द्र का सच्चा आदर करते हैं और वे सभी इस पर प्रसन्न होंगे यदि यह कोपदृष्टि हटा ली जाय सर्कार उन पर पुनः विश्वास कर ले ।

बनारस, १५ जुलाई १८८० ई०

ह० ई० जे० लाजरस, एम० डी०

मिस्टर एडविन ग्रीब्स

यह गद्य तथा पद्य दोनों ही के भारी लेखक थे और इनका एक भारी मंडल पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था । हिन्दी साहित्य के विकास पर इनका कितना प्रभाव पड़ा था और दोनों गद्य-पद्य के लेखक होने से उसके इतिहास में इनका ठीक कहाँ स्थान होगा, इसका ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है । इनके कुछ प्रशंसकों ने इनकी इतनी अधिक प्रशंसा की है कि कुछ लोगों के मस्तिष्क में ऐसा संशय उत्पन्न हो गया जिससे उनकी भारी योग्यताओं, कर्मशीलता तथा उत्साह

का और उनके हृदयस्थ कार्य की औदार्यपूर्ण सहायता का वे उचित रूप से आदर न कर सके जिसके वे पात्र थे। उनकी अपूर्व योग्यता तथा हिन्दी साहित्य की उन्नति के लिए जो कुछ इन्होंने किया है, ये इतने सत्य हैं कि उन पर कोई भी कुछ नहीं कह सकता, पर कुछ लोगों का यह कथन कि वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता थे, उसी प्रकार साबित नहीं किया जा सकता।

इनके ग्रंथों की संख्या—······। इतनी रचना अवश्य ही उस मनुष्य के लिए अभूतपूर्व है जिसने उसके लिये बहुत कम समय पाया था और यह उसके परिश्रम का द्योतक है। यह भी है कि उन्हें बहुत से सहायक भी प्राप्त थे। इनके लेखों के प्रति-लिपिकर्ताओं का कभी-कभी कड़े निरीक्षण तथा लिखाने से स्वातंत्र्य भी मिल जाता था। दूसरों में अपना उत्साह प्रतिष्ठित करने की इनकी शक्ति अद्भुत थी। यह बड़े ही सजीव पुरुष थे और अनेक मनुष्यों तथा अनेक कार्यों में उनका मन लगा रहता था। विद्वत्तापूर्ण कम, पर प्रतिभान्वित विशेष होने से उनकी प्रतिभा सहज ही में वह कार्य सम्पादन कर सकी थी जो बहुतेरे बहुत अधिक मनन तथा सतत परिश्रम करने पर भी न कर सकते।

मि० एफ० ई० की एम० ए०

पाश्चात्य संसर्ग ने हिन्दी कविता के विकास को प्रोत्साहित किया है और उसे रोका नहीं है, इसके सबूत में काशी के बा० हरिश्चन्द्र पेश किए जा सकते हैं, जो अधिकतर भारतेन्दु के नाम से पुकारे जाते हैं। इन्होंने बनारस के क्वीन्स कालेज में शिक्षा प्राप्त की था और कई शैलियों में सफलतापूर्वक बहुत-सी कविता लिखी है। इन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था से लिखना आरम्भ किया था और कुल मिलाकर एक सौ पचहत्तर पुस्तकें तैयार की थीं। इनमें अठारह नाटक भी सम्मिलित हैं और हरिश्चन्द्र ही वास्तव में भारत के वर्तमान नाटक के संस्थापक थे। इन नाटकों में इनकी कुछ सर्वोत्तम रचाएँ भी हैं और इनसे इनकी भारत की उन्नति तथा उसके दिमागी स्वातंत्र्य के उत्कर्ष की उत्कट इच्छा प्रकट हो रही है।

हरिश्चन्द्र ने भिन्न-भिन्न कई विषयों पर लिखा है, जिनमें इतिहास, राजभक्ति, धार्मिकता तथा प्रेम प्रधान हैं। परिहासमय कविताएँ भी इन्होंने लिखा हैं। ऐतिहासिक रचनाओं में काश्मीर कुसुम और चरितावली है। दूसरे में भारतीय तथा यूरोपीय महान् व्यक्तियों की जीवनियाँ दी हुई हैं। नाटकों के बाद इनकी शृङ्गारिक कविताएँ बहुत उत्तम समझी जाती हैं। इनकी कविता में प्रेम तथा परिहास मुख्य हैं और जो सबलता से परिप्लुत हैं। हिन्दी साहित्य के बड़े-बड़े लेखकों में इनकी गणना होनी चाहिए। इनकी काव्य भाषा ब्रज-भाषा थी।

हरिश्चन्द्र ने हिंदी कविता के प्रति लोगों में प्रेम उत्पन्न करने में बहुत प्रयास किया था। इस कार्य के लिए इन्होंने एक मासिक पत्रिका हरिश्चन्द्रचन्द्रिका प्रकाशित किया जिसमें बहुत से प्राचीन ग्रंथ भी निकले थे।

इण्डियन मैगज़ीन

(जनवरी सन् १८८८ ई०)

'हरिश्चन्द्र से बढ़ कर अंग्रेजी राज्य का कोई दूसरा सच्चा शुभचिंतक नहीं था और मैं इस बात को उनके उन चिट्ठियों से अच्छी तरह जानता हूँ जिन्हें उन्होंने बहुत वर्षों तक बराबर मुझे लिखी थीं।' इस लेख में भारतेन्दु जी के ग्रंथों की समालोचना भी निकली है, जो विद्वान् लेखक के योग्य है।

सी० ई० बकलैंड सी० आई० ई०

'काशी के गोपालचन्द्र साहू के पुत्र थे........। यह वर्तमानकाल के सबसे अधिक विख्यात कवि हुए और अंतिम शताब्दि के सभी अन्य भारतीय सज्जनों से हिंदी साहित्य के प्रचार के लिए इन्होंने अधिक प्रयास किया था।...कई वर्षों तक इन्होंने हरिश्चन्द्रचन्द्रिका नामक एक अति उत्तम पत्रिका प्रकाशित की थी। सन् १८८० ई० में इन्हें देश के सभी पत्र-सम्पादकों ने एकमत होकर भारतेन्दु की पदवी दी थी, और सत्यतः उत्तरी भारत में अब तक यह सर्वश्रेष्ठ समालोचक हो गए हैं।'

सर जॉर्ज ए० ग्रिअर्सन, के० सी० एस० आई०, डी० लिट० आदि

'वर्तमान काल के भारतीय कवियों में यह सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। देशीय साहित्य के प्रकार में इन्होंने जो प्रयास किया है, उससे बढ़कर किसी भी जीवित भारतीय ने नहीं किया है। इन्होंने कई शैलियों में बहुत-सी रचनाएँ की हैं और सभी में यह बढ़ गए हैं।'

देशीय भाषाओं के पत्रों की सरकारी रिपोर्ट

'कविवचनसुधा' हिन्दी भाषा का प्रसिद्ध और सर्वजनप्रिय पत्र है। उसकी भाषा शुद्ध और आदर्श होती है। उसके विषय उत्तम और मनोरंजक होते हैं जो उसके योग्य तथा विद्वान् सम्पादक के प्रयास का फल है। उसके सम्पादक देशी भाषाओं के पंडित ही नहीं हैं किन्तु एक असाधारण कवि हैं।'

गार्सि द तासी

'कविवचनसुधा' अपने नाम के अनुसार बराबर हिन्दी के प्राचीन ग्रंथों को

प्रकाशित करता रहता है। यह हिन्दी तथा उर्दू के अन्य पत्रिकाओं से भिन्न अपनी विशेषता रखता है और इसलिए विख्यात है। इसके सम्पादक बा० हरिश्चन्द्र हैं।'

श्रीयुत् कालीकुमार मुखोपाध्याय, एम०ए०

हरिश्चन्द्र का हाल भी प्रतिभाशाली पुरुषव्याघ्रों के नियमानुसार हुआ। माता-पिता के मर जाने से ऐसे विलक्षण लड़के के हक़ में अच्छा हुआ।

साहित्य के जितने अंग हैं, लगभग सभी अंगों पर भारतेन्दु की छाया पड़ी, परन्तु मुख्य तीन विषयों पर तो इनकी छाप या मोहर ही लग गई है। प्रथम—हिन्दी गद्यशैली निर्वाचन और उसका संस्करण; द्वितीय—हिन्दी नाटक का आविष्करण और सामयिक प्रोत्साहन; तृतीय—हिन्दी भाषा की कवित्व शक्ति का प्रदर्शन और अपने सिद्धहस्त का निदर्शन।

भारतेन्दु की कविता में मानसिक उड़ान के साथ-साथ चित्र-चित्रण भी होता चलता है, बल्कि चित्रकारी में भी आप सिद्धहस्त हैं। रंगबिरंग के चित्रपट आप बात की बात में सामने खींच सकते हैं। इनके शब्द मानों भिन्न-भिन्न रंगों में शराबोर हैं जहाँ जैसी छबि उतारनी है, ठीक उसी के अनुयायी उचित शब्दों को चुन-चुन कर बिठा देते हैं और तुरंत मालूम पड़ता है कि घटना मूर्तिमती है।

काशी में गंगाजी का जो वर्णन भारतेन्दु ने किया है, वह लाजवाब है।··· भारतेन्दु से बढ़कर भाव-विशद वर्णन होना कठिन है। वर्णन स्वाभाविकता से भरा है, सत्य और प्राकृतिक है। इस स्वाभाविक Realistic वर्णन में भारतेन्दु अंग्रेजी कवि स्कॉट की शैली का अनुकरण करते हैं।

परिशिष्ट—इ

भारतेन्दु जी की रचनाओं की सूची

हरिश्चन्द्रकला, खड्गविलास प्रेस द्वारा प्रकाशित

प्रथम-खंड (नाटक)

१—नाटक (गद्य)
२—सत्य हरिश्चन्द्र (मौलिक)
३—मुद्राराक्षस (अनुवाद)
४—धनंजय विजय (अनुवाद)
५—कर्पूरमञ्जरी (अनुवाद)
६—चंद्रावली (मौलिक)
७—विद्यासुन्दर (अनुवाद ?)
८—भारत जननी (अनुवाद)
९—भारत दुर्दशा (मौलिक)
१०—पाषंड विडंबन (अनुवाद)
११—नीलदेवी (मौलिक)
१२—अंधेरनगरी (मौलिक)
१३—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (मौलिक)
१४—विषस्य विषमौषधम् (मौलिक)
१५—दुर्लभ बंधु (अनुवाद, अपूर्ण)
१६—सती प्रताप (अपूर्ण, मौलिक)
१७—रत्नावली नाटिका (अनुवाद, अपूर्ण प्राप्त)
१८—प्रेमयोगिनी (अपूर्ण)

द्वितीय-खड (इतिहास)

१—काश्मीर कुसुम
२—महाराष्ट्र देश का इतिहास
३—बूँदी का राजवंश
४—रामायण का समय
५—अग्रवालों की उत्पत्ति
६—खत्रियों की उत्पत्ति
७—बादशाह दर्पण
८—उदयपुरोदय अर्थात् मेवाड़ का पुरावृत्त संग्रह
९—पुरावृत्त संग्रह
१०—चरितावली
११—पंचपवित्रात्मा
१२—दिल्लीदरबार दर्पण
१३—काल चक्र

तृतीय-खंड (राजभक्ति)

१—विजयिनी-विजय-वैजयंती
२—भारत-वीरत्व
३—भारत-भिक्षा
४—विजय वल्लरी
५—मुँह दिखावनी
६—श्रीरिपनाष्टक
७—श्रीराजकुमार स्वागत पत्र
८—मनोमुकुल माला
९—मानसोपायन
१०—सुमनोञ्जलि
११—जातीय संगीत
१२—प्रिंस ऑव वेल्स के पीड़ित होने पर कविता

चतुर्थ खंड (भक्ति रहस्य)

१—भक्त सर्वस्व

२—वैष्णव सर्वस्व
३—वल्लभीय सर्वस्व
४—युगुल सर्वस्व
५—तदीय सर्वस्व
६—भक्तिसूत्र वैजयंती
७—सर्वोत्तमस्तोत्र भाषा
८—उत्तरार्ध भक्तमाल
९—उत्सवावली
१०—वैष्णवता और भारतवर्ष
११—अष्टादशपुराणोपक्रमणिका
१२—वैशाख माहात्म्य
१३—कार्तिक कर्मविधि
१४—कार्तिक नैमित्तिक कृत्य
१५—मार्गशीर्ष महिमा
१६—माघस्नान विधि
१७—पुरुषोत्तम मास विधान
१८—पुरुषोत्तम पंचक
१९—कार्तिक स्नान
२०—गीतगोविंदानंद

पंचम-खंड (काव्य ग्रन्थ)

१—होली
२—मधुमुकुल
३—प्रेमफुलवारी
४—फूलों का गुच्छा
५—विनय प्रेम पचासा
६—नए जमाने की मुकरी
७—प्रेम प्रलाप
८—देवी छद्मलीला
९—प्रात:स्मरणीय मंगलपाठ
१०—भीष्मस्तवराज
११—श्रीनाथस्तुति
१२—अपवर्ग पंचक
१३—श्रीसीतावल्लभस्तोत्र
१४—प्रेमाश्रुवर्षण
१५—वर्षा विनोद
१६—प्रेममाधुरी
१७—सतसई सिंगार
१८—जैनकुतूहल
१९—प्रेममालिका
२०—वेणुगीत
२१—प्रेमतरंग
२२—रागसंग्रह
२३—प्रात:स्मरणस्तोत्र
२४—स्वरूपचिंतन
२५—प्रेमसरोवर
२६—प्रबोधिनी
२७—प्रात:समीरन
२८—कृष्णचरित

षष्ठ-खंड—इसमें भारतेन्दुजी की रचनाएँ कम तथा अन्य लोगों के संग्रहादि अधिक संकलित हैं, अतः इसकी तालिका न देकर प्रथम पाँच खंड के सिवा बाबू साहब की अन्य सभी रचनाओं की अब सूची दी जाती है।

१—नवमल्लिका नाटक (अपूर्ण, अप्रकाशित)
२—मृच्छकटिक (अपूर्ण, अप्राप्य, अप्रकाशित)
३—रामलीला (मिश्रकाव्य)
४—हमीर हठ (अपूर्ण, अप्रकाशित गद्य)

५—राज सिंह (अपूर्ण, गद्य)
६—एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती (अपूर्ण)
७—सुलोचना (आख्यान)
८—मदालसा उपाख्यान (आख्यान)
९—शीलवती (आख्यान)
१०—सावित्री चरित (आख्यान)
११—मानलीला (कविता)
१२—दानलीला (कविता)
१३—विनोदिनी (बंगला)
१४—उलहना
१५—तन्मयलीला
१६—चित्रकाव्य
१७—श्रुतिरहस्य
१८—नारदसूत्र
१९—कुरान का अनुवाद
२०—प्रेम सूत्र (अपूर्ण)
२१—चतुःश्लोकी
२२—पाँचवाँ पैगम्बर
२३—स्वर्ग में विचार सभा
२४—बंदरसभा (अपूर्ण)
२५—श्रावणकृत्य
२६—परिहासिनी
२७—सीतावट निर्णय
२८—हिन्दी भाषा
२९—संगीतसार
३०—कृष्णपाक
३१—तहकीक़ात पुरी की तहकीक़ात
३२—प्रशस्ति संग्रह

इनके सिवा इनके लेख, निबंध, यात्रा-विवरण आदि सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में बंद पड़े हैं, जिनके छोटे-छोटे संग्रह अत्यंत मनोरंजक होंगे। उनकी सूची यहाँ देना अनावश्यक होगा।

परिशिष्ट—ई

सहायक पुस्तकों तथा पत्रों की सूची

१—भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र का जीवन चरित—श्री बा० राधाकृष्ण दास
२—भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र का जीवन चरित—श्री बा० शिवनंदन सहाय
३—जालिया क्लाइव (हिन्दी अनुवाद)—पं० पारसनाथ त्रिपाठी
४—सिराजुद्दौला (हिन्दी अनुवाद)
५—हरिश्चन्द्रकला ६ खंड —खड्गविलास प्रेस द्वारा प्रकाशित
६—भारतेन्दु नाटकावली —सं० रायबहादुर बा० श्याम सुन्दरदास
७—हिन्दी साहित्य का इतिहास —श्रीयुत पं० रामचन्द्र शुक्ल
८—जरासंधवध महाकाव्य —श्री बा० गोपालचन्द्र कृत और ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित
९—बा० राधाकृष्णदास की जीवनी —श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल
१०—ग्रंथ हृदय श्री दामोदर शास्त्री
११—चंद्रास्त श्री रमाशंकर व्यास
१२—रामकहानी —महा० पं० सुधाकर द्विवेदी
१३—नवरत्न —मिश्रबंधु-त्रय
१४—भंग दरभंग
१५—शोकावली
१६—मिश्रबंधुविनोद, तीन भाग
१७—बिहारी-विहार —पं० अंबिकादत्त व्यास
१८—राधाकृष्ण ग्रंथावली, पहला खंड
१९—तृतीय अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन की रिपोर्ट
२०—राजदर्पण

बंगला

१—सिराजुद्दौला —बा० अक्षयकुमार मैत्र
२—कलिकाता से कालेर और एकालेर —बा० हरिसाधन मुखोपाध्याय

३—नदिया काहिनी —श्री कुमुदनाथ मल्लिक
४—साहित्य संहिता, खंड १ और ३

फारसी

१—रियजुस्सलातीन —मौ० गुलामहुसेन 'सलीम'
२—मिरातुस्सलातीन या सैरुल्मुताखिरीन
३—मआसिरुल् उमरा —नवाब शाहनवाजखाँ

अंग्रेजी

१—एसे आन क्लाइव —लार्ड मैकौले
२—दि ब्लैकहोल ऑव कैलकटा —मि० राबर्ट ओर्म
३—ए कौम्प्रिहेंसिव हिस्ट्री ऑव इंडिया, जि० १—एडवोकेट बेवरिज
४—दि हिस्ट्री ऑव इंडिया —मि० जेम्स ग्रांट
५—हिस्ट्री ऑव इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, जि० ८ —इलिअट एण्ड डाउसन

पत्र-पत्रिका

१—श्री हरिश्चन्द्र मैगजीन, २—श्री हरिश्चन्द्रचन्द्रिका, ३—कवि वचनसुधा, ४—बालाबोधिनी; ५—श्री हरिश्चन्द्रचन्द्रिका और मोहनचन्द्रिका, ६—बनारस अखबार, ७—सुधाकर; ८—नवोदिता हरिश्चन्द्रचन्द्रिका, ९—हिन्दी-प्रदीप, १०—सरस्वती (प्रथम वर्ष); ११—मर्यादा।

अनुक्रम

स

ह

भारतेन्दु जी

भारतेन्दु जी (कैशोरावस्था)

भारतेन्दु जी (यौवनावस्था)

भारतेन्दु जी
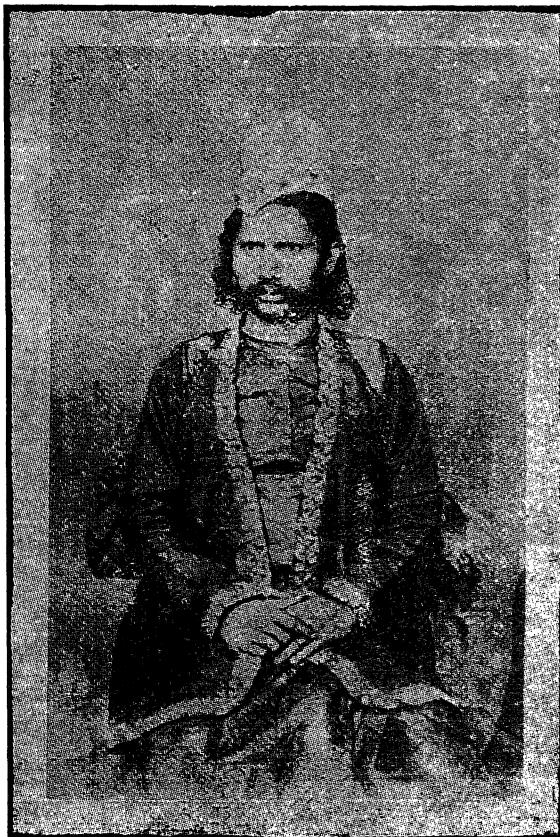
भारतेन्दु जी (प्रौढ़ावस्था)
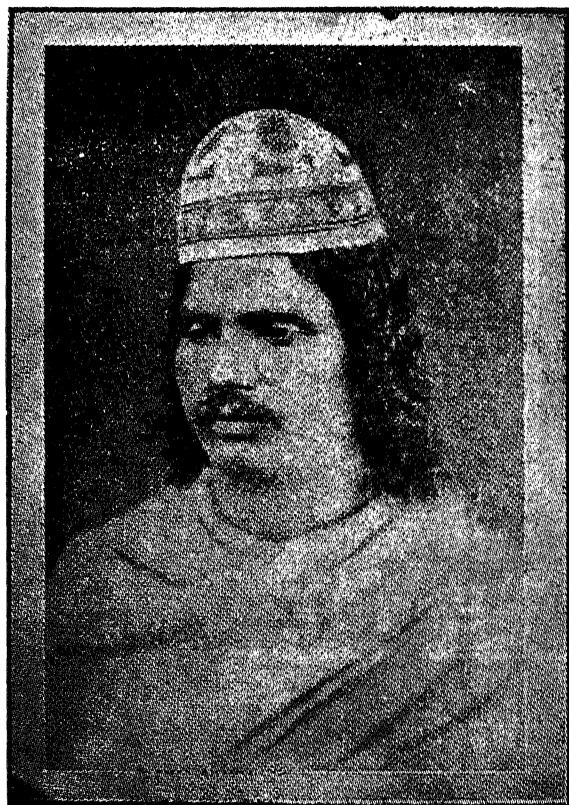
भारतेन्दु जी (प्रौढ़ावस्था)

स्वर्गीय बा० गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदास

भारतेन्दु जी

वाद्य-यंत्रों के साथ भारतेन्दु जी

भारतेन्दु जी (रामकटोरा बाग में)

स्वर्गीय बा० बलदेवदास तथा उनके पाँचों पुत्र

भारतेन्दु जी का दायाँ हाथ

EAST INDIA POST CARD

THE ADDRESS ONLY TO BE WRITTEN ON THIS SIDE

Sri Radha Churan ji Goswami
Sri Radha Raman ji Ka ghera
Sri Brindaban

गोस्वामी राधाचरण जी को भारतेन्दु जी का पत्र
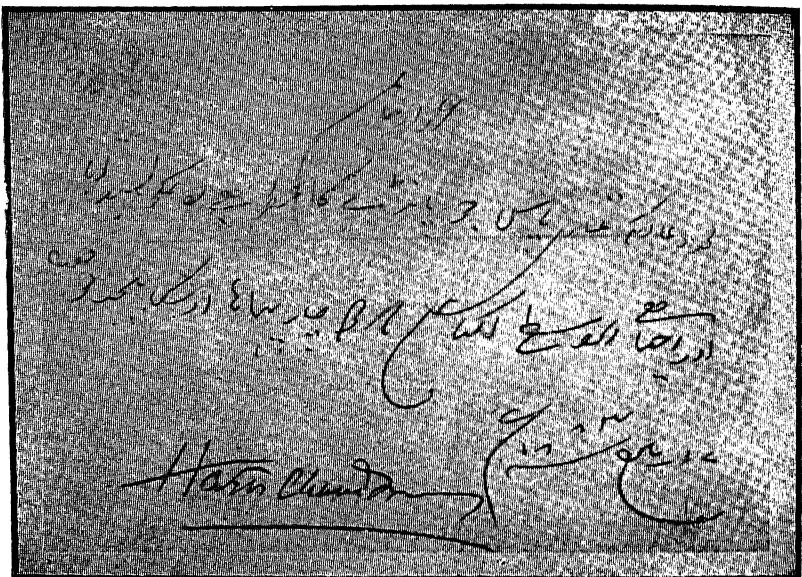
भारतेन्दु जी का उर्दू तथा अंग्रेजी हस्ताक्षर

भारतेन्दु जी (मौलवी स्टाइल)

उद्यान में भारतेन्दु जी